गंगा-पुस्तकमाला का तेंतीसवाँ पुष्प

विश्व-साहित्य

[आलोचना]

लेखक
पदुमलाल-पुन्नालाल बख़्शी बी० ए०
(भूतपूर्व सरस्वती-संपादक)

——:o:——

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
२६, लाटूश रोड
लखनऊ

द्वितीयावृत्ति

सजिल्द २)] सं० १९९७ वि० [सादी १॥)

संपादकीय वक्तव्य
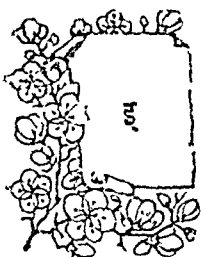
इस समय हिंदी-भाषा का साहित्य द्रुत गति से बढ़ रहा है। लेखकों की संख्या भी कुछ कम नहीं। प्रकाशक भी अब अधिक होते जाते हैं। लेखकों को धन की प्राप्ति भी होती है। किंतु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि हिंदी-साहित्य का गौरव बढ़ानेवाले, हिंदी-भाषी जनता को यथार्थ स्थायी लाभ पहुँचानेवाले, अपना कुछ मूल्य और महत्त्व रखनेवाले, देश-कालोपयोगी ग्रंथों की सृष्टि बहुत कम होती है। बहुदर्शी, परिश्रमी और क्षमताशाली लेखक भी अभी इने-गिने ही हैं। उपयोगिता को अपने आर्थिक लाभ से अधिक महत्त्व देनेवाले प्रकाशक भी कुछ ही निकलेंगे। हमारा मतलब इन पंक्तियों को लिखकर किसी पर आक्षेप करना नहीं, बल्कि वस्तु-स्थिति का दिग्दर्शन कराना है। आशा है, किसी को इन शब्दों से कुछ कष्ट न पहुँचेगा।

इस समय भारत को संगठन और प्रेम-प्रचार करने, संसार की सब जातियों से सौहार्द बढ़ाने, उनकी सहानुभूति एवं सहायता पाने की सबसे अधिक आवश्यकता है। हर्ष का विषय है, श्रीयुत कवींद्र रवींद्रनाथ ठाकुर-जैसे कुछ विश्ववरेण्य विद्वान् इसी ओर ध्यान देकर कार्य कर रहे हैं। आज विश्व-प्रेम, विश्व-साहित्य, विश्व-परिचय आदि शब्द भारतीयों के लिये कोई नई चीज़ नहीं हैं। स्थायी शांति और संसार की सर्वांगीण उन्नति के लिये विश्व-प्रेम के प्रचार की विशेष आवश्यकता है। उस विश्व-प्रेम के प्रचार

या प्रवर्तन का मुख्य साधन है ऐसे साहित्य का निर्माण, जिसे विश्व-साहित्य कहा जा सके।

पहले अमेरिका, योरप आदि में आने-जाने की कौन कहे, एक प्रांत से दूसरे प्रांत में जाना भी सहज न था। उस समय भारत के ही भिन्न-भिन्न स्थानों में रहनेवाले लोग आपस में मिल-जुलकर आचार-विचार का आदान-प्रदान न कर सकते थे। इसीलिये भिन्न-भिन्न स्थानों के लोगों ने भिन्न-भिन्न आचार-विचार की रचनाएँ कीं, और उनमें सार्वभौम की जगह प्रांतीयता का भाव ही कट्टर था। परंतु अब और ही स्थिति है। आज हम घर-बैठे अमेरिका और योरप के समाचार पढ़ते हैं, वहाँ की स्थिति का परिचय पाते हैं, वहाँ के साहित्य का अध्ययन करते हैं। फलतः इस समय 'विश्व-साहित्य' की ओर लेखकों और कवियों का ध्यान जाने लगा है।

हिंदी में इस विषय पर कोई पुस्तक न थी। हिंदी के लेखकों का भी ध्यान इधर कम देखा जाता है। स्वनामधन्य सरस्वती-पत्रिका के सुयोग्य संपादक श्रीपदुमलाल-पुन्नालालजी बख्शी बी० ए० महाशय ने ही पहले इधर ध्यान दिया। आप अर्से से इस संबंध में, सरस्वती में, लिखते आ रहे हैं। आपने इस विषय के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर भिन्न-भिन्न लेखकों के विचार और बीच-बीच में अपने भी विचार संगृहीत कर जो लेख-माला लिखी, वही आज हम 'विश्व-साहित्य' के नाम से प्रकाशित कर रहे हैं। इसमें आपने साहित्य का मूल, साहित्य का विकास, साहित्य का सम्मिलन, काव्य, विज्ञान, नाटक, कला आदि पर, सरल, सुंदर भाषा में, अपने और औरों के समयोपयोगी बहुमूल्य विचार प्रकट किए हैं। अपनी क़लम से इस पुस्तक और प्रणेता के विषय में अधिक प्रशंसा के वाक्य लिखना हमें उचित नहीं प्रतीत होता। फिर "नहि कस्तूरिकागन्धः

शपथेन विभाव्यते।"—कस्तूरी की गंध प्रमाणित करने के लिये क़सम खाने की ज़रूरत नहीं होती। पाठक पढ़कर स्वयं इसकी उत्तमता और उपयोगिता समझ सकेंगे। अतः अधिक न लिखकर हम इतनी ही प्रार्थना करेंगे कि अब हिंदी-संसार के लेखकों, प्रकाशकों, पाठकों और गुण-ग्राहक ग्राहकों को ऐसे ही सत्साहित्य की सृष्टि, प्रचार, पठन-पाठन और आदर करना चाहिए।

अंत में हम श्रीयुत बख़्शीजी को ऐसी पुस्तक लिखने के लिये साधुवाद और उसे हमारी माला में प्रकाशित कराने की कृपा के लिये धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझते हैं। आशा है, हिंदी के परम सेवक बख़्शीजी इसी प्रकार के साहित्य की सृष्टि को अपने जीवन का चरम उद्देश्य मानकर उत्तरोत्तर उदीयमान प्रतिभा और उत्साह का परिचय देते रहेंगे। उनके समान भावुक, विचारशील, विद्वान् लेखक से माता हिंदी को और हिंदी-प्रेमी संसार को बहुत कुछ आशा है। तथास्तु।

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ, सं० १९८१ } श्रीदुलारेलाल
(संपादक)

द्वितीयावृत्ति का वक्तव्य

यह पुस्तक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की उत्तमा-परीक्षा में कोर्स है। इधर हिंदी-संसार के विद्वानों में इसका मान भी यथेष्ट हुआ है, परंतु अरसिक हिंदी-भाषा-भाषियों ने इसे वैसा नहीं अपनाया, जैसा अपनाना चाहिए था। इसीलिये १६ वर्ष बाद इसका द्वितीय संस्करण हो रहा है। भाषा की अशुद्धियाँ जो यत्र-तत्र रह गई थीं, उन्हें इस द्वितीयावृत्ति में ठीक कर दिया है। और कोई परिवर्तन इसमें नहीं हुआ है।

कवि-कुटीर
श्रावण-शुक्ल ७, १९९७
(तुलसी-जयंती) } दुलारेलाल

विषय-सूची

विश्व-साहित्य

साहित्य का मूल

साहित्य का स्वरूप सदा परिवर्तित होता रहता है। भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न आदर्शों की सृष्टि होती है। मनुष्य-जीवन में हम जो वैचित्र्य और जटिलता देखते हैं, वही साहित्य में पाते हैं। साहित्य की गति सदैव उन्नति ही के पथ पर नहीं अग्रसर होती। मानव-समाज के साथ-साथ उसका भी उत्थान-पतन होता रहता है। परंतु इसका मतलब यह नहीं कि जब कोई जाति अवनत दशा में है, तब उसका साहित्य भी अनुन्नत हो। प्रायः देखा भी जाता है कि जाति के अधःपतित होने पर उसमें श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि होती है, और जब जाति गौरव के उच्च शिखर पर पहुँच जाती है, तब उसका साहित्य श्रीहत हो जाता है। किसी-किसी का शायद यह ख़याल है कि जब देश में शांति विराजमान होती है, तभी सत्साहित्य का निर्माण होता है। पर साहित्य के इतिहास में हम देखा करते हैं कि युद्ध-काल में भी जब एक जाति वैभव की आकांक्षा से उद्दीप्त होकर नर-शोणित के लिये लोलुप हो जाती है, तब उसमें दैवी-शक्ति-संपन्न कवि जन्म-ग्रहण करता है। अब प्रश्न यह होता है कि साहित्य के उद्भव का कारण क्या है? क्या कवि की उत्पत्ति आकाश में विद्युत् की भाँति एक आकस्मिक घटना है? क्या देश और समाज के प्रतिकूल साहित्य की सृष्टि होती है? क्या कवि देश और काल की अपेक्षा नहीं करता? अथवा, क्या देश और काल के अनुसार ही साहित्य की रचना होती है?

इसमें संदेह नहीं कि साहित्य में वैचित्र्य है। परंतु वैचित्र्य में भी साम्य है। नदी का स्रोत चाहे पर्वत पर बहे, चाहे समतल भूमि पर, उसकी धारा विच्छिन्न नहीं होती। साहित्य का स्रोत भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करके अविच्छिन्न ही बना रहता है। उदाहरण के लिये हम हिंदी-साहित्य ही की विचार-धारा पर एक बार ध्यान देते हैं। महाकवि चंद से लेकर आज तक जितने कवि हुए हैं, सभी ने एक ही आदर्श का अनुसरण नहीं किया। विचार-वैचित्र्य के अनुसार हिंदी-काव्यों के चार स्थूल विभाग किए जा सकते हैं। हिंदी साहित्य के आदि-काल में वीर-पूजा का भाव प्रधान था। उसके बाद अध्यात्म वाद की प्रधानता हुई। फिर भक्त कवि उत्पन्न हुए। तदनंतर शृंगार-रस की उत्कृष्ट कविताएँ निर्मित हुईं। यह सब होने पर भी हिंदी-साहित्य में हम एक विचार-धारा देख सकते हैं। बिहारी सूर नहीं हो सकते, और न सूर चंद हो सकते हैं। परंतु जिस भावना के उद्रेक से चंद कवि ने अपने महाकाव्य की रचना की, वह सूर और बिहारी की रचनाओं में विद्यमान है। वह है हिंदू जाति का अधःपतन। महाकवि चंद ने अपनी आँखों से हिंदू-साम्राज्य का विनाश देखा। उन्होंने अपनी गौरव रक्षा के लिये अपने काव्य का विशाल मंदिर खड़ा कर दिया। कबीर ने अपनी वचनावली में भारत की दशा का ही चित्र अंकित किया है। सूरदास के पदों में भी वही हाहाकार है। बिहारी के विलास-वर्णन में भी विषाद है। वसंत-ऋतु के अतीत गौरव का स्मरण कर उसी के पुनरुद्भव की आशा में उसका मन अटका रहा। भूषण के वीर रसात्मक काव्यों में भी हम शौर्य के स्थान में शस्त्रों की व्यर्थ झनकार ही सुनते हैं। पद्माकर ने निर्वाणोन्मुख दीप शिखा की भाँति हिम्मतबहादुर की गुणावली का गान किया है। कहाँ तक कहें, हिंदी के आधुनिक

कवियों की रचनाओं में भी हम दुर्भिक्ष-पीड़ित भारत का चीत्कार ही सुनते हैं। दासत्व-बंधन में जकड़े और विजेताओं द्वारा पद-दलित हिंदू-साहित्य में अन्य किसी भाव की प्रधानता हो भी कैसे सकती है? यदि हमारी विवेचना ठीक है, तो हम कह सकते हैं कि साहित्य का मुख्य विचार-स्रोत समाज का अनुगमन कर सकता है; परंतु समाज की हीनता पर साहित्य की हीनता नहीं अवलंबित है। अपनी हीनावस्था में भी हिंदू-जाति ने ऐसे कवि उत्पन्न किए हैं, जो किसी भी समृद्धिशाली जाति का गौरव बढ़ा सकते हैं। सूर, तुलसी और बिहारी ने शक्ति-हीन हिंदू-जाति में ही जन्म-ग्रहण किया था; परंतु उनकी रचनाएँ सदैव आदरणीय रहेंगी। सच तो यह है कि जब कोई जाति वैभव-संपन्न हो जाती है, तब उसके साहित्य का ह्रास होने लगता है। जान पड़ता है, पार्थिव वैभव से कविता-कला का कम संबंध है। जब तक देश उन्नतिशील है, तब तक उसमें साहित्य की उन्नति होती रहती है। जब वह अवनतिशील होता है, तब साहित्य की गति बदल जाती है। परंतु उसका वेग कम नहीं होता। वैभव की उन्नति से जब किसी जाति में स्थिरता आ जाती है, तभी साहित्य की अवनति होती है। यह नियम पृथ्वी की सभी जातियों के संबंध में, सभी कालों में, सत्य है। अब प्रश्न यह है कि ऐसा होता क्यों है? नीचे हम इसी प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करेंगे।

कितने ही विद्वानों का विश्वास है कि जब मनुष्य प्रकृति के सौंदर्य-विकास से मुग्ध हो जाता है, तब वह अपने मनो-भावों को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। इसी सौंदर्य-लिप्सा से साहित्य की सृष्टि होती है, और कला का विकास। परंतु इस सिद्धांत के विरुद्ध एक बात कही जा सकती है। जब मनुष्य

सभ्यता और ऐश्वर्य की चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब तो उसकी सौंदर्यानुभूति और सौंदर्योपभोग की शक्ति का ह्रास नहीं होता, उलटे उसकी वृद्धि ही होती है। तब, ऐसी अवस्था में, साहित्य और कला की ख़ूब उन्नति होनी चाहिए। परंतु फल विपरीत होता है। जाति के ऐश्वर्य से साहित्य मलिन हो जाता है, और कला श्रीहत। जर्मनी के जीव-तत्त्व-विशारदों का कथन है कि जो जाति सभ्यता की निम्नतम श्रेणी में रहती है, वह प्राकृतिक सौंदर्य से मुग्ध होने पर विस्मय से अभिभूत होती है। उस विस्मय से उसके हृदय में आतंक का भाव उत्पन्न होता है, और आतंक की प्रेरणा से उपासना और धर्म की सृष्टि होती है। यह विस्मय क्यों होता है? शास्त्रों के अनुसार द्वैतानुभूति ही विस्मय के उद्रेक का कारण है। मैं हूँ, और मुझसे भिन्न विश्व है। मैं इस विश्व के विकास और विलास को देखकर मुग्ध होता हूँ, और प्रतिक्षण उसकी नवीनता का अनुभव कर विस्मय से अभिभूत होता हूँ। नवीनता की अनुभूति से विस्मय प्रकट होता है।

जीव-तत्त्व विशारद विरचाउ (Birchow) ने मनुष्य के विस्मयोद्रेक का यही कारण बतलाया है। उनका कथन है कि बर्बर-जातियों में न तो स्वतःसिद्धि है, न परंपरागत धारणाराशि, और न अंधविश्वास। उन जातियों के लोग जो कुछ देखते हैं, उसे पहले ही देखते हैं—प्रकृति उनके लिये नवीन ही रहती है। उस नवीनता से वे मुग्ध होते हैं, उसी से उन्हें विस्मय होता है, उसी विस्मय से भिन्न-भिन्न भावों की उत्पत्ति होती है, और यही भाव साहित्य का मूल है। यह भाव दो रूपों में व्यक्त होता है, अथवा यह कहना चाहिए कि इस भाव में दो भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। पहली भावना जिगीषा अर्थात् यह सोचना है कि हम प्राकृतिक

शक्तियों को पराभूत करके उन्हें स्वायत्त कर लेंगे, और तब इस विस्मयागार पर हमारा अधिकार हो जायगा। दूसरी भावना तन्मयता अर्थात् यह सोचना है कि हम इस रूप-सागर में निमग्न होकर नित्य-नवीनता को प्राप्त कर लेंगे। पहली भावना से विज्ञान की उत्पत्ति होती है। दूसरी भावना से धर्म और साधना के भाव प्रकट होते हैं, जो काव्य और साहित्य का मूल हैं। देश, काल, पात्र के अनुसार और भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक संघर्षण से वे भावनाएँ भिन्न-भिन्न रूप धारण करती हैं। उन्हीं से साहित्य का स्वरूप सदैव परिवर्तित होता रहता है।

उक्त विवेचना से यह मालूम होता है कि साहित्य के दो प्रधान भेद हैं—एक विज्ञान, दूसरा कला। इसके मूलगत भाव भिन्न-भिन्न हैं। इनका विकास भी एक ही रीति से नहीं होता। विज्ञान पर बाह्य जगत् का प्रभाव खूब पड़ता है, और कला पर अंतर्जगत् का। धार्मिक आंदोलन से कला का स्वरूप अवश्य परिवर्तित होता है। उसी प्रकार पार्थिव समृद्धि की आकांक्षा से विज्ञान की गति तीव्रतर होती है। सभी देशों के साहित्य में यह बात स्पष्ट देखी जाती है। बौद्ध-युग में जब कवित्व-कला का अभाव हुआ, तब विज्ञान की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। आधुनिक युग में भी विज्ञान की उन्नति से कविता का अवश्य ह्रास हुआ है। साहित्य के विकास में हमें एक दूसरी बात पर भी ध्यान देना चाहिए। वह यह कि कला में व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है, और विज्ञान में व्यक्तित्व की कोई विशेषता नहीं लक्षित होती। शेक्सपियर ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से अनेक बातें ग्रहण की हैं। न्यूटन ने भी पूर्वार्जित ज्ञान के आधार पर अपना सिद्धांत निर्मित किया है। न्यूटन के आविष्कार से विज्ञान को बड़ा

सभ्यता और ऐश्वर्य की चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब तो उसकी सौंदर्यानुभूति और सौंदर्योपभोग की शक्ति का ह्रास नहीं होता, उलटे उसकी वृद्धि ही होती है। तब, ऐसी अवस्था में, साहित्य और कला की खूब उन्नति होनी चाहिए। परंतु फल विपरीत होता है। जाति के ऐश्वर्य से साहित्य मलिन हो जाता है, और कला श्रीहत। जर्मनी के जीव-तत्त्व-विशारदों का कथन है कि जो जाति सभ्यता की निम्नतम श्रेणी में रहती है, वह प्राकृतिक सौंदर्य से मुग्ध होने पर विस्मय से अभिभूत होती है। उस विस्मय से उसके हृदय में आतंक का भाव उत्पन्न होता है, और आतंक की प्रेरणा से उपासना और धर्म की सृष्टि होती है। यह विस्मय क्यों होता है? शास्त्रों के अनुसार द्वैतानुभूति ही विस्मय के उद्रेक का कारण है। मैं हूँ, और मुझसे भिन्न विश्व है। मैं इस *विश्व के विकास और विलास को देखकर मुग्ध होता हूँ, और प्रतिक्षण उसकी नवीनता का अनुभव कर विस्मय से अभिभूत होता हूँ।* नवीनता की अनुभूति से विस्मय प्रकट होता है।

जीव-तत्त्व विशारद विरचाउ (Birchow) ने मनुष्य के विस्मयोद्रेक का यही कारण बतलाया है। उनका कथन है कि बर्बर-जातियों में न तो स्वतःसिद्धि है, न परंपरागत धारणाराशि, और न अंधविश्वास। उन जातियों के लोग जो कुछ देखते हैं, उसे पहले ही देखते हैं—प्रकृति उनके लिये नवीन ही रहती है। उस नवीनता से वे मुग्ध होते हैं, उसी से उन्हें विस्मय होता है, उसी विस्मय से भिन्न-भिन्न भावों की उत्पत्ति होती है, और यही भाव साहित्य का मूल है। यह भाव दो रूपों में व्यक्त होता है, अथवा यह कहना चाहिए कि इस भाव में दो भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। पहली भावना जिगीषा अर्थात् यह सोचना है कि हम प्राकृतिक

शक्तियों को पराभूत करके उन्हें स्वायत्त कर लेंगे, और तब इस विस्मयागार पर हमारा अधिकार हो जायगा। दूसरी भावना तन्मयता अर्थात् यह सोचना है कि हम इस रूप-सागर में निमग्न होकर नित्य-नवीनता को प्राप्त कर लेंगे। पहली भावना से विज्ञान की उत्पत्ति होती है। दूसरी भावना से धर्म और साधना के भाव प्रकट होते हैं, जो काव्य और साहित्य का मूल हैं। देश, काल, पात्र के अनुसार और भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक संघर्षण से वे भावनाएँ भिन्न-भिन्न रूप धारण करती हैं। उन्हीं से साहित्य का स्वरूप सदैव परिवर्तित होता रहता है।

उक्त विवेचना से यह मालूम होता है कि साहित्य के दो प्रधान भेद हैं—एक विज्ञान, दूसरा कला। इसके मूलगत भाव भिन्न-भिन्न हैं। इनका विकास भी एक ही रीति से नहीं होता। विज्ञान पर बाह्य जगत् का प्रभाव ख़ूब पड़ता है, और कला पर अंतर्जगत् का। धार्मिक आंदोलन से कला का स्वरूप अवश्य परिवर्तित होता है। उसी प्रकार पार्थिव समृद्धि की आकांक्षा से विज्ञान की गति तीव्रतर होती है। सभी देशों के साहित्य में यह बात स्पष्ट देखी जाती है। बौद्ध-युग में जब कवित्व-कला का अभाव हुआ, तब विज्ञान की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। आधुनिक युग में भी विज्ञान की उन्नति से कविता का अवश्य ह्रास हुआ है। साहित्य के विकास में हमें एक दूसरी बात पर भी ध्यान देना चाहिए। वह यह कि कला में व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है, और विज्ञान में व्यक्तित्व की कोई विशेषता नहीं लक्षित होती। शेक्सपियर ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से अनेक बातें ग्रहण की हैं। न्यूटन ने भी पूर्वार्जित ज्ञान के आधार पर अपना सिद्धांत निर्मित किया है। न्यूटन के आविष्कार से विज्ञान को बड़ा

लाभ पहुँचा है। संसार न्यूटन का सदा कृतज्ञ रहेगा। परंतु यह सभी स्वीकार करेंगे कि विज्ञान अब पहले से अधिक समुन्नत हो गया है, और न्यूटन के आविष्कारों से भी महत्त्व-पूर्ण आविष्कार हो गए हैं। विज्ञान के आदि काल के लिये न्यूटन का आविष्कार कितना ही महत्त्व पूर्ण क्यों न हो, अब ज्ञान की उन्नति से वह स्वयं उतना महत्त्व नहीं रखता। पर शेक्सपियर की रचना के विषय में यही बात नहीं कही जा सकती। शेक्सपियर ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से जो बातें ग्रहण कीं, उन्हें उसने बिलकुल अपना बना लिया, और अपनी प्रतिभा के बल से उसने जो साहित्य तैयार किया, उसका महत्त्व कभी घटने का नहीं। संसार में शेक्सपियर से उत्तम नाटककार भले ही पैदा हों, पर उनकी कृति से शेक्सपियर के नाटकों का महत्त्व नहीं घटेगा। कहने का मतलब यह कि विज्ञान की जैसे उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है, ठीक उसी तरह साहित्य की उन्नति नहीं होती। कवि चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, उसकी रचना पर उसी का पूर्ण अधिकार रहेगा। जलाशय के समान वह एक स्थान पर ज्यों-की त्यों बनी रहती है। यदि वह क्षुद्र सर है, तो थोड़े ही दिनों में सूख जायगा। यदि उसमें अनंत जल-राशि है, तो चिरकाल तक बना रहेगा। परंतु विज्ञान गिरि निर्भर की तरह आगे ही बढ़ता जाता है। झरने एक दूसरे से मिल जाते हैं, इसी तरह कई झरनों के मिलने से एक नदी बन जाती है, और वह नदी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है, त्यों-त्यों बड़ी ही होती जाती है। विज्ञान का स्रोत वैज्ञानिकों की कृति से बढ़ता ही जाता है, और अब उसने एक विशाल रूप धारण कर लिया है।

विज्ञान की उन्नति से साधारण नियमों की वृद्धि होती है। प्रकृति की रहस्यमयी मूर्ति वैसे ही नियमों से स्पष्ट होती है। सच पूछो, तो विज्ञान साधारण नियमों का समूह-मात्र है। परंतु कला

कोई नियम नहीं ढूँढ़ निकालती। कला जीवन की प्रकाशिका कही गई है। अतएव जीवन-वैचित्र्य के कारण, कला का वैचित्र्य सदैव रहेगा। वैचित्र्य के अभाव से कला का ह्रास होता है। मनुष्य-समाज जितना ही जटिल होगा, कला भी उतनी ही जटिल होगी; और जब मनुष्य-समाज सरलता की ओर अग्रसर होगा, तब कला में भी सरलता आने लगेगी। सभ्यता के आदि-काल में मानव-जीवन बहुत सरल होता है। अतएव तत्कालीन साहित्य और कला में सरलता रहती है। तब न तो शब्दों का आडंबर रहता है, और न अलंकारों का चमत्कार। उस समय कला का क्षेत्र भी परिमित रहता है। उसमें रूप रहेगा, किंतु रूप-वैचित्र्य नहीं। ज्यों-ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों मनुष्य-जीवन जटिल होता जाता है, साथ ही कला भी जटिल होती जाती है। जीवन की विशालता पर कला का सौंदर्य अवलंबित है। जिस जाति का जीवन जितना ही विशाल होगा, उसकी कला भी उतनी ही अधिक उन्नत होगी, और उसका आदर्श भी उतना ही विशाल होगा। एक उदाहरण से हम इस बात को स्पष्ट करना चाहते हैं। प्राचीन काल की असभ्य जातियों की बनाई हुई चित्रावली मिली है। उसमें और सभ्य ग्रीक-जाति की शिल्प-कला में क्या भेद है? ग्रीक-जाति के समान उन असभ्य जातियों को भी जीवन के विषय में विस्मय होता था। रूप के पर्यवेक्षण में उन्हें भी आनंद होता था, और उन भावों को बाह्य रूप देने के लिये वे भी चंचल थीं। उनके चित्रों में ये बातें हैं। परंतु जीवन की क्षुद्रता में उन्होंने सिर्फ़ रूप देखा, रूप-वैचित्र्य नहीं। रूप-वैचित्र्य भी यदि उन्होंने देखा, तो उसमें सुषमा और सुसंगति (Harmony) नहीं देख सकीं। उसको ग्रीक लोगों ने देखा। ग्रीक लोगों की कला में अधिक सौंदर्य है; क्योंकि उनके जीवन का क्षेत्र भी अधिक विशाल था।

यदि ग्रीक-जाति का जीवन और भी विशाल होता, तो उसकी कला की भी अधिक उन्नति होती। परंतु ग्रीक-जाति सिर्फ़ रूप-रस-ग्राह्य जीवन में ही मुग्ध थी। आध्यात्मिक जीवन की ओर उसका लक्ष्य न था। इस ओर हिंदू और चीनी-जाति का ध्यान था। इसीलिये इन लोगों की कला का आदर्श अधिक ऊँचा था।

साहित्य के मूल में जो तन्मयता का भाव है, उसका एकमात्र कारण यही है कि मनुष्य अपने जीवन में संपूर्णता को उपलब्ध करना चाहता है—वह उसी में तन्मय होना चाहता है। परंतु वह संपूर्णता है कहाँ? बाह्य प्रकृति में तो है नहीं। यदि बाह्य जगत् में ही मनुष्य संपूर्णता को पा लेता, तो साहित्य और कला की सृष्टि ही न होती। वह संपूर्णता कवि के कल्प-लोक में और शिल्पी के मनोराज्य में है। वहीं जीवन का पूर्ण रूप प्रकाशित होता है। वहीं यथार्थ में सौंदर्य देखते है। उसी के प्रकाश में जब हम ससार को देखते हैं, तब मुग्ध हो जाते हैं। यह वही प्रकाश है, जिसके विषय में किसी कवि ने कहा है—

The light which never was on land or sea
The consecration and the poet's dream"

अर्थात् जो प्रकाश जल और स्थल में कहीं नहीं है, वह पवित्र होकर केवल कवि के स्वप्न में है।

कला के साथ हमारे जीवन का घनिष्ठ संबंध है। मानव-जीवन से पृथक् कर देने पर कला का महत्त्व नहीं रहता। पर्सी ब्राउन नाम के एक विद्वान् का कथन है कि सौंदर्यानुभूति और सौंदर्य-सृष्टि की चेष्टा मानव-जाति की उत्पत्ति के साथ ही है। शिक्षा और सभ्यता के साथ सौंदर्यानुभूति का उन्मेष और विकास होता है। अँगरेज़ी में जिसे Art Impulse कहते है, वह मनुष्य-मात्र मे है। असभ्य जातियों में भी यह कला-वृत्ति विद्यमान है। कविता, सगीत और

चित्र-कला के नमूने कंदराओं में रहनेवाली जातियों में भी पाए जाते हैं। अपनी सौंदर्यानुभूति को व्यक्त करने की यह स्वाभाविक चेष्टा ही कला का मूल है।

कला की उन्नति तभी होती है, जब व्यक्तिगत स्वातंत्र्य रहता है। जब मनुष्य को यथेष्ट सुखोपभोग की स्वतंत्रता रहती है, जब उसे अपने हृद्गत भावों के दबाने की ज़रूरत नहीं रहती, तभी वह इस सौंदर्य-सृष्टि के लिये चेष्टा करता है। उल्लास के इस भाव में एक प्रकार की स्वच्छंदता रहती है। जब यह स्वच्छंदता संयत हो जाती है, जब उस भाव में सामंजस्य प्रबल हो जाता है, तब कला की सृष्टि होती है। सौंदर्य की अनुभूति के लिये सभी स्वच्छंद हैं। पर कला-कोविद का कार्य शृंखला-बद्ध और प्रणाली-संगत होना चाहिए। मतलब यह कि सौंदर्य के उपभोग का सामर्थ्य तभी होता है, जब चित्त-वृत्ति स्वच्छंद रहती है। परंतु चित्त-वृत्ति को सर्वथा निरंकुश न रखकर संयत रखना चाहिए। तभी सौंदर्य का निर्मलतर रूप प्रकट होता है।

कुछ लोगों का ख़याल है कि जब देश में सर्वत्र शांति रहती है, तभी कला की उन्नति होती है। पर ब्राउन साहब की यह राय नहीं है। आपका कथन है कि जब समाज में शांति है, तब कला की उन्नति होगी ही नहीं। इसके विपरीत, जब समाज क्षुब्ध होता है, जब मनुष्य अपने हृदय में अशांति का अनुभव करने लगते हैं, जब देश में युद्ध होने लगता है, तब कला उन्नति के पथ पर अग्रसर होती है। जिगीषा का भाव मनुष्य की अंतर्निहित शक्ति को जाग्रत् करता है। शांति के समय वह अपने ज्ञान का विस्तार कर सकता है। परंतु नवीन सृष्टि नहीं कर सकता। विजय की इच्छा उसको नवीन रचना करने के लिये उत्साहित करती है। यही कारण है कि ग्रीस में युद्ध और अंतर्विप्लव-काल में ही कला की उन्नति हुई। योरप में

गाथिक कला का विकास भी इसी तरह हुआ। यदि युद्ध-काल उपस्थित न होता, तो कदाचित् योरप में रेनेंसास पीरियड—पुनरुत्थान-काल—भी न आता। युद्ध की इच्छा से चित्त-वृत्ति में स्वतंत्रता आ जाती है; और कला की उन्नति के लिये स्वतंत्रता आवश्यक है। जो जाति दासत्व की शृंखला से बँधी होती है, उसकी चित्त-वृत्ति का स्वातंत्र्य भी नष्ट हो जाता है। उसकी मानसिक शक्ति कुंठित हो जाती है। विजय की भावना से उद्दीप्त होकर मनुष्य जब अपनी शक्ति का अनुभव कर लेता है, तब वह प्रकृति के ऊपर भी अपना कर्तृत्व प्रकट कर देना चाहता है। तभी उसकी इच्छा होती है कि प्राकृतिक सौंदर्य पर भाव को प्रतिष्ठित कर उसे किस प्रकार अधिक सुंदर करें। यही नहीं, वह सौंदर्य-विकास के साथ अनंत और अज्ञेय को भी अपनी कल्पना के द्वारा अधिगम्य करना चाहता है।

ब्राउन साहब ने यहाँ कला के साथ धर्म का भी संबंध बतलाया है। आपका कथन है कि प्रकृति के सौंदर्य के भीतर जो अनंत रूप विद्यमान है, उसे धर्म ही, विश्वास और कल्पना के द्वारा, मनुष्य के लिये अनुभव-गम्य कर देता है। प्रातःकाल सूर्योदय की शोभा देखकर मनुष्य मुग्ध हो सकता है; परंतु उसका वह मोह क्षणिक है। जब तक सूर्य की लालिमा है, तभी तक वह मोह है। परंतु धर्म उसको बतलाता है कि इस प्रातःकालीन लालिमा में एक महाशक्ति विराजमान है—"तत्सवितुर्वरेण्यम्"। तब वह सौंदर्य-भावना स्थायी हो जाती है। यदि समाज में धर्म का और धर्म में सौंदर्य का भाव है, तो कला की उन्नति अवश्य होगी।

भारतवर्ष में जब तक व्यक्तिगत स्वातंत्र्य था, धर्म की भावना प्रबल थी, तब तक कला की उन्नति हुई। स्वतंत्रता के लुप्त हो जाने पर भी भारतवासियों ने अपने धर्म की भावना से कला की रक्षा

की। परंतु अब स्वाधीनता और धार्मिक भावना खोकर वे अपनी कला भी खो बैठे।

मनुष्य ने संसार से अपना जो संबंध स्थापित किया है, वह उसके धार्मिक विश्वासों से प्रकट होता है। ज्यों-ज्यों उसके धार्मिक विश्वास परिवर्तित होते जाते हैं, त्यों-त्यों संसार से उसका संबंध भी बदलता जाता है। धार्मिक विश्वास में शिथिलता आने से उसका सांसारिक जीवन भी शिथिल हो ज़ाता है; और उसकी यह शिथिलता उसके सभी कार्यों में दिखलाई देती है। साहित्य में मनुष्यों के धार्मिक परिवर्तन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित हो जाता है। यही नहीं, उससे साहित्य का स्वरूप भी बदल जाता है। धर्म से साहित्य का अच्छेद्य संबंध है। डॉक्टर बीचर नाम के एक विद्वान् ने एक वार कहा था कि प्रत्येक भाषा और साहित्य का एक धर्म होता है। ईसाई-धर्मावलंबी योरप के सभी सभ्य-देशों की भाषा का धर्म ईसाई-मत का ही अवलंबन करता है। वहाँ ईसाई-धर्म ही प्रत्येक देश और जाति की विशेषता को ग्रहण कर साहित्य में विद्यमान है। बीचर साहब के इस मत का समर्थन कितने ही विद्वानों ने किया है। अब यह सर्व-सम्मत सिद्धांत हो गया है कि जिस जाति का जो धर्म है, उस ज़ाति की भाषा, सभ्यता और साहित्य उसी धर्म के अनुकूल होगा। इतना ही नहीं, भाषा के प्रत्येक शब्द, रचना-शैली, अलंकार के समावेश और रस के विकास में भी उसी धर्म की ध्वनि श्रुति-गोचर होगी। साहित्य से धर्म पृथक् नहीं किया जा सकता। चाहे जिस काल का साहित्य हो, उसमें तत्कालीन धार्मिक अवस्था का ही चित्र अंकित होगा।

हिंदू-साहित्य में धर्म के तीन स्वरूप लक्षित होते हैं—प्राकृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक। हिंदू-साहित्य के आदि-काल में धर्म की

प्राकृतिक अवस्था विद्यमान थी, मध्य-युग में नैतिक अवस्था का आविर्भाव हुआ, और जब भारतीय समाज में धार्मिक उत्क्रांति हुई, तब, साहित्य में नवोत्थान काल उपस्थित होने पर, आध्यात्मिक भावों की प्रधानता हुई।

धर्म की पहली अवस्था में प्रकृति की ही ओर हमारा लक्ष्य रहता है। तब हम बाह्य जगत् में ही रहते हैं। उस समय हमारी साधना का केंद्र स्थल प्रकृति में ही स्थापित होता है। इस अवस्था में भी तन्मयता की ओर भारतीय कवियों का लक्ष्य रहता है। सभी देशों के प्राचीन साहित्य में प्रकृति की उपासना विद्यमान है। प्राचीन ग्रीक साहित्य में प्राकृतिक शक्तियों को दिव्य स्वरूप देकर उनका यशोगान किया गया है। परंतु उसमें हिंदू-जाति की तन्मयता नहीं है। प्रकृति भारत के लिये आत्मीय थी, पशु पक्षी, फूल पत्ती और नदी पहाड़ सभी से उनकी घनिष्ठता थी। हिंदू-साधक विश्व देवता के साथ एक होकर रहना चाहते थे। विश्व के सभी पदार्थों में भगवान् की विभूति का दर्शन कर हिंदू जाति ने गंगा और हिमाचल की पूजा की, और मनुष्य को देवता के रूप में तथा देवता को मनुष्य के रूप में देखा। ग्रीक साहित्य में एस्काइलीस, सफ़ोक्लीस, इरोपिडिस, अरिस्टोफ़ेनिस आदि की रचनाओं में भावुकता है। पर वह इस कोटि की नहीं। उनकी दौड़ दैव पर्यंत थी। वे एक अलक्षित शक्ति का अस्तित्व स्वीकार करते थे। परंतु उनका लक्ष्य एक मात्र इहलोक था। हिंदुओं की दृष्टि में उनकी उपासना सात्त्विक नहीं, राजसिक थी। हिंदुओं के मतानुसार कला के तीन आदर्श हो सकते हैं—जिससे केवल प्राण रक्षा हो, वह तामसिक है। जब कला अपने ऐश्वर्य और शक्ति के द्वारा समस्त समाज पर प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, और केवल सौंदर्य की सृष्टि की ओर उसका लक्ष्य रहता है, तब

वह राजसिक होती है। सात्त्विक कला में अनंत के लिये सांत की व्याकुलता रहती है। तब मनुष्य प्रकृति को जड़ नहीं समझता। वह उसको अपने जीवन में ग्रहण करना चाहता है, उसको रस-रूप में परिणत करना चाहता है। प्रकृति के सात्त्विक उपासकों के लिये प्रकृति दयामयी और प्रेममयी रहती है। उससे मनुष्य का संबंध केवल ज्ञान द्वारा स्थापित नहीं होता। यथार्थ संबंध-सूत्र प्रेम होता है। ग्रीक-साहित्य में जिन देवतों की सृष्टि की गई है, वे मानव-जाति से सर्वथा पृथक् थे। परंतु हिंदू-देवता मानव-जाति से घनिष्ठ संबंध रखते थे। वैदिक ऋषियों ने विश्व के प्रति जैसी प्रीति प्रकट की है, उससे यही मालूम होता है कि स्वर्ग की अपेक्षा पृथ्वी ही उनके लिये अधिक सत्य थी। एक स्थान पर पृथ्वी को संबोधन कर उन्होंने कहा है—"हे पृथ्वी, तेरे पहाड़, तेरे तुषारावृत पर्वत, तेरे अरण्य हमारे लिये सुखकर हों।" दूसरे स्थान में उन्होंने कहा है—"भूमि हमारी माता है, और हम पृथ्वी के पुत्र।" फिर लिखा है—"हे माता भूमि, तेरा ग्रीष्म, तेरी वर्षा, तेरा शरद्, हेमंत, शिशिर और वसंत, तेरा सुविन्यस्त ऋतु-संवत्सर, तेरे दिन और रात्रि तेरे वक्षःस्थल की दुग्ध-धारा के समान क्षरित हों।" इन उद्गारों से विश्व-प्रकृति के साथ उनका साहचर्य प्रकट होता है।

सभ्यता के विकास से प्रकृति के साथ यह घनिष्ठता नहीं बनी रहती। मनुष्य जब क्रमशः इंद्रियों से, मन से, कल्पना से और भक्ति से बाह्य प्रकृति का संसर्ग-लाभ कर लेता है, तब वह उसके परिचय की अंतिम अवधि तक पहुँच जाता है। तब एक-मात्र प्रकृति ही उसका आश्रय नहीं रह जाती। प्रकृति के भिन्न-भिन्न स्वरूपों में वह सदैव अस्थिरता देखता है। प्रकृति के शक्ति-पुंज में भी वह संपूर्णता नहीं उपलब्ध कर सकता। इससे उसको

संतोष नहीं होता। फिर वह देखता है कि जिस चैतन्य-शक्ति का अनुभव उसने प्रकृति में किया, वह उसके अंतर्जगत् में भी विद्यमान है। अतएव अब उसका लक्ष्य अंतर्जगत् हो जाता है। वह प्रकृति के स्थान में मनुष्य-समाज को ग्रहण करता है। यही धर्म की नैतिक अवस्था है। यह अवस्था उपस्थित होने पर कवियों ने मानव-जीवन में सौंदर्य उपलब्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने राम अथवा कृष्ण, सीता अथवा सावित्री के चरित्र में एक विचित्र प्रकार के सौंदर्य का अनुभव किया। तब उन्होंने देखा कि बाह्य जगत् में सौंदर्य का पूर्ण विकास नहीं होता। जहाँ जीवन का प्रकाश पूर्ण मात्रा में विद्यमान है, वहीं यथार्थ सौंदर्य है। अतएव कला का लक्ष्य मुख्यतः जीवन ही है, और निर्मलता ही सौंदर्य है। पवित्र स्वभाव अधिक मनोमोहक है। रमणी मूर्ति में मातृमूर्ति अधिक चित्त आकृष्ट करती है। पुरुषों मे शौर्य, दया और दाक्षिण्य अधिक आदरणीय है। अतः मनुष्य के इन्हीं गुणों की परा काष्ठा दिखलाने के लिये आदर्श चरित्रों की सृष्टि होने लगी। प्रकृति को अंत में गौण स्थान मिल गया है। यदि वह है, तो मनुष्य के लिये। कुछ ने तो उसे मायाविनी समझकर सर्वथा त्याज्य समझ लिया है।

मानव-चरित्र के विश्लेषण में कवियों और साधकों ने ज्यों-ज्यों चरित्र की महत्ता देखी, त्यों-त्यों उन्होंने अंतर्निहित शक्ति का अनुभव किया। उन्होंने यह अच्छी तरह देख लिया कि यदि इस शक्ति का पूर्ण विकास हो जाय, तो मनुष्य देवोपम हो जाता है। राम, कृष्ण, बुद्ध और ईसा के चरित्रों में उन्होंने एक ऐसी महत्ता देखी, जो संसार में अतुलनीय थी। तब ये ही उनकी उपासना के केंद्र हो गए। आजकल हम लोगों के लिये ये चरित्र अतीत काल के हो गए हैं। परंतु मध्य-युग के कवि और कला-

कोविद इनका प्रत्यक्ष अनुभव करते थे। हमारे कवियों और साधकों के विषय में जो दंतकथाएँ प्रचलित हैं, उनमें यही बात कही जाती है कि उन्होंने भगवान् का साक्षात्कार प्राप्त किया। यह मिथ्या नहीं है। यदि तुलसीदास और सूरदासजी अपने अंतःकरण में राम और कृष्ण का दर्शन न करते, तो उनकी रचनाओं में वह शक्ति भी न रहती, जो कि है। दांते ने स्वर्ग और नरक का ऐसा वर्णन किया है, मानों उसने सचमुच वहाँ की यात्रा की हो। उसके वर्णन में एक भी बात नहीं छूटने पाई। प्रत्यक्ष दर्शन न सही, परंतु प्रत्यक्ष अनुभव का यह अवश्य परिणाम है।

क्रमशः राम, कृष्ण, बुद्ध और ईसा के चरित्र आध्यात्मिक जगत् में लीन हो गए। संसार से पृथक् होकर उन्होंने भाव-जगत् में अक्षय स्थान प्राप्त कर लिया। जो सौंदर्य और प्रेम की धारा उनके चरित्रों से उद्भूत हुई थी, वह मानव-समाज में फैलकर विस्तृत हो गई। कबीर, चैतन्य, दादू, मीरा बाई आदि वैष्णव कवियों ने अंतर्निहित सौंदर्य-राशि को प्रकट करने की चेष्टा की। उनकी आध्यात्मिक भावना का यह परिणाम हुआ कि अब प्रत्येक व्यक्ति के अंतर्जगत् के रहस्योद्घाटन करने का प्रयत्न किया जाता है। आस्कर वाइल्ड ने अपने एक ग्रंथ में लिखा है कि बाह्य सौंदर्य उसको कितना ही मुग्ध क्यों न करे, वह सौंदर्य के पीछे एकात्म्य देखना चाहता है। संसार को जो सौंदर्य आप्लावित किए है, वह किसी एक ही स्थान में आबद्ध नहीं रह सकता। नीच और उच्च का भेद उसके लिये नहीं है। इसीलिये सभी स्थानों में उसकी खोज की जाती है। एक प्रसिद्ध विद्वान् का कथन है कि यदि यथार्थ वस्तु का संसर्ग इंद्रिय और चैतन्य से हो सके, यदि हम स्वयं अपनी सत्ता और वस्तु-सत्ता के साथ प्रत्यक्ष संयोग प्राप्त कर सकें, तो

कला का रहस्य जान लें। तब हम अपनी आत्मा के गंभीरतम स्थल में अपने अंतर्जगत् के संगीत को सुन लें। यह संगीत कभी आनंदमय, कभी विषाद-पूर्ण, परंतु सर्वदा नवीन ही, बना रहता है। यह हमारे चारो ओर व्याप्त है। हमारे भीतर भी है। परंतु हम इसका स्पष्ट अनुभव नहीं कर सकते। हमारे और विश्व प्रकृति के बीच, हमारे और हमारे चैतन्य के बीच, एक परदा पड़ा हुआ है। आध्यात्मिक कवि उस परदे के भीतर से भी अंतर्गत रहस्य को देख सकते हैं। परंतु सर्व-साधारण के लिये वह परदा रुकावट है।

आधुनिक साहित्य में जिस अध्यात्म-वाद की धारा बह रही है, उसकी गति इसी ओर है। वह मनुष्य-मात्र के चरित्र का विश्लेषण कर उसमें आत्मा का सौंदर्य देखना चाहता है। यही भाव अब नव हिंदू-साहित्य में भी प्रविष्ट हो रहा है। *जड़-वाद के स्थान* में आत्मचिंता और आत्मपरीक्षा के द्वारा यदि मनुष्य अंत सौंदर्य का दर्शन कर सके, तो यह उसके लिये श्रेयस्कर ही है, क्योंकि तभी वह पुन शांति के पथ पर अग्रसर होगा।

साहित्य का विकास

संसार में भिन्न-भिन्न जातियों का सदैव उत्थान-पतन होता रहता है। परंतु कुछ समय के बाद एक दूसरी ही जाति पहली का स्थान ले लेती है। प्राचीन काल में जो जातियाँ उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गई थीं, उनका गौरव अब अतीत काल की कथा-मात्र है। काल के अनंत स्रोत में उनकी जीवन-धारा लुप्त हो गई है। परंतु काल के वक्षःस्थल पर वे अपना अक्षय चिह्न छोड़ गई हैं। संसार से उनका अस्तित्व उठ गया; परंतु संसार की गति को उन्होंने जिस ओर परिवर्तित कर दिया था, उसी ओर उसको अग्रसर होना पड़ा। जिन मार्गों पर चलकर मानव-जाति वर्तमान अवस्था को प्राप्त हुई है, वे मार्ग उन्हीं के द्वारा निर्दिष्ट किए गए थे। संसार के ज्ञानागार में उनकी भी संपत्ति रक्खी हुई है। आधुनिक सभ्यता का भवन उन्हीं की निर्मित भित्ति पर स्थापित है। उन्होंने अपने जीवन-काल में जो कुछ किया है, उसका प्रभाव अविनश्वर है। संसार में प्रत्येक जाति अपने इतिहास की रचना करती है। उसकी यह इतिहास-रचना या तो कर्मों के द्वारा होती है, या साहित्य और कला के द्वारा। मतलब यह कि प्रत्येक जाति कर्म या साहित्य द्वारा अपना इतिहास छोड़ जाती है। प्राचीन युग की अधिकांश जातियों ने कर्मों द्वारा अपना इतिहास निर्मित किया था। साहित्य और कला के लिये ज्ञान को जिस उन्नत अवस्था की आवश्यकता है, उस अवस्था तक वे नहीं पहुँचती थीं। जब तक उनके कर्मों का प्रभाव प्रत्यक्ष रहा, तब तक उनका इतिहास भी बना रहा। परंतु जब उनके कर्म लुप्त हो गए, तब उनका इतिहास

भी नष्ट हो गया। प्राचीन युग में जिन जातियों ने कर्म-शक्ति द्वारा अपनी सत्ता स्थापित की थी, उनका अब कोई ऐसा चिह्न अवशिष्ट नहीं है, जिसके द्वारा हम उनकी यथार्थ अवस्था जान सकें। यदि कहीं उनके कृत्यों का वर्णन पाया भी जाता है, तो उस वर्णन-मात्र से हम उनकी उस जीवन-शक्ति का पता नहीं पा सकते, जो उनके कृत्यों में प्रकट हुई थी। यह तभी संभव है, जब उस जाति का साहित्य और कला विद्यमान हो। अतएव ऐतिहासिक विवेचना के लिये हम उन्हीं जातियों की ओर ध्यान दे सकते हैं, जिन्होंने प्राचीन काल में साहित्य और कला का निर्माण किया था। यह सच है, कि उनका साहित्य भी पूर्वार्जित ज्ञान पर अवलंबित था; परंतु उस ज्ञान का पता लगाना असंभव है।

संसार का इतिहास तीन कालों में विभक्त किया जाता है— प्राचीन काल, मध्य-युग और नवोत्थान काल। प्रागैतिहासिक काल में मानव-जाति की कैसी अवस्था थी, यह पुरातत्त्व का विषय है। जब हम ऐतिहासिक काल का निरीक्षण करते हैं, तब सभ्यता का भव्य रूप ही देखते हैं। प्राचीन काल में भारत, चीन, मिसर, ग्रीस और रोम उन्नत अवस्था में थे। प्राचीन काल में जो जातियाँ असभ्य समझी जाती थीं, उनका प्राबल्य मध्य-युग में हुआ। इस युग में मुसलमानों की विशेष श्री वृद्धि हुई। उनका पतन होने पर आधुनिक योरप का आधिपत्य बढ़ा। इन तीन युगों में तीन विभिन्न भावों की प्रधानता रही। प्राचीन युग में व्यक्तित्व की प्रधानता थी। मध्य-युग में धर्म ने राजनीति को दबा लिया। वर्तमान काल में व्यवसाय और राजनीति का घनिष्ठ संबंध हो गया है। इसी बात को हम इस तरह भी कह सकते हैं कि प्राचीन युग में व्यक्ति, मध्य-युग में समाज, और वर्तमान युग में राष्ट्र प्रबल हुए।

इतिहास के काल-विभाग की यह कल्पना भ्रामक हो सकती है। इसका कारण है मानव-जाति का स्वभाव-वैचित्र्य। प्रत्येक वस्तु के भिन्न-भिन्न आदर्शों में एक प्रकार का संघर्षण होता रहता है। आदर्शों के इस पारस्परिक संघर्षण से समाज का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। कहा जाता है, "History repeats itself," अर्थात् अतीत काल की घटना वर्तमान काल में फिर अपने पूर्व रूप में आ जाती है। परंतु इतिहास की सभी घटनाओं पर काल का प्रभाव ऐसा चिरस्थायी होता है कि कोई भी बात अपने पूर्व रूप में नहीं आ सकती। वृद्ध बालक का अभिनय कर सकता है, पर वह बालक नहीं हो सकता। मतलब यह कि मानव-स्वभाव की परिवर्तनशीलता के कारण भिन्न-भिन्न युगों में तदनुकूल भिन्न-भिन्न आदर्श स्थिर होते हैं। परंतु उन पर अतीत की छाया बनी रहती है। वर्तमान युग में प्राचीन काल का आदर्श स्वीकृत हो सकता है; पर परिवर्तित रूप में ही उसका अनुसरण किया जा सकता है। इसीलिये जब हम यह कहते हैं कि प्राचीन युग में व्यक्ति प्रधान था और मध्य-युग में समाज, तब उसका मतलब यही है कि प्राचीन युग में व्यक्ति और समाज का संघर्षण था, और वही मध्य-युग में भी विद्यमान रहा। इसी प्रकार वर्तमान युग में राष्ट्रीयता के प्रधान होने पर व्यक्ति और समाज का संघर्षण लुप्त नहीं हुआ। अब सभी देशों में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में संघर्षण हो रहा है।

आर्य-जाति के मूल-निवास-स्थान के विषय में विद्वानों में मत-भेद है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि कारण-विशेष से उसे अपना मूल-निवास-स्थान छोड़ना पड़ा। तब उसकी दो शाखाएँ हो गईं। एक शाखा ने भारत को अपना निवास-स्थान बनाया, और दूसरी योरप में जाकर रहने लगी। देश, काल और अवस्था का प्रभाव

मनुष्यों के जीवन पर पड़ता है। इसीलिये योरप और भारत के आदर्शों में बड़ा भेद हो गया। योरप में सभ्यता का उद्गम सबसे पहले ग्रीस में हुआ। ग्रीस से ही ज्ञान प्राप्त कर रोम ने उसकी पुष्टि की। परंतु उसके पहले बहुत से भारतीय आर्यों ने अपनी सभ्यता को उन्नत अवस्था में पहुँचा दिया था। जब ग्रीक-जाति संसार के इतिहास में प्रविष्ट हुई, तब भारत वैदिक युग को पार कर चुका था। ग्रीक-साहित्य के आदि ग्रंथ इलियड की रचना के पहले भारतीय साहित्य में वेद, उपनिषद् और दर्शन शास्त्रों की रचना हो चुकी थी। जब ग्रीक-जाति सभ्यता के प्रथम सोपान पर थी, तब भारतीय आर्य, गंभीर आत्मतत्त्वानुसंधान में निरत थे। भारतीय और ग्रीक जाति के जीवन विकास में लगभग एक हज़ार वर्ष का व्यवधान मानना पड़ेगा। ग्रीक-जाति का पतन होने पर रोम का अभ्युदय हुआ। इस प्रकार हम प्राचीन काल को तीन युगों में विभक्त कर सकते हैं। पहले युग में भारतीय आर्यों ने अपनी सभ्यता का प्रचार किया, दूसरे युग में ग्रीस-जाति की सभ्यता का प्रसार हुआ, और तीसरे युग में रोम की सत्ता बढ़ी। यह कहना बड़ा कठिन है कि ग्रीक जाति पर भारतीय सभ्यता का कितना प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भारतवर्ष को ग्रीस से कितनी सहायता मिली। इसमें संदेह नहीं कि ज्ञान का आदान-प्रदान सदैव होता ही रहता है। प्राचीन काल में कालिडया ? मिसर आदि जो सभ्य देश थे, उनसे भी भारत का संबंध अवश्य था। तो भी यह निश्चित है कि भारत, ग्रीस और रोम ने जिस सभ्यता की सृष्टि की, उसका मूल उन्हीं के आत्मचिंतन का फल था।

सभी सभ्यताओं में मनुष्य का कोई न कोई आदर्श पाया जाता है। उसी आदर्श पर उसके सामाजिक और राजनीतिक जीवन

का संगठन होता है। भारतवर्ष में आत्मा की संपूर्णता ही प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का एक-मात्र लक्ष्य था। इस आदर्श या समाज का विभाग भी किया गया, जिससे विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्तियों की संपूर्णता के लिये भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ निश्चित कर दी गईं। भारतवासियों ने व्यक्ति को प्रधानता देकर उस पर राष्ट्र और समाज का अधिकार कम कर दिया। राष्ट्र अथवा समाज व्यक्ति का प्रतिबंधक नहीं, प्रत्युत उसके इष्ट-साधन में सहायक था। वह राष्ट्र-नियंता नहीं था, देश-रक्षा का उपाय-मात्र था। श्रम-विभाग के अनुसार राजा के हाथ में देश-रक्षा का भार सौंपा गया। परंतु राजा पर समाज अवलंबित नहीं था। समाज की जीवन-शक्ति राजसभा में नहीं, किंतु व्यक्तियों के समूह में थी। यही कारण है कि हिंदू-साम्राज्य का विध्वंस हो जाने पर भी हिंदू-समाज छिन्न-भिन्न नहीं हुआ, और न उसकी चिरकालार्जित आदर्श संपत्ति ही नष्ट हुई। प्राचीन भारत का वैभव उसकी पार्थिव अक्षमता नहीं थी, यद्यपि उसकी यह क्षमता भी खूब बढ़ी-चढ़ी थी। प्राचीन भारत का गौरव आज तक अक्षुण्ण है, और वह है उसका आत्मिक विकास। उसके लिये आत्मा ही देखने, सुनने और मनन करने योग्य थी। उसने दूसरे देशों में राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा कभी नहीं की। यही नहीं, किंतु उसने दूसरों को भी अपने बृहत् समाज में मिला लिया।

भारतीय आदर्श का अंतिम परिणाम यह हुआ कि देश की राजनीतिक शक्ति राजा में केंद्रीभूत हो गई, और प्रजा राजभक्ति के आवेश में राजनीतिक सत्ता से उदासीन हो गई। हिंदू-राजों में स्वेच्छाचारिता का अभाव अवश्य था। इसका कारण यह नहीं है कि प्रजा उनकी राजनीतिक शक्ति में हस्तक्षेप करती थी। बात यह थी कि राजा समाज से पृथक् नहीं था। वह उसका अंग था, और

इसीलिये लोक-मर्यादा के विरुद्ध नहीं चल सकता था। जब कभी किसी राजा ने राजनीति के केंद्र से बाहर आकर समाज पर आघात किया, तभी उसका विरोध किया गया। भारतीय इतिहास में प्रजा-विद्रोह का एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है, जिसमें प्रजा ने राजा की राजनीतिक सत्ता को नष्ट करने का प्रयत्न किया हो। मुसलमानों के शासन-काल में भी हिंदू-प्रजा अपनी अवस्था से संतुष्ट थी। वर्तमान युग में जो अशांति फैली है, उसका कारण यह है कि राजनीति का आदर्श ही परिवर्तित हो गया है; और वर्तमान युग के लिये अभी तक ऐसा आदर्श निश्चित नहीं हुआ, जो इस विश्वव्यापी अशांति को दूर कर सके। हिंदू-जाति के प्रधान-काल में भारतवर्ष कितने ही छोटे-छोटे स्वाधीन राज्यों में विभक्त था। उन सब राज्यों में राष्ट्रीय संबंध नहीं था। कभी कभी कोई राजा अपने पराक्रम से अन्य राजा को वशीभूत कर चक्रवर्ती हो जाता था। परंतु उसकी प्रभुता अल्प-कालीन ही होती थी। राजनीतिक क्षेत्र में हिंदू-जाति ने रोमन लोगों की तरह कभी एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना नहीं की। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि भारत में राष्ट्रीयता का अभाव रहा हो। भारत में राष्ट्रीयता थी, परंतु वह राष्ट्रीयता राजनीतिक नहीं, धार्मिक थी। भारतवर्ष में ब्राह्मणों के शासन ने सारे समाज को एक ही भाव से संगठित कर दिया था। हिंदू-नरेशों की क्षमता अप्रतिहत थी। उसका नियामक कोई राष्ट्रीय विधान नहीं था। इसका फल यह हुआ कि सर्व-साधारण में राजनीतिक जीवन की स्फूर्ति नहीं हुई। इतिहास और राजनीति-शास्त्र राजनीतिक जीवन का अनुसरण करते हैं। यही कारण है कि भारतीय साहित्य में इनका अभाव है। प्राचीन काल में आर्य-जाति ने ज्योतिष, गणित आदि शास्त्रों में जो कृतित्व दिखलाया है, उसकी चर्चा का आरंभ

भारत ही से हुआ। परंतु भारतीयों ने समस्त प्रयोजनीय ज्ञान के मूल-सूत्रों की उद्भावना कर उनकी वृद्धि और उन्नति का भार दूसरों पर रख दिया। प्राकृति के साहचर्य में रहने से उन्हें ऐहिक वासनाओं की निवृत्ति के लिये अधिक चिंता नहीं करनी पड़ती थी। अतएव वे सदैव चिरंतन आदर्श की खोज में लगे रहते थे। उनकी यह आध्यात्मिक भावना उनके जीवन के सभी कृत्यों में प्रकट होती है। मैत्रेयी ने अपने स्वामी से प्रश्न किया था—"येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्।" यह प्रश्न अनंत आकाश के नीचे और प्रकृति के साहचर्य में रहनेवाली आर्य-जाति का प्रश्न था। इस अस्थिर परिवर्तनशील संसार में जो अविनश्वर है, उसी की प्राप्ति के लिये आर्य-जाति इच्छुक थी। उसी आकांक्षा की निवृत्ति के लिये ऋषि ने कहा है—"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति।"

भारत की इस आध्यात्मिक भावना की विवेचना श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर ने अच्छी तरह की है। आपने लिखा है कि—भारतीय सभ्यता का उद्गम तपोवन में हुआ था। तपोवन में प्रकृति के साथ मनुष्य का पूर्ण सहयोग था। अरण्य की निर्जनता ने मनुष्य को अभिभूत नहीं किया, किंतु उसे एक विशेष शक्ति दी। आरण्यकों की साधना से जो सभ्यता प्रकट हुई, उसमें प्रतियोगिता और विरोध का अभाव था। वाह्य संघर्ष से वह नहीं उत्पन्न हुई थी। अतएव उससे जो शक्ति पैदा हुई, वह वाह्याभिमुखी न होकर अंतर की ओर अग्रसर हुई। उसने ध्यान के द्वारा विश्व की गंभीरता में प्रवेश किया, और निखिल के साथ आत्मा का योग स्थापित किया।

देश की स्थिति से ही जाति को अपनी उन्नति के लिये एक सुयोग प्राप्त हो जाता है। जो जाति समुद्र-तट पर निवास करती है, उसे विदेशों से वाणिज्य करने का सुयोग रहता है। जो जाति मरु-भूमि में निवास करती है, उसे जीवन-निर्वाह के लिये अपनी

कार्य-क्षमता बढ़ानी पड़ती है। उसे अन्य देशों को अपने अधीन करने की चेष्टा भी करनी पड़ती है। जिस जाति को अपने जीवन-निर्वाह में जितनी अधिक बाधाएँ झेलनी पड़ती हैं, उसमें उतनी ही अधिक कार्य-कारिणी क्षमता रहती है। सम जल और धन-धान्य से पूर्ण भारत की भूमि ने भारतीय आर्यों को भी एक सुयोग दिया। उसने भारतीय आर्यों की बुद्धि को बाह्य जगत् से हटाकर संसार के अंतरतम रहस्य-लोक के आविष्कार की ओर प्रेरित किया। जहाँ सदैव वृक्षों के पत्ते-पत्ते में प्रकृति की जीवनी-शक्ति प्रत्यक्ष है, जहाँ प्रकृति सदैव अपना नूतन रूप प्रकट करती रहती है, वहाँ जो स्वस्थचित्त होकर रहेंगे, वे अपने चारो ओर प्रकृति के आनंदमय रहस्यों का अनुभव करेंगे ही। भारतीय ऋषियों के लिये यह कहना बिलकुल स्वाभाविक था—"यदिदं किंच जगत् सर्वं प्राण एजति निस्सृतम्।" जहाँ उनका निवास था, वहाँ विश्व-व्यापी विराट् जीवन के साथ उनके जीवन का अविच्छिन्न संबंध था। वही प्रकृति उन्हें छाया देती थी, फल-फूल प्रदान करती थी, कुश और समिधा भी ला देती थी। उनके दैनिक जीवन के साथ प्रकृति का आदान-प्रदान का संबंध था। फिर प्रकृति उनके लिये निर्जीव और शून्य कैसे होती? उन्होंने विश्व-प्रकृति मे प्रकाश, पवन और अन्न-जल ग्रहण किया था। क्रमशः भारतवर्ष में बड़े-बड़े राज्य और नगर स्थापित हुए; किंतु तपोवन से उनका संबंध नहीं टूटा। ज्ञान के जिस स्रोत ने भारतीय समाज को आप्लावित किया था, उसकी मूल-धारा सदैव तपोवन की निर्मलता से संश्लिष्ट रही। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारे प्राचीन साहित्य में केवल वेदों और उपनिषदों के भाव-राज्य ही की बातें हैं, वास्तव जीवन से उसका कुछ संपर्क नहीं है। भारतीय आर्य केवल अनंत की जिज्ञासा में ही व्यस्त नहीं रहते थे। उन्होंने उस भाव-राज्य को पृथ्वी पर

स्थापित भी किया है। इसी से प्राचीन साहित्य में ब्रह्म-ज्ञान के साथ सांसारिक कर्तव्य-बोध का समन्वय किया गया है। भारतीय साहित्य में जिस व्यक्तित्व का विकास हुआ है, उसका अस्तित्व कल्पना के भाव-लोक में नहीं, किंतु पृथ्वी पर है—

"Type of wise who soar, but never roam,
True to the kindred points of Heaven and Home."

विश्व-प्रकृति से सहयोग भारतीय सभ्यता का मूल-मंत्र था। ग्रीस में अनंत प्रकृति के साथ साहचर्य स्थापित करने का कोई सुयोग नहीं था। आरंभ से ही वाह्य प्रकृति के साथ उनका संघर्षण हुआ। प्रकृति के अक्षय भांडार से उन्हें जो प्राप्त होता था, उसके लिये उनको यथेष्ट परिश्रम करना पड़ता था। ग्रीस के देवतों में मनुष्य-जाति का वह संबंध नहीं है, जो प्रीति-पूर्ण कहा जा सके। इसमें संदेह नहीं कि ग्रीक-देवता मनुष्य-समाज से संपर्क रखते थे। परंतु उनका यही उद्देश रहता था कि मनुष्य उन्हें सदैव तुष्ट करता रहे; वाह्य संघात से मनुष्यों की शक्ति जाग्रत् होती रहे। जब मनुष्य की शक्ति जाग्रत् होती है, तब वह एक ऐसा क्षेत्र चाहता है, जहाँ उस शक्ति का सफलता-पूर्वक प्रयोग किया जा सके। अतएव वह एक अपना समाज ही निर्मित करता है, जिसमें उसकी शक्ति का पूर्ण विकास हो सके। जब मनुष्य की चेतना-शक्ति एकत्र होती है, तब उसकी सभ्यता का सूत्रपात होता है। इसीलिये यह कहा जाता है कि ग्रीस की सभ्यता की सृष्टि नगरों में हुई।

ग्रीस में राष्ट्रीय कर्म-क्षेत्र में ही समाज की यथार्थ जीवनी शक्ति थी। कहा जाता है, ग्रीस की सभ्यता का जन्म नगरों में हुआ था। अतएव ग्रीस का प्रत्येक नगर एक राष्ट्र हो गया था, और इसी को पुष्ट करना प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का

लक्ष्य था। ग्रीस में राष्ट्र से पृथक्, व्यक्तिगत, स्वतंत्र नहीं था। आधुनिक योरप में अभी तक इसी आदर्श का, किसी न-किसी रूप में, अनुसरण किया जाता है। इसी आदर्श ने व्यक्ति और राष्ट्र में विरोध उत्पन्न कर दिया। देश की उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि सभी लोग एक ही उद्देश से उसके लिये प्रयत्न करें। परंतु उसके लिये व्यक्ति के आत्मिक विश्वास का बलिदान नहीं किया जा सकता। ग्रीस की अवनति का प्रधान कारण था उसकी नैतिक और आत्मिक उन्नति की अपूर्णता। ग्रीस की आध्यात्मिक उन्नति, उसकी आर्थिक उन्नति की अपेक्षा हीन ही रही। इसीलिये जब व्यक्ति से राष्ट्र का संबंध घटने लगा, तब ग्रीस के जातीय जीवन में शिथिलता आने लगी, और अंत में व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के विकास से ग्रीस की सभ्यता का भी लोप हो गया।

रोमन-जाति में न तो हिंदू-जाति की उद्भावना-शक्ति और परमार्थ-परता थी, और न ग्रीक-जाति का सौंदर्य-बोध तथा भाव-वैचित्र्य। उनकी प्रकृति गंभीर थी। उनमें क्षमता थी, आत्मशक्ति थी, परंतु वह शक्ति नहीं थी, जो उन्हें ऐहिक वास नाओं से ऊँचे ले जा सकती। आध्यात्मिकता में वे सदैव ही रहे। कहा जाता है, जब रोमुलस ने रोम की प्रतिष्ठा की, त उसने सभी दुश्चरित्रों को उसका अधिवासी होने के लि निमंत्रित किया। इसमें संदेह नहीं कि ऐहिक सुख-संपत्ति ध ओर ही रोमनों का लक्ष्य था। उनकी पारलौकिक दृष्टि इत स्थूल थी कि रोम के कितने ही विख्यात पुरुषों ने आत्महत्य कर ली। लिवी और सिसरो, लूक्रेशियस और वर्जिल, प्रेटा और टेरेंस ग्रीक-प्रभाव के फल हैं। गणित और विज्ञान में उस नए तत्वों का अनुसंधान नहीं किया। तब रोम ने संसार

क्या दिया ? अरिस्टॉटल ने लिखा है कि मनुष्य स्वभाव से सामाजिक जीव है। उसके लिये जिस प्रकार धर्म और सौंदर्य-बोध आवश्यक है, उसी प्रकार समाज-नीति और राजनीति की भी आवश्यकता है। जब तक मनुष्य अपने-आप में संतुष्ट रहता है, तब तक उसकी कर्म-शक्ति का विकास नहीं होता। हिंदू और ग्रीक-जाति के जीवन में समाज-नीति का अभाव था। रोमन-जाति ने उस अभाव को दूर किया।

रोमन-जाति के गौरव का वर्णन उसके एक कवि ने इस प्रकार किया है—"हम जानते हैं कि संसार में ऐसी जातियाँ हैं, जो कठोर धातु को सौंदर्यमय कर सकती हैं; जो पत्थरों के हृदय से प्राण का विपुल उच्छ्वास खोजकर बाहर निकाल सकती हैं; जो अपनी प्रतिभा से समस्त ब्रह्मांड का ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं; उनमें कला-नैपुण्य है, और वाक्पटुता भी। परंतु हे रोमन-जाति, तेरा यह काम नहीं। तेरा काम है सभी जातियों पर शासन करना। यही तेरी शिल्प-कला है। तेरा गौरव इसी में है कि तू संसार में शांति का प्रचार करे। जो गर्व से उद्धत हैं, उनको तू नत-मस्तक करे, और जो पतित हैं, उन पर तू दया दिखला।" यही रोम का गौरव है। रोम ने स्वाधीनता के लिये स्वातंत्र्य का और राष्ट्र के मंगल के लिये व्यक्ति की इच्छा और शक्ति का निर्दय होकर दमन किया। इसका फल यह हुआ कि व्यक्तिगत विकास का पथ अवरुद्ध हो गया, और प्रतिभा का फूल अधखिला ही झड़ गिरा। परंतु उसके बदले में रोम ने स्वाधीन राजतंत्र की नींव पर जातीय एकता की स्थापना की। इस एकता का परिणाम यह हुआ कि उसने संसार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। रोम ने ग्रीस के नागरिक राज्यों को नष्ट कर एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। रोम की राजनीतिक सत्ता में यद्यपि जन-समूह

का प्रभाव था, तो भी यहाँ व्यक्ति-विशेष की प्रभुता अक्षुण्ण रही। जब रोम ने संसार के अधिकांश भाग को अपने अधीन कर लिया, तब उसका पार्थिव वैभव खूब बढ़ गया। इस वैभव पर रोम के जन-समूह का भी अधिकार हो गया। जब समाज के एक क्षुद्र अंश में संपत्ति केंद्रीभूत हो जाती है, तब उसका कितना विषमय फल होता है, यह रोम के इतिहास से स्पष्ट प्रकट है। रोम के सर्व-साधारण अपनी आर्थिक उन्नति और क्षमता के कारण मदोन्मत्त हो गए थे। उनकी पाशव प्रकृति और दुराचार की बातें पढ़कर घृणा होने लगती है। यह सच है कि रोम ने प्रजा सत्ता के राज्य को जन्म दिया, उसने विद्या और विज्ञान की भी उन्नति की, परंतु उसकी विजय-लालसा और क्षमता-वृद्धि से तत्कालीन समाज ने लाभ नहीं उठाया। हाँ, परवर्ती समाज ने उससे शिक्षा अवश्य ग्रहण की। ईसाई-धर्म में सांसारिक वैभव का तिरस्कार किया गया है, और क्षमता के स्थान में प्रेम और सहनशीलता का आदर है। इसी धर्म ने योरप की सभ्यता का नवीन रूप दिखलाया। तब राजनीति और समाज में धर्म का प्रभुत्व स्थापित हुआ। यही मध्य युग का प्रारंभ काल है। शासक और शासित वर्ग, राजा और प्रजा, दोनो के लिये समाज ने एक मर्यादा निश्चित कर दी। पोप की शक्ति का प्रधान कारण यही था कि वह लोक-मर्यादा का संरक्षक समझा जाता था। योरप उसे पृथ्वी पर भगवान् का प्रतिनिधि समझता था। पोप के व्यक्तित्व पर कोई शक्ति आरोपित नहीं की गई थी। शक्ति समाज की थी, और पोप था उसका प्रतिनिधि। योरप में जो स्थान पोप का था, मुसलमानी साम्राज्य में वही स्थान ख़लीफ़ा को दिया गया। पर ख़लीफ़ा मुसलमानों की राजनीति और धर्म, दोनो का परिचालक था। यद्यपि वर्तमान युग में ख़लीफ़ा का वह राजनीतिक प्रभुत्व नहीं

ो पहले था, तो भी धर्म में उसका प्रभाव अक्षुण्ण

-जाति ने संसार में चैतन्य-शक्ति का अनुभव कर मनुष्य
ीिंद्रिय (इंद्रियों से परे) जगत् की अक्षय-संपत्ति का संदेश
उसने बतलाया कि कहीं भी जाओ, किसी ओर देखो,
वही सत्य है। जल और स्थल में, ओषधि और वनस्पति
ी और अंतरिक्ष में, इह-काल और पर-काल में उसी सत्य
। व्याप्त है। उसी की प्राप्ति जीवन का परम लक्ष्य है।

ह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ;
षु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।"

क-जाति ने इस माधुरीमय विश्व में सौंदर्य का अनुभव
। उसने सौंदर्य-रचना की कुशलता प्रकट कर मनुष्य-हृदय की
पासा को तृप्त किया, और उसी के साथ विश्व-विमोहन की
लीला को प्रकट किया।

मन-जाति ने ऋषि और कवि की आत्मपरायणता का अति-
कर पृथ्वी पर कर्म-शक्ति का प्रचार किया। भगवान् क्रिया-
हैं, उनका रूप सर्व-मंगल-विधायक शिव-स्वरूप है। रोम के
ास में उसका यही रूप प्रकट हुआ है। यदि यह कहा जाय
नुष्य का मन ज्ञान, हृदय और इच्छा-शक्ति से गठित है,
ानपरायण हिंदू ने ज्ञान का, सौंदर्य-पिपासु ग्रीक ने हृदय का
कर्म-वीर रोमन ने इच्छा-शक्ति का पूर्ण विकास किया है।
तीन जातियों ने भगवान् के सत्य, सुंदर और शिव-रूप को
ात कर संसार में सत्य का पूर्ण रूप स्थापित किया है।

---

* हाल में उसका धार्मिक अधिकार या प्रभाव भी वहाँ नष्ट कर
गया है।—संपादक

मध्य-युग में मुसलमानों की ख़ूब श्री-वृद्धि हुई। सातवीं शताब्दी में मुहम्मद ने अपना मत चलाया। जिन जातियों में पहले, संगठन के अभाव से, शक्ति नहीं थी, उन्हें धर्म के सूत्र में बाँधकर मुहम्मद ने संसार की सर्व-श्रेष्ठ जाति बना दिया। मध्य-युग में मुसलमानों ने ही सर्वत्र विद्या और विज्ञान का प्रचार किया।

मुसलमानों की उन्नति का सबसे बड़ा कारण यह है कि उन्होंने धर्म को राजनीति से पृथक् नहीं किया। बग़दाद का ख़लीफ़ा मुसलमानी साम्राज्य का अधिपति था, और उसके धर्म का आचार्य भी। धार्मिक मुसलमान राजनीतिक शक्ति की कामना से युद्ध नहीं करता था; वह सत्य के प्रचार के लिये अपना बलिदान करता था। मध्य-युग की किसी दूसरी जाति में धार्मिक भावों की ऐसी प्रबलता नहीं थी। यह सच है कि जब मुसलमानों के साथ ईसाइयों का युद्ध हुआ, तब पोप की प्रार्थना पर सभी ईसाई-सम्राट् सम्मिलित हुए। परंतु सब सम्राटों का एक लक्ष्य कभी नहीं हुआ। आत्मरक्षा के लिये अपनी बराबरी के शत्रु के विरुद्ध कुछ लोग कुछ समय के लिये एकता स्थापित कर सकते हैं। पर वह एकता चिरस्थायी नहीं हो सकती। ईसाई-सम्राटों को धर्म-रक्षा से अधिक अपने देश की रक्षा का ध्यान था। वे जानते थे कि ईसाई-मत की उन्नति से उनके देश की उन्नति न होगी, और न उसकी अवनति से उनके देश का पतन ही होगा। पोप का धार्मिक प्रभुत्व नष्ट हो जाने पर फ़्रांस और इँगलैंड अधःपतित नहीं हुए। परंतु मुसलमानों का लक्ष्य दूसरा था। ख़लीफ़ा की उन्नति से उनकी उन्नति थी, और उसकी अवनति से उनका पतन। संसार में व्यक्ति और समाज का संघर्ष चल रहा था; परंतु मुसलमानों में यह प्रश्न उठा ही नहीं। यही उनकी उन्नति का और यही उनके पतन का प्रधान कारण हुआ। मुसलमानों का यह धार्मिक भाव

एक क्षुद्र सीमा में ही प्रबल हो सकता है। जल में पत्थर फेकने से जो लहर उठती है, वह बढ़ती जाती है; पर ज्यों-ज्यों वह बढ़ती है, त्यों-त्यों उसकी शक्ति क्षीण होती जाती है। यही हाल मुसलमानों की धर्म-शक्ति का था। जब उनका प्रसार खूब हो गया, तब उनकी वह शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई। जो भावना अल्प-संख्यक लोगों में विभक्त होकर तीव्र हो गई थी, वह बहु-संख्यक मनुष्यों में फैलकर मानो निस्तेज हो गई। देशों के फ़ासलों ने मुसलमानों के धार्मिक भावों को दूर कर दिया। उन्हें भी धर्म की अपेक्षा देश की रक्षा का ध्यान अधिक होने लगा। देश-रक्षा के लिये प्रजा की सहयोगिता चाहिए। मुसलमानों की धार्मिक भावना ने जहाँ-जहाँ राजा और प्रजा के बीच में एक दीवार खड़ी कर दी थी, वहाँ-वहाँ उनका आधिपत्य नष्ट हो गया। जहाँ राजा और प्रजा में किसी प्रकार का धार्मिक व्यवधान नहीं था, जहाँ एक ही समाज का प्राबल्य था, वहाँ मुसलमानों का आधिपत्य आज तक विद्यमान है।

आधुनिक युग का आरंभ रोम-साम्राज्य का पतन होने पर हुआ। रोम-साम्राज्य का अधःपतन होने पर भिन्न-भिन्न देशों के राजों की शक्ति बढ़ गई। सभी राजा स्वार्थ-साधन की चेष्टा करने लगे। सभी अपनी शक्ति बढ़ाना चाहते थे। पर यह कोई नहीं चाहता था कि किसी एक की शक्ति सबसे अधिक हो जाय। इसीलिये राजों में बल-सामंजस्य का आदर्श निश्चित हुआ। कुछ नरेश मिलकर मैत्री द्वारा अपने पक्ष को पुष्ट करने लगे। इसी समय योरप में नवीन युग स्थापित हुआ। मध्य-युग के बाद सर्व-साधारण में विद्या और विज्ञान का प्रचार होने से जो जागृति हुई, उससे समाज में राजनीतिक जागृति भी हुई। समाज का राजनीति से और राजनीति का व्यवसाय से घनिष्ठ संबंध हो

गया। पहले तो राजा और प्रजा में राजनीतिक सत्ता के लिये बड़ा विरोध हुआ, पर अंत में राज्य पर राष्ट्र का ही प्रभुत्व स्थापित हुआ। राष्ट्र की प्रभुता का कारण था उसकी व्यवसाय-वृद्धि। इसका परिणाम यह हुआ कि अब राष्ट्रों के पारस्परिक विग्रह में उसी राष्ट्र की विजय हो सकती है, जो सबसे अधिक समृद्धिशाली हो।

वर्तमान युग में योरप का ही व्यवसाय सबसे अधिक उन्नत है। अमेरिका और जापान की शक्ति का प्रधान कारण है उनका व्यवसाय। व्यवसाय के क्षेत्र में छोटे-बड़े सभी राष्ट्र एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी हैं। संसार के व्यवसाय को अपने हाथ में करने के लिये अभी तक कई महायुद्ध हो चुके हैं। आधुनिक योरप का इतिहास एक व्यावसायिक युद्ध से आरंभ हुआ है। गत योरपियन महासमर का भी कारण यही प्रतियोगिता है। अपनी समृद्धि के लिये अब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की संपत्ति हड़प जाने में ज़रा भी संकोच नहीं करता। परंतु राजनीतिक सत्ता से ही यह संभव नहीं है। ब्रिटिश-साम्राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली है; परंतु व्यवसाय के क्षेत्र में वह अद्वितीय नहीं है।

अब यह प्रश्न होता है कि यह राष्ट्र है क्या? क्या वह सजीव व्यक्तियों का समुदाय है, या केवल एक निर्जीव विचार-मात्र, जिसका अस्तित्व केवल राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क ही में है? अवश्य ही जब यह कहा जाता है कि किसी देश की संपत्ति इतनी है, तब अर्थ-शास्त्र के विद्वान् अंकगणित के द्वारा यह सिद्ध कर देते हैं कि उक्त देश के प्रत्येक व्यक्ति की संपत्ति इतनी है। परंतु क्या राष्ट्र की संपत्ति पर प्रत्येक व्यक्ति का समान अधिकार है? क्या राष्ट्र की उन्नति होने पर प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति करने का अवसर मिलता है? नहीं। बात यह है कि थोड़े ही योग्य मनुष्यों में राष्ट्र की शक्ति और संपत्ति बँट गई है। वर्तमान अशांति का सबसे बड़ा कारण

यह है कि अब प्रत्येक व्यक्ति अपने विकास के लिये क्षेत्र चाहता है।

मानवीय सभ्यता की उन्नति का मुख्य कारण है अभावों की अभिवृद्धि। अपनी वर्तमान स्थिति से मनुष्यों को कभी संतोष नहीं होता। उन्हें अपने जीवन में सदा अपूर्णता ही देख पड़ती है। इसी अपूर्णता को दूर करने की चेष्टा में सब लोग लगे हुए हैं। परंतु हज़ार प्रयत्न करने पर भी वे अपने समस्त अभावों को दूर नहीं कर सकते। कोई भी यह नहीं जान सकता कि जीवन की पूर्णावस्था कब होगी।

मनुष्यों का यह अनवरत प्रयास ही संसार का साहित्य है। साहित्य की सृष्टि तभी हो जाती है, जब बाह्य प्रकृति से साहचर्य स्थापित होने के साथ ही मनुष्यों के हृदय में भिन्न-भिन्न भावनाएँ उत्पन्न होने लगती हैं। इसमें संदेह नहीं कि भाषा के विकास से साहित्य की पुष्टि होती है; परंतु हमें साहित्य का जन्म भाषा की उत्पत्ति के पहले मानना पड़ेगा; क्योंकि भावना पहले होती है, और उसकी अभिव्यक्ति की चेष्टा पीछे। अतएव यह बतलाना असंभव है कि विश्व-साहित्य का आरंभ कब हुआ।

साहित्य का सम्मिलन

साहित्य बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् का द्वार खोल देता है, अर्थात् मनुष्यों के भीतर और बाहर जीवन का जो एक प्रवाह बह रहा है, उसी का वह केन्द्र-स्थान है। यहीं सब चिंता स्रोतों का सगम होता है। साहित्य का भाव जगत् इस जड़ जगत् के समान ही सत्य है। मनुष्य की सृष्टि होने पर भी वह अक्षय है। कवियो ने इस जगत् में जिन महान् पुरुषों की सृष्टि की है, वे सब अक्षय पद प्राप्त कर चुके हैं। वे उस गौरव के पद को पहुँच चुके हैं, जहाँ से उनकी दृष्टि समग्र ससार पर जा सकती है।

साहित्य की इस अक्षय सृष्टि के साथ ही एक दूसरा साहित्य होता है, जो चिरस्थायी नहीं है, तो भी कम महत्व नहीं रखता। प्राचीन काल में मनुष्यों ने ज्ञान की जो संपत्ति जोड़ी थी, उसका अब पता नहीं लगता। परतु इससे क्या हम यह कह सकते हैं कि उनकी वह सपत्ति बिल्कुल नष्ट हो गई? यह सच है कि अब हम यह नहीं जान सकते कि किस जाति ने कब किस ज्ञान का प्रचार किया। तथापि हम यह निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि वर्तमान युग का विद्या मन्दिर उन्हीं की उपार्जित ज्ञान राशि पर खड़ा है। समय समय पर लोगो ने धार्मिक और जातीय विद्वेष के भाव से अपने विरोधियो के साहित्य को नष्ट करने का प्रयत्न किया है। पर यह बड़े आश्चर्य की बात है कि उनके साहित्य में परस्पर एक दूसरे का प्रभाव विद्यमान है। सामाजिक और धार्मिक बधनों के कारण हिंदुओं और मुसलमानों का सम्मिलन कभी नहीं हुआ; पर साहित्य में दोनो निस्सकोच एक दूसरे से मिल गए हैं। संसार

में इनका पारस्परिक व्यवहार कितना ही विद्वेष-पूर्ण क्यों न हो, पर विश्व-साहित्य के निर्माण में सभी एक भाव से काम कर रहे हैं। ब्राइस साहब ने एक बार कहा था कि संसार में कभी बीस-पचीस मुख्य भाषाएँ रह जायँगी। इससे भी यही सिद्ध होता है कि एक जाति दूसरी जाति की भाषा को किस तरह अपना रही है। आजकल कुछ लोग विश्व-भाषा की कल्पना कर रहे हैं। परंतु विश्व-भाषा और विश्व-साहित्य मनुष्य के लिये स्वाभाविक है। सभी देशों और साहित्यों की गति एक दिशा की ओर है। संभव है, कभी एक विश्व-भाषा और साहित्य का निर्माण हो जाय।

भारतीय आर्यों का सर्वस्व वेद है। वेदों के ज्ञान के जिस स्रोत का उद्गम हुआ, उसी से हिंदू-साहित्य आज तक प्लावित है। हमारे षड् दर्शनों और उपनिषदों ने उसी के आधार पर ज्ञान का विशाल भवन निर्मित किया। इतना ही नहीं, हिंदुओं का ज्योतिःशास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, गणित और विज्ञान, सब उसी से निकले हैं। भारतीय आर्यों ने अपने ज्ञान की अच्छी वृद्धि भी की। भारत की सजला और सफला भूमि में उन्हें आत्म-चिंतन के लिये कोई भी बाधा नहीं थी। कितने ही लोगों का ख़याल है कि भारतवर्ष में विज्ञान की चर्चा कभी थी ही नहीं। परंतु यह उनका भ्रम है। भारतवर्ष में सत्य ज्ञान का पर्यायवाची है। भारतीयों का विश्वास है कि ईश्वर ज्ञानमय है, और मनुष्य उसका अंश। उसमें यह शक्ति है कि वह ज्ञानमय ईश्वर के सामीप्य को पहुँच सकता है। जो अनंत ज्ञान के उपलब्धि के लिये अपने को योग्य समझता है, वह भौतिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त न करे, यह संभव नहीं।

विज्ञान में भारत ने बड़ा काम किया है। अंक-गणित, रेखा-गणित और बीज-गणित में उसी ने पहलेपहल आविष्कार किए।

दशमलव की रीति उसी की है। एक विद्वान् का कथन है कि अरब निवासियों ने भारतीय बीज-गणित का अनुवाद अपनी भाषा में किया, और उसी से ज्ञान प्राप्त कर पिज़ा के लिश्रोनार्डो ने योरप में बीज-गणित का प्रचार किया। प्रयोगात्मक विज्ञान में भी भारत का दख़ल था। साठ सत्तर साल पहले बोगदे की निर्माण-कला पाश्चात्यों को अज्ञात थी। परंतु भारत में एलोरा के गुफा-मंदिरों को बने हज़ारों वर्ष हो गए। जैसे लोह-स्तंभ भारत के प्राचीन कारीगरों ने तैयार किए हैं, वैसे स्तंभ बना लेना पचास-साठ वर्ष पहले तक योरप के लिये दुष्कर था। प्राचीन काल में बेबीलान और असीरिया भी सभ्यता के केंद्र थे। इनका प्रभाव भारत पर पड़ा, और भारत का प्रभाव इन पर। विद्वानों की राय है कि हिंदू स्थापत्य पर असीरिया का प्रभाव विद्यमान है। इन दोनों की देवता-संबंधी कल्पनाओं में भी आश्चर्य-जनक सादृश्य है। कुछ लोग यह कहते हैं कि ज्योतिष में सत्ताईस नक्षत्रों के मंडल की गणना हिंदुओं ने असीरिया के लोगों से सीखी। चिकित्सा-शास्त्र में भी भ रत ने बड़ी उन्नति की थी। योरप में हिपोक्रेटस चिकित्सा शास्त्र का जनक समझा जाता है। आधुनिक अनुसंधान से विदित होता है कि उसने यह शास्त्र भारत से ही लिया था।

यदि ग्रीस ने भारत से कुछ लिया, तो उसकी वृद्धि भी अच्छी की। काव्यों में वियोगांत नाटकों की उत्पत्ति ग्रीस में ही हुई। दर्शन-शास्त्र में साक्रेटीज़, प्लेटो और अरिस्टॉटिल के नाम अमर हैं। यूक्लिड का नाम कौन नहीं जानता? हेरोडोटस ने इतिहास लिखकर आधुनिक इतिहास को जन्म दिया। सिकंदर की दिग्विजय के पश्चात् ग्रीस की सभ्यता प्राच्य देशों में फैल गई। पाश्चात्य विद्वानों का अनुमान है कि भारत के बौद्धकालीन कला-कौशल पर ग्रीस की छाया विद्यमान है। विद्याभूषण महाशय की

राय है कि भारतवर्ष के न्याय पर अरिस्टॉटिल के न्याय का प्रभाव अवश्य पड़ा। धर्मकीर्ति और उद्योतकर पर सीरिया और पर्शिया के नैयायिकों का प्रभाव पड़ा। कुछ लोगों की यह भी सम्मति है कि हिंदू-नाटकों में भी ग्रीस का प्रभाव विद्यमान है।

एशिया में चीन की सभ्यता बड़ी प्राचीन है। भारत से चीन का घनिष्ठ संबंध था। यह संबंध बौद्ध-धर्म के कारण हुआ। सीलोन, जावा, बर्मा, स्याम और जापान भी इसी संबंध-सूत्र से बँधे हैं। बौध-धर्म की प्रचार-कथा बड़ी मनोरंजक है। चीनी-ग्रंथों में लिखा है कि चीन के सम्राट् मिंगटी ने एक विचित्र स्वप्न देखा। उसने देखा कि विशाल स्वर्ण-मूर्ति उसके राजमंदिर में प्रवेश कर रही है। दूसरे दिन, पूछने पर, लोगों ने उससे कहा कि आपको स्वप्न में गौतम बुद्ध का दर्शन हुआ है। तब सम्राट् ने दूत भेजकर बुद्ध की मूर्ति और धर्म-ग्रंथ भारत से मँगवाए। उसके दूतों के साथ मातंग-नामक एक भारतीय विद्वान् भी गया। उसने सूत्र के बयालीस प्रकरणों का अनुवाद चीनी-भाषा में किया। उसकी मृत्यु चीन में ही हुई। उस समय बौद्ध-धर्म के पाँच ही ग्रंथ थे। उनमें से दसभूमि-सूत्रों का और ललित-विस्तर का अनुवाद राजा की आज्ञा से, सन् ७६ ई० में, किया गया। तब चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार बढ़ने लगा।

सन् १५० ई० में एन्०-शी०-को नाम के एक चीनी ने भी कुछ बौद्ध-धर्म-ग्रंथों का अनुवाद, अपनी भाषा में, किया। सन् १७० में चिलिन ने निर्वाण-सूत्र का अनुवाद किया। सन् २५० में चिमेंग को एक आचार-पद्धति-विषयक ग्रंथ मिला। उसको उसी ने चीनी-भाषा में लिख डाला। धर्मरक्ष नाम का एक बौद्ध-श्रमण सन् २६० में चीन पहुँचा। लायंग-नगर में वह २६५ से ३०८ ई० तक ठहरा रहा। उसने, चीन की भाषा में, १६५ बौद्ध-ग्रंथों का

अनुवाद किया। ललित-विस्तर का संशोधन भी उसी से कराया गया। निर्वाण-सूत्र के चीनी-अनुवाद को देखकर उसी ने उसे शुद्ध किया। सन् २०० ई० में चि-कुंग मिंग नाम के किसी अन्य-देशीय विद्वान् ने विमल-सूत्र का अनुवाद किया। सद्धर्म-पुंडरीक नाम के ग्रंथ का चीनी-अनुवाद भी उसी की कृति है।

सन् ३३५ में चीन देश के निवासियों को बौद्ध-भिक्षु होने की आज्ञा मिल गई। यह काम बौद्धसिंह नाम के किसी भारतीय विद्वान् के आदेश से हुआ था। तब तक वहाँ केवल भारतीय बौद्ध ही मंदिर बनवाते थे। पर शीघ्र ही चीनवालों ने भी मंदिर बनवाना आरंभ किया। ३२० मे लायग में ही पेगोडा-नामक ४० मंदिर निर्मित हुए। उनमें से कई तो ६-६ मंज़िलों के थे। सम्राट् यश्रो हिंग ने ३६७ और ४१५ ई० मे भारतीय विद्वान् कुमार-जीव को बुलाकर आदर-पूर्वक रक्खा। धीरे-धीरे ८०० बौद्ध विद्वान् एकत्र हुए। सम्राट् स्वयं उपस्थित थे। धर्म-ग्रंथों की रचनाओं पर विचार हुआ। राजकुमार यश्रो-वंग और यश्रो-संग ने उनकी नक़ल करने का भार उठाया। इसी समय फ़ाहियान-नामक चीनी यात्री भारतवर्ष में भ्रमण करने के लिये आया। वह सन् ४११ में चीन लौटा। तब तक वहाँ संग और वे-वंश का आधिपत्य हो गया था। उनके राजत्व-काल में बौद्ध-धर्म पर आघात होने लगे। पर उससे कुछ अधिक क्षति नहीं हुई। बौद्ध-धर्म का प्रचार बढ़ता ही गया। सन् ४६७ में, वे-वंश के एक राजकुमार के आदेश से, भगवान् बुद्ध की एक विशाल मूर्ति निर्मित हुई। वह ४० फ़ीट ऊँची थी। इसके बाद, पाँच ही वर्ष में, वह राजकुमार बौद्ध-भिक्षु हो गया।

ईसा की छठी शताब्दी के आरंभ में, चीन में, ३,००० से अधिक भारतीय बौद्ध थे। बौद्ध-धर्म की उपासना-गृहों की संख्या भी १३,००० हो गई थी। लियोग का राज्य फिर बौद्ध-धर्म के अनु-

फ़ल हो गया। एक राजा ने बौद्ध-धर्म में दीक्षित होकर स्वयं कुछ काल तक धर्मोपदेश किया। उसका शासन-काल ५०२ से ५५० ईसवी तक रहा। २६ वर्ष राज्य करने के बाद वह बौद्ध-भिक्षु हो गया। बोधिधर्म, जिसकी चीन में बड़ी ख्याति है, सन् ५२६ में कैंटन-नगर पहुँचा। सन् ५१८ ई० में संग-यून नाम का एक विद्वान् भारतवर्ष आया। वह तीन वर्ष बाद लौटा। वह यहाँ से १७५ ग्रंथ ले गया। तंग-वंश का राजत्व-काल ६२०-९०४ ई० तक था। उसके प्रथम नरेश के समय में तो बौद्ध-धर्म के प्रचार में बाधा पड़ी, पर शीघ्र ही वह दूर हो गई। दूसरे नरेश के समय में ही हुएन-संग नाम के प्रसिद्ध यात्री ने भारत की यात्रा की।

आठवीं शताब्दी के आरंभ में, कनफ़्यूशियस के चलाए हुए धर्म के अनुयायियों के प्रयत्न से १२,००० बौद्ध-भिक्षु बौद्ध-धर्म छोड़कर सांसारिक कर्मों में लिप्त हो गए। सन् ७६० ई० में सुसंग-नामक राजा के राज्य प्राप्त करने पर बौद्ध-धर्म का फिर प्रचार बढ़ा। सुसंग के बाद टेसंग राज्यासन पर अधिष्ठित हुआ। वह तो बौद्ध-धर्म का दृढ़ भक्त निकला। सम्राट् हीन-संग ने ८१९ ई० में बुद्धदेव की एक अस्थि को ख़ूब समारोह के साथ प्रतिष्ठित किया। पर ८४५ ई० में बौद्ध-धर्म पर फिर आघात हुए। वुत्संग नरेश की आज्ञा से ४,६०० बौद्ध-मठ नष्ट कर दिए गए, और ४०,००० छोटे-छोटे मठ मिट्टी में मिला दिए गए। उनके लिये जो ज़मीन दी गई थी, वह भी ज़ब्त कर ली गई। पर वुत्संग के बाद फिर बौद्ध-धर्म का काम शांति-पूर्वक चलता रहा।

सम्राट् ईत्सिंग बौद्ध-धर्म का अनुयायी हुआ। वह अपने महल में बौद्ध-भिक्षुओं को बुलाकर धर्मोपदेश सुना करता था। उसने संस्कृत का भी अध्ययन किया। वह संस्कृत में ही मंत्रोच्चारण किया करता था।

१०३५ ई० में जिन सग ने ५० विद्यार्थियों को सस्कृत का ज्ञानोपार्जन करने के लिये नियुक्त किया । मगोल-सम्राट् कुबलीखाँ भी बौद्ध धर्म का पक्षपाती था ।

चीनी यात्री बराबर भारतवर्ष आया करते थे । सन् ९६१ ई० में एक बौद्ध विद्वान् ताड़पत्र के ५० ग्रथ भारतवर्ष से ले गया । उसके दूसरे ही साल १५७ चीनी यात्री आए । तोयु नामक एक चीनी फ़ाहियान का विवरण पढ़कर इतना उत्साहित हुआ कि स्वय भारत यात्रा के लिये निकल पड़ा ।

चीन, तिब्बत, जापान आदि देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये कितने ही विद्वान् गए। चीन और तिब्बत में कितने ही भारतीय साहित्य के ग्रथ विद्यमान हैं। भिन्न भिन्न शास्त्रों की भी वहाँ खूब चर्चा हुई। न्याय शास्त्र का अबाध प्रचार हुआ। चीन में हिंदू-न्याय शास्त्र का प्रचार हुएन सग ने किया। हुएन सग का जन्म सन् ६०० ई० में हुआ था। युवावस्था में उसने खूब अध्ययन किया। २८ वर्ष की अवस्था में उसने भारत में आकर न्याय शास्त्र का अध्ययन करने का निश्चय किया। ६२८ में वह चीन से रवाना हुआ। काश्मीर में वह सारययशा (Sankhya Yasha) नामक एक विद्वान् से मिला। सारययशा की उम्र उस समय ७० वर्ष की थी। उसने कुछ समय तक हुएन-सग को शिक्षा दी, फिर वह मध्य भारत में आया। वहाँ उसने नालदा में शीलभद्र के दर्शन किए। वहीं वह पाँच वर्ष तक रहकर अध्ययन करता रहा। फिर वह दो महीने तक प्रजिनभद्र के पास रहा। इसके बाद जयसेन के पास दो साल रहकर उसने शिक्षा समाप्त की। सोलह वर्ष बाद वह चीन लौटा। वह अपने साथ ६५७ सूत्र और शास्त्र ग्रथ ले गया। कोह फुक जी (Koh fuk ji) के मठ में रहकर उसने उनका चीनी भाषा में अनुवाद किया। १९ वर्ष

तक वह इसी काम में लगा रहा। हेतु-विद्या का भी उसने अनुवाद किया। ६६४ में, ६४ वर्ष की अवस्था में, उसका देहांत हुआ।

उसके शिष्यों में न्याय-शास्त्र का सबसे बड़ा विद्वान् क्वेई-की (Kwei-ke) हुआ। दिङ्नाग के शास्त्र और हुएनसंग की व्याख्याओं के आधार पर उसने शंकर के प्रवेश-शास्त्र पर एक भाष्य लिखा। चीन में भारतीय न्याय का सबसे प्रामाणिक ग्रंथ यही है। इसे सब लोग महाभाष्य कहते हैं। उसके समय में चुङ्की, वुंवो, सेमाई, शिनताई, जोगन आदि कई विद्वान् हुए। उन्होंने भी ग्रंथ-रचना की। पर महाभाष्य के कारण उनमें से किसी की भी कृति का प्रचार न हुआ।

क्वेई-की के शिष्य केशोह ने न्याय के प्रचलित भाष्यों पर आलोचना लिखी। उसके शिष्य ची-शू ने महाभाष्य में प्रयुक्त न्याय के शब्दों का तात्पर्य समझाने के लिये दो ग्रंथों की रचना की। इसके बाद दोयू, दोहकन, तेकन, सेकवा आदि न्याय के अनेक पंडित हुए।

जापान से, सम्राट् कोहतोक के शासन-काल में, ६५३ ई० में, एक जापानी भिक्षुक—दोहशोह—चीन में धर्म-शास्त्र पढ़ने के लिये आया। यहाँ वह तीन वर्ष तक रहा। इसी समय हुएनसंग अपनी भारत-यात्रा समाप्त कर चीन लौटा था। उसकी कीर्ति खूब फैली हुई थी। दोहशोह ने उसी के पास जाकर अध्ययन किया। ६५६ ई० में वह जापान लौटा। वहाँ नारा के जेनकोजी नाम के मठ में उसने शास्त्र-चर्चा की। उसकी इन शास्त्र-व्याख्याओं को दक्षिण-मंदिर (South Hall) का सिद्धांत कहते हैं। उसके पाँच साल बाद, सम्राट् गेनशोह के राजत्व-काल में, ६५८ ई० में, ची-शुह और चिनातन नाम के दो विद्वान् फिर चीन गए। वहाँ से वे भारतीय न्याय-शास्त्र ले आए।

७०३ ई० में, सम्राट् तेंग के समय में, चिरन और चियूह के साथ चीन जाकर, चिहोह महाभाष्य आदि कई ग्रंथ लाया। चिहोह के अनेक शिष्य थे। उनमें से जेंयोह भी, ७१६ ई० में, चिसई के पास जाकर अपने साथ महाभाष्य तथा और कई ग्रंथ लाया। उसकी शास्त्र-व्याख्याओं को उत्तर-मंदिर (North Hall) की शिक्षा कहते हैं। दोनो ही सिद्धांतों का खूब प्रचार हुआ। फिर मिओसेन जेनशू, शिमाकेओ जेनीशन, जोहशू आदि न्याय के कई विद्वान् हुए।

चीन और जापान में भारतवर्ष का प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रभाव की इयत्ता जानने के लिये इन देशों के इतिहास, साहित्य तथा कला का ज्ञान प्राप्त करना होगा। इनके जातीय जीवन में भी भारतीय विचारों का प्रवेश हो गया है। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि जापान के सम्राट् अपनी उत्पत्ति सूर्य से मानते हैं, और जापान का राष्ट्रीय झंडा सूर्यांकित है? ईसा की आठवीं सदी में, भारतीय प्रभाव से ही, जापान के पुरोहितों और योद्धाओं की उन्नति हुई। आजकल भी जापानी साधुओं का रहन-सहन तथा उनकी विचार-परंपरा बिलकुल भारतीयों के समान है। सामुराई-जाति में जो मान-मर्यादा, स्वामिभक्ति तथा सरलता देखी जाती है, उसका भी कारण भारतीय प्रभाव है। प्राचीन काल में भी चीन अपने कला-कौशल के लिये विख्यात था। यह संभव नहीं कि भारत ने उससे कुछ भी ग्रहण न किया हो। नेपाल में भारतीय मंगोल-जाति निवास करती है। वहाँ हिंदू तथा चीनी स्थापत्य का विलक्षण सम्मिश्रण हुआ है। तिब्बत, जावा, बर्मा और स्याम में भी इन दोनों सभ्यताओं का सम्मिलन हुआ है। इन देशों में भारतीय विचारों की पहुँच बौद्ध-धर्म के द्वारा हुई, और मंगोलों के विचार भारत में इन्हीं देशों से होकर आए।

किसी समय बौद्ध-धर्म के प्रचारकों ने एशिया के पश्चिमी देशों में अपने मत का ख़ूब प्रचार किया। उन्हीं लोगों से वहाँ भारतीय ज्ञान का प्रसार हुआ। भारतवर्ष की शिक्षा ही फ़ारस की ज्ञानोन्नति का मूल है। इसके बाद इस्लाम का अभ्युत्थान हुआ। अरब-निवासियों ने भारत से तो सीखा ही था, इधर मिस्र और ग्रीस के साहित्य ने भी अरबी-साहित्य को ख़ूब उन्नत किया। क्रमशः मुसलमानों की राजनीतिक शक्ति बड़ी प्रचंड हो गई। उन्होंने एशिया, योरप और आफ़्रिका के अधिकांश भागों पर अधिकार कर लिया। भारतवर्ष पर भी उनका प्रभुत्व स्थापित हुआ। तब इसने भी अरब से कितनी ही बातें सीखीं। अरबी-साहित्य का प्रभाव भारतीय साहित्य में आज तक विद्यमान है। ख़लीफ़ा अली के वंशजों से सीरिया को छीनकर माविया ने कैसे उस पर अधिकार कर लिया, और वहाँ उम्मिया-वंश का आधिपत्य कैसे स्थापित किया, यह इतिहासज्ञों को मालूम है। इसी माविया ने दमिश्क में राजधानी स्थापित की। कुछ काल तक इसके वंशधरों ने राज्य किया। अब्बासी-राजवंश ने उनका आधिपत्य हटा दिया, और अपना प्रभुत्व जमाया। इस वंश के द्वितीय ख़लीफ़ा अल-मंसूर ने दमिश्क से राजधानी हटाकर बग़दाद में कर दी। अरबों की विज्ञान-चर्चा के मुख्य स्थान दमिश्क और बग़दाद ही थे।

अमीरअली का कथन है—"The accession of the Ommeyads to the rulership of Islam was a blow to the progress of knowledge." उम्मिया-वंश के शासन-काल में मुसलमानों में ज्ञान का प्रसार नहीं हुआ। इस वंश के संस्थापक माविया ने असत्पथ से राज्य प्राप्त किया था।

परंतु इसी वंश के ख़लीफ़ा उमर का आधिपत्य होने पर विद्या को ख़ूब प्रोत्साहन मिला। उसने विलासिता में ही अपना जीवन

नहीं व्यतीत किया। उसके समय में अलेक्ज़ंड्रिया का स्थान एंटियाक और हारान ने ले लिया। ये ही शिक्षा के केंद्र हो गए। इब्न अरबज़ार अलेक्ज़ंड्रिया में ग्रीक-दर्शन का अध्यापक था। उसे ख़लीफ़ा उमर ने चिकित्सा-विभाग में सबसे उच्च पद पर रक्खा।

हारान के निवासी ग्रीक और अरबी, दोनो ही भाषाओं में निपुण होते थे। उन्हीं के कारण ग्रीक-सभ्यता और भाषा का प्रभाव अरबी-भाषा पर पड़ा। फिर भी उम्मिया के शासन-काल में विद्या की उन्नति अवरुद्ध थी। ख़लीफ़ा युद्ध में लिप्त रहते थे। विद्वानों का मान होता था। अबूबक, उमर और अली के वंशजों ने अरब-देश का नाम रख लिया।

अब्बास-वंश के अलमंसूर ने सिंहासनारूढ़ हो बग़दाद को राजधानी बनाया। तब से बग़दाद ही विद्या का केंद्र हो गया। शिल्प, वाणिज्य और विज्ञान की उन्नति में बग़दाद का ही सबसे ऊँचा स्थान है। अब्बास-वंश के शासन-काल में मुसलमानों का राज्य खंड-खंड हो गया। पश्चिमी आफ्रिका तो बिलकुल ही स्वतंत्र हो गया। इस घराने के नरपति साम्राज्य-विस्तार की लालसा छोड़कर विज्ञान की ही उन्नति में लगे। अलमंसूर को विद्या से बड़ी अभिरुचि थी। उसके समय में भिन्न-भिन्न भाषाओं से अनेक ग्रंथ अरबी में अनुवादित हुए। हितोपदेश और सिद्धांत-नामक ज्योतिष-ग्रंथ के अनुवाद उसी के समय में हुए। अरिस्टाटिल के कुछ ग्रंथ, टॉलेमी (Ptolemy) का आलमेजस्ट (Almagest), यूक्लिड का ज्यामिति-शास्त्र और प्राचीन ग्रीक तथा फ़ारसी-भाषा के अन्य ग्रंथ भी अनूदित हुए।

अलमंसूर स्वयं विद्वान् था। अलंकार-शास्त्र में वह बड़ा प्रवीण था। इन अनुवादों को वह स्वयं पढ़ा करता था। उसके बाद भी जितने ख़लीफ़ा हुए, सभी विद्या के प्रेमी थे। अब्बासी राजवंश के छठे

ख़लीफ़ा हारूँरशीद की बड़ी प्रसिद्धि है। उसकी राजसभा में अनेक विद्वान् थे। उनका ख़ूब आदर होता था। शिल्प और विज्ञान की उन्नति में उसने ख़ूब ख़र्च किया। वह संगीतज्ञों का भी मान करता था। उन्हें उपाधि तक देता था। उनकी जीविका का भी प्रबंध करता था। इससे उसके समय में संगीत की भी अच्छी उन्नति हुई।

इसके बाद मामूँ ख़लीफ़ा के पद पर अधिष्ठित हुआ। उसके समय में अरब की सभ्यता और विद्या उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गई। एक अँगरेज़ लेखक ने लिखा है—"In the Middle Ages the Arabs were sole representatives of civilisation. They opposed the barbarism which spread over Europe far from resting with acquired treasure they opened up new ways to the study of Nature." अर्थात् मध्य-युग में अरबवाले ही सभ्यता के मुख्य प्रतिनिधि थे। उन्होंने ही योरप की असभ्यता दूर की। वे अन्य जातियों से ज्ञान प्राप्त करके ही संतुष्ट नहीं हुए, उन्होंने स्वयं विज्ञान के नए-नए मार्ग निकाले।

दूसरी जगह उसी ने यह लिखा है—"The greater part of Greek erudition which we have to-day from those sources (sciences and letters of antiquity) we received first from the hands of Arabs." अर्थात् ग्रीक-विज्ञान का भी अधिकांश हमें अरबवालों से ही प्राप्त हुआ।

मामूँ का राजत्व-काल ज्ञान-युग कहा जाता है। उसके समय में टॉलेमी के आलमेजस्ट का दूसरा अनुवाद हुआ, और हिंदू-ज्योतिष-शास्त्र पर टीका लिखी गई। ऐसे ही चिकित्सा-तत्त्व, आलोक-तत्त्व, वायु-तत्त्व, दर्शन, ज्यामिति आदि विषयों पर भी अनेक ग्रंथ रचे गए।

अनु-मेसार ने ज्योतिष-विज्ञान में अच्छी गवेषणा की। उसके ग्रंथ से आधुनिक ज्योतिष शास्त्र में कितने ही तत्त्व लिए गए हैं। अबुलहुसैन ने दूरबीन का आविष्कार किया था। ज्योतिर्विदों में अलबदानी का बड़ा ऊँचा स्थान है। लेटिन में उसके ग्रंथ का अनुवाद हुआ था, और उसी के आधार पर योरप का ज्योतिष शास्त्र स्थित है। त्रिकोण-मिति और ज्योतिष शास्त्र में सीन और कोसीन (Sine and Co-Sine) का प्रचार सबसे पहले उसी ने किया।

मुसलमानों ने विद्या के प्रचार के लिये प्रयत्न भी खूब किया। इस्लाम धर्म का आविर्भाव होने के सौ-दो सौ वर्ष के भीतर ही वहाँ कितने ही अध्यात्म और शिक्षा शास्त्र के विद्वान् हुए। सभी अपने-अपने विषयों में विख्यात थे। इस्लाम-धर्म के आविर्भाव-काल में वहाँ शिक्षा के प्रचार की वृद्धि की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। यतियों के आश्रमों और गृहस्थों के घरों में भी शिक्षा दी जाती थी। मसजिदों में कितने ही छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे। चेंबर की इनसाइक्लोपीडिया में लिखा है कि बगदाद, बसरा, कूफ़ा और बुख़ारा में बड़ी बड़ी पाठशालाएँ स्थापित की गई थीं। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में बतलाया गया है कि मामूँ ने ख़ुरासान में एक बड़े भारी विद्यालय की स्थापना की थी। इसमें अच्छी योग्यता के ही अध्यापकों की नियुक्ति होती थी। अध्यापकों का धार्मिक विश्वास उनकी नियुक्ति में बाधक नहीं था। इसीलिये उस संस्था का प्रधानाध्यापक एक ईसाई विद्वान् था। इससे ख़लीफ़ा की धार्मिक सहिष्णुता भी प्रकट होती है। शिक्षा का एक दूसरा केंद्र नीशापुर-नामक नगर था। सुलतान महमूद के भ्राता अमीर नसर ने भी एक विद्यालय स्थापित किया था। भारत से सुलतान महमूद जो धन-राशि लूटकर ले गया था, उसका अधिकांश ग़ज़नी के एक विश्वविद्या-

लय की स्थापना में ख़र्च हुआ। अबूबक्र फ़रुक़-नामक एक विद्वान् के स्मारक-रूप में एक और विद्यालय स्थापित हुआ था। इस विद्वान् की मृत्यु ४०६ हिजरी में हुई थी। नीशापुर में विद्या का कितना प्रचार था, इसका अनुमान हम इसी से कर सकते हैं कि जब ५६६ हिजरी में उक्त नगर का नाश हुआ, तब उसके साथ २५ विद्यालय और १२ पुस्तकालय भी नष्ट हो गए।

निज़ाम-उल-मुल्क तूसी ने एक बड़े भारी विद्यालय की नींव डाली। उस संस्था को हम मुसलमानों का ऑक्सफ़ोर्ड कह सकते हैं। वहाँ विदेशों से भी कितने ही मुसलमान-छात्र आकर शिक्षा प्राप्त करते थे। सादी और हाफ़िज़ की भी ज्ञान-पिपासा वहीं शांत हुई। निज़ाम-उल-मुल्क ने उक्त विद्यालय के लिये लाखों रुपए ख़र्च किए। उसी ने मुसलमान-साम्राज्य में उदार शिक्षा के प्रचार के लिये ख़ूब प्रयत्न किया; उसी के उद्योग से कितने ही छोटे-बड़े विद्यालय खोले गए। गिबन-नामक एक विद्वान् का कथन है कि छ हज़ार विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबंध उसी संस्था में होता था। उसमें ऊँच-नीच का विचार नहीं किया जाता था। श्रीमानों के पुत्रों की शिक्षा के लिये वहाँ उतनी ही सुविधा थी, जितनी मज़दूरों के पुत्रों के लिये। अध्यापकों को अच्छा वेतन दिया जाता था। विद्यालय के साथ एक बड़ा भारी पुस्तकालय भी था।

६२५ हिजरी में एक ख़लीफ़ा ने अपने नाम से एक विद्यालय स्थापित किया। ६ वर्षों में विद्यालय का भवन बनकर तैयार हुआ। उसका ध्वंसावशेष अभी तक विद्यमान है। कहा जाता है, उस विद्यालय के लिये जो किताबें ख़रीदी गईं, वे १६० ऊँटों पर लादकर लाई गई थीं। २४६ विद्यार्थी वहीं रहकर शिक्षा पाते थे। उनके लिये स्नानागार बनाए गए थे। उनमें गरम पानी का भी प्रबंध था। एक अस्पताल भी था।

इसके बाद भी विद्या की अच्छी उन्नति हुई। शिक्षा-प्रचार के लिये तरह तरह की योजनाएँ की गईं। दो ख़लीफ़ों के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं—एक तो नूरुद्दीन मुहम्मद और दूसरा सलाउद्दीन। सलाउद्दीन ने अलेक्ज़ेंड्रिया, कैरो, यरुसलेम, दमस्कस आदि नगरों में विद्यालय स्थापित किए, और उनका ख़र्च चलाने के लिये लाखों की संपत्ति दान में दे डाली। एक विद्वान् का कथन है कि इन विद्यालयों के छात्रावासों में छात्रों को खाने पीने आदि का सामान भी मुफ़्त दिया जाता था। अध्यापकों के वेतन आदि में १५ लाख रुपए ख़र्च हो जाते थे।

मुसलमानों में तुर्की-नरेशों ने विद्या को ख़ूब प्रोत्साहन दिया। यों तो सभी राजों ने शिक्षा का प्रचार किया, पर सबसे अधिक काम द्वितीय मुहम्मद ने किया। उसने गाँव गाँव में मकतब खोले। इससे प्रारंभिक शिक्षा का प्रचार हुआ। फिर उसने इतिहास, काव्य, तर्क शास्त्र, व्याकरण शास्त्र आदि विषयों की उच्च शिक्षा देने के लिये विद्यालय स्थापित किए। उसने एक विश्वविद्यालय भी खोला। उसका भवन २०५ हिजरी में बनकर तैयार हुआ।

मुहम्मद के शासन काल से बग़दाद के पतन तक शिक्षा की बराबर उन्नति होती गई। दसवीं शताब्दी तक योरप में अविद्या का अंधकार ही था। अरबों ने ही वहाँ ज्ञान-ज्योति का प्रसार किया। स्पेन में उनके विद्यालयों की कीर्ति शीघ्र ही फैल गई।

फ्रांस तथा अन्य देशों से भी सैकड़ों विद्यार्थी गणित और चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करने के लिये स्पेन आया करते थे। करडोवा में वहाँ १७ बड़े-बड़े विद्यालय स्थापित किए। पाँच पुस्तकालय भी थे। उस समय यदि किसी मठ में १०० पुस्तकों का भी संग्रह हो गया, तो यह बड़ी बात समझी जाती थी। परंतु स्पेन में ख़लीफ़ा हकीम के पुस्तकालय में ४ लाख से भी अधिक

किताबें थीं। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि मुसलमान अधिपतियों को विद्या से कितनी अभिरुचि थी।

संसार पर मुसलमानों का जो प्रभाव पड़ा है, वह अक्षय है। भिन्न-भिन्न नगरों में उन्होंने वेधशालाएँ बनवाईं। उन्होंने विद्या और विज्ञान की ख़ूब उन्नति की, उनका ख़ूब प्रचार किया। भारतीयों और यूनानियों का ज्योतिष, भारत तथा चीन का चिकित्सा-विज्ञान, और हिंदू तथा यूनानी-दर्शन की शिक्षा बग़दाद, कैरो और कारडोवा में दी जाती थी। कितने ही संस्कृत-ग्रंथों का अनुवाद अरबी-भाषा में हुआ है। कला में भी उन्होंने अच्छी उन्नति की। पहले उनके स्थापत्य पर बैज़ंटाइन तथा ईरानी शैली का प्रभाव पड़ा ; परंतु क्रमशः उसने अपना एक विशेष रूप धारण कर लिया। वह मिस्र और अलजीरिया पहुँचा, समरक़ंद होकर मध्य-एशिया गया, और अंत में ईरान, अफ़ग़ानिस्तान और भारत आया। मुग़ल-काल के भारतीय स्थापत्य की सत्यता इसी प्रभाव का फल है। ईरान में अरबों और ईरानियों के सम्मेलन से एक नई जाति की सृष्टि हुई। फ़िरदौसी, हाफ़िज़, सादी और दूसरे अमर कवि इसी जाति के रत्न थे। मुसलमानों के शासन-काल में फ़ारसी राजभाषा हो गई, और हिंदू-साहित्य पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। कितने ही हिंदू-कवियों ने फ़ारसी में रचनाएँ की हैं। फ़ारस में, भारतीय दर्शन के प्रसार में, सूफ़ी-धर्म की उत्पत्ति हुई।

योरप ने संसार को जो ज्ञान दिया है, उसका अभी प्रारंभ ही हुआ है। तो भी उसका प्रभाव विश्व-व्यापी हो गया है। विज्ञान की उन्नति इतनी शीघ्रता से हो रही है कि लोग उसका प्रभाव सोच ही नहीं सकते।

कहा जाता है, जब बेर्थलो-नामक विद्वान् मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ था, तब वह बार-बार यही कहता था कि मैं अंतिम मनुष्य

हूँ, जिसके मन में समस्त ज्ञान-विज्ञान सन्निविष्ट है। यह क्या उसकी गर्वोक्ति थी? इसमें संदेह नहीं कि उसे यह कहने का अधिकार था। अपने जीवन-काल में उसने संसार के प्रचलित ज्ञान को स्वायत्त कर लिया था। कोई उस समय जितना जान सकता था, उतना वह जानता था। परंतु उसके कथन में गर्व नहीं, विषाद भरा हुआ था। उसके कहने का अभिप्राय यह था कि उसने पृथ्वी पर जल्दी जन्म लिया; कभी लोग उस ज्ञान को भी प्राप्त कर लेंगे, जो उसके लिये बिलकुल अज्ञेय है। अंत में उसने यह कहकर अपने मन को आश्वासन दिया कि एक ही समय में समस्त को जानने के लिये कभी किसी भी मनुष्य के मस्तिष्क में स्थान न होगा। यह बिलकुल सच भी है। आजकल ज्ञान का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि कोई कितना ही बड़ा मेधावी क्यों न हो, वह ज्ञान के कुछ ही अंश को स्वायत्त कर सकता है। अब इतिहास, विज्ञान, दर्शन आदि शास्त्रों की अगण्य शाखाएँ हो गई हैं। एक ही शास्त्र में पारदर्शिता प्राप्त कर लेना कठिन है, समस्त की तो बात ही क्या?

आधुनिक विज्ञान ने ज्ञान के क्षेत्र को जिस प्रकार विस्तृत कर दिया है, उसी प्रकार उसने मनुष्यों के सामने अनंत साधन भी उपस्थित कर दिए हैं। मनुष्य उन साधनों का उपयोग कर अपने जीवन को अधिक सुखमय बना सकता है।

विज्ञान की उन्नति से भौतिक समृद्धि की वृद्धि अवश्य हुई है, परंतु उसी के लिये वैज्ञानिकों ने अपना जीवन नहीं बिताया है। आजकल विज्ञान के जो चमत्कार देखे जाते हैं, उनकी कल्पना तक उनके उद्भावकों ने न की थी। सौ साल पहले प्रोफ़ेसर ऑर्स्टेड ने देखा कि जब तार में बिजली की धारा दौड़ती है, तब उसके नीचे कंपास की सुई अपने स्थान से हट जाती है। बस,

इसी से टेलीग्राफ़ की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार फ़ैराडे ने यह सोचा कि इसका विपरीत परिणाम भी होना चाहिए, अर्थात् तार के पास चुंबक ले जाने से उसमें बिजली की धारा पैदा होनी चाहिए। इसी तर्क पर चलकर उसने इसको प्रत्यक्ष कर दिखाया। इसका फल यह हुआ कि आज सैकड़ों बिजली के कारख़ाने चलते हैं। फ़ैराडे, क्लार्क, मैक्सवेल आदि वैज्ञानिकों की यह धारणा हुई कि विद्युत्स्फुलिंग से ऐसी लहर पैदा की जा सकती है, जो ईथर में भेजी जा सके। हार्ट्ज़ ने ऐसी लहर पैदा करने का साधन ढूँढ़ निकाला। सर ऑलिवर लॉज ने उससे एक कमरे से दूसरे कमरे तक ख़बर भेजी, और मार्कोनी ने संसार में बेतार की तारबर्क़ी बिछा दी। इसी प्रकार सर विलियम क्रुक्स के हेक्युअम ट्यूब से रोंज़न ने एक्स-रेज़ का आविष्कार किया। अब एक्स-रेज़ का उपयोग कितने ही कामों में किया जाता है। सच तो यह कि जो आविष्कार विज्ञान के लिये बड़े महत्त्व-पूर्ण होते हैं, उनका प्रभाव उसी समय दृग्गोचर नहीं हो जाता। अनेक वर्षों बाद उनका महत्त्व प्रकट होता है।

वैज्ञानिक क्षेत्र में सदैव ऐसे आविष्कार नहीं होते, जो मनुष्य-जीवन की गति ही बदल दें। ऐसे आविष्कार वर्षों के परिश्रम और साधना से होते हैं। परंतु जो छोटे-छोटे आविष्कार मनुष्य के दैनिक जीवन के हित के लिये किए जाते हैं, वे भी कम महत्त्व के नहीं होते। उनसे जाति की कर्मण्यता सूचित होती है। जो जाति उन्नतिशील है, वह सदैव अपने साधनों को विस्तृत करती जाती है। उससे उसकी कार्यकारिणी क्षमता बढ़ती है। आजकल वाणिज्य और व्यवसाय के क्षेत्र में जिन देशों ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है, वे विज्ञान के ही द्वारा वैसा कर सके हैं। छोटे-छोटे, सुलभ यंत्र निकालकर उन्होंने अपनी शक्ति ख़ूब बढ़ा

ली है। हमारे देश का प्रधान व्यवसाय कृषि है। अधिकांश लोगों का जीवन उसी पर निर्भर है। परंतु जहाँ अन्य देशों ने विज्ञान की बदौलत कृषि की यथेष्ट उन्नति की है, वहाँ हमारे देश में कृषि की दुर्दशा ही है। अमेरिका में, मरुस्थल तक में, यथेष्ट अन्न पैदा किया जाता है। हमारे देश की शस्य-श्यामला और सजला भूमि पाकर भी हमारे कृषक दरिद्र बने रहते हैं।

विज्ञान की उन्नति को कुछ विद्वान् संदेह की दृष्टि से देखने लगे हैं। एक विद्वान् ने तो यहाँ तक कहा है कि विज्ञान ही दीर्घ काल तक मानव-जाति का सबसे प्रबल शत्रु रहेगा। कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि विज्ञान ने मनुष्य के धार्मिक विश्वास शिथिल कर दिए हैं। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि विज्ञान से हमारा सामाजिक जीवन अव्यवस्थित हो रहा है। कुछ भी हो, अब विज्ञान की गति रुकने की नहीं। गत पचास वर्षों में विज्ञान की आश्चर्य-जनक उन्नति हुई है। इस काल में जितने वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं, उतने पहले कभी नहीं हुए। सच तो यह है कि हम प्रकृति के उस द्वार तक पहुँच गए हैं, जहाँ हम शीघ्र ही उन शक्तियों का पता पा लेंगे, जो अभी मनुष्यों के लिये कल्पनातीत हैं। जब वह समय आवेगा, तब संसार का कुछ दूसरा ही रूप हो जायगा।

ज्ञान सत्य से भिन्न नहीं; और जो सत्य है, उसी में मनुष्य का कल्याण है। जो संस्था सत्य का आलोक नहीं सह सकेगी, उसका नाश होने ही को है, चाहे वह धार्मिक हो अथवा सामाजिक। विज्ञान से सबसे बड़ा लाभ यही हुआ है कि मनुष्य अब सबकी परीक्षा करने लगा है। छोटी-से-छोटी वस्तु भी परीक्षा का विषय है। परीक्षा ही सत्य की एक कसौटी है—"तस्मात् प्रवर्तय सखे सतत परीक्षाम्।"

योरप ने वैज्ञानिक सभ्यता की सृष्टि की है। कला और विज्ञान

में उसने बड़ी उन्नति की है। समस्त संसार पर उसी की राजनीतिक सत्ता है। व्यवसाय और वाणिज्य में भी उसका प्रतिद्वंद्वी कोई दूसरा नहीं है। अभी तक संसार उसकी सभ्यता पर मुग्ध था; परंतु अब विचारशील विद्वान् उसकी निस्सारता सिद्ध कर रहे हैं। अधिकांश विद्वानों की यही धारणा है कि पाश्चात्य सभ्यता के द्वारा मानव-समाज में अशांति का जो बीजारोपण किया गया है, उसी का विषमय फल आज प्रत्यक्ष हो रहा है। भौतिक प्रभुता के लिये भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में जो पारस्परिक स्पर्द्धा है, उसका परिणाम युद्ध है। समाज में जातिगत विद्वेष का अभाव नहीं। इसके सिवा व्यक्तिगत स्वाधीनता का सामंजस्य भी समाज के अधिकार के साथ नहीं स्थापित किया जा सका है। इसी से सर्वत्र अशांति है। आधुनिक युग का परिणाम क्या होगा, यह कहना बड़ा कठिन है।

परंतु इसमें संदेह नहीं कि योरप की वर्तमान दशा एक भविष्य विप्लव की सूचना दे रही है। बिना कोई बड़ा परिवर्तन हुए योरप में आदर्श का प्रादुर्भाव न होगा। देश के श्रेष्ठ आदर्शों की रक्षा करने का भार धर्म पर है। देश की समस्त शक्तियाँ उसी में केंद्रीभूत होकर बृहत् रूप से पूर्ण होने की चेष्टा करती हैं। पर योरप के इतिहास में अभी तक ऐसा कोई अवसर नहीं आया। मध्य-युग में राष्ट्र और धर्म में पार्थक्य हो गया। उनमें एक प्रकार से पारस्परिक स्पर्द्धा हो गई, और अंत में राष्ट्र की विजय हुई। उसी ने धर्म को आयत्त कर लिया। इसी कारण योरप में राष्ट्र-सूत्र से मनुष्यों का ऐक्य है, धर्म-बंधन से नहीं। ऐसी अवस्था में राष्ट्रीयता को ही धर्म का स्थान ग्रहण करना पड़ता है। ईसाई-धर्म इस राष्ट्रीयता के बिलकुल विरुद्ध है। पर महात्मा ईसा ने मनुष्य-मात्र पर प्रेम और दया की जो शिक्षा दी है, वह लोगों के चित्त से बिलकुल विलुप्त नहीं हो गई है। योरप के मर्मस्थल पर

ईसा की शिक्षा अकिन है। यदि यह बात न होती, तो फिर कोई झगड़ा भी न रहता। यह बात सभी मानते हैं कि पार्थिव शक्ति और समृद्धि से एकता की स्थापना नहीं हो सकती। यह मनुष्य-मात्र की कल्याण भावना से सभव है। यदि शक्ति से एकता स्थापित की गई, तो वह क्षणिक ही रहेगी, स्थायी नहीं हो सकती। यदि योरप धर्म की ओर अग्रसर होकर अपनी सभ्यता की रचना करेगा, तो विप्लव अवश्यभावी है। बात यह है कि जीवन के सबध में किसी धारणा का आश्रय लेकर मानव समाज अग्रसर होता है। यदि उस धारणा में कोई परिवर्तन हुआ, तो नवीन आदर्श के साथ प्रचलित व्यवस्था का मेल रखना कठिन हो जाता है। तब व्यवस्था को तोड़ना ही पड़ता है। धारणा के परिवर्तन के साथ व्यवस्था का परिवर्तन अवश्य होगा। फ्रास के राज्य विप्लव में यही बात हुई। वहाँ एक ओर राजा, धर्म गुरु और श्रीमान् थे, और दूसरी ओर जनता। इन दोनो के बीच व्यवधान पड़ जाने से जातीयता और एकता के लिये मनुष्य व्याकुल हो गए। फ्रास में यही अनुभूति जाग्रत् रखने के लिये प्राचीन व्यवस्था नष्ट कर प्रजातत्र की स्थापना की गई।

योरप व्यक्तिगत स्वाधीनता को उच्च पद देना चाहता है। पर धर्म को हीन करने के लिये उसने स्वाधीनता को कल्याण से पृथक् कर डाला है। किंतु स्वाधीनता का चरम परिणाम कल्याण अथवा धर्म का शासन ही है। यदि योरप की प्रचलित सस्थाएँ स्वाधीनता के इस परिणाम के लिये बाधक स्वरूप ही बनी रहें, तो राज्य क्राति के द्वारा स्वाधीनता का पथ निर्मित हो जायगा। और, ऐसी अवस्था आने पर किसी भी सस्था पर लोगो की ममता न रहेगी।

हमें यह न समझना चाहिए कि फ्रास के राज्य विप्लव के समान यह विप्लव भी विना रक्त पात के सपन्न न होगा। फ्रास

के राज्य-विप्लव का साम्यवाद तथा स्वाधीनता-वाद धर्म के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं था। उसने श्रेय की ओर ध्यान नहीं दिया। भौतिक प्रभुता पर ही उसकी शक्ति निर्भर थी। इसी से उसकी शक्ति क्षीण भी हो गई। अन्याय और अधर्म से श्रेय की सृष्टि नहीं हो सकती। यदि कभी लोगों का ऐसा विश्वास था, तो उनका वह विश्वास अब हट रहा है। इसीलिये अब बाह्य शासन की उपेक्षा की जा रही है। यदि मानव-जाति अंतर्भावना से—धर्म और कल्याण-वृत्ति से—एक नहीं की गई, तो अन्य किसी उपाय से यह संभव नहीं।

प्रत्येक धर्म के कितने ही बाह्य अनुष्ठान होते हैं। पर वे धर्म नहीं हैं, और न धर्म के आवश्यक अंग ही। जिन नियमों से मनुष्य का शाश्वत कल्याण हो सकता है, वे ही धर्म हैं। ईसाई-धर्म के आविर्भाव के पहले भी संसार में ऐसे नियमों का प्रचार था। मनुष्य का कल्याण उसी में बँधा नहीं है, वह विश्व के मंगल में निहित है। यह बात बुद्ध, कनफ्यूशियस आदि महात्माओं ने स्वीकार की है। पर समाज-व्यवस्था के लिये शासन-पद्धति को ही लोगों ने सबसे अधिक श्रेयस्कर समझ लिया है। नीच को नीचता से और आघात को प्रत्याघात से निरस्त करने का उपाय सर्वश्रेष्ठ माना गया है। ईसाई-धर्म में इसके विरुद्ध शिक्षा दी गई है। महात्मा ईसा के मतानुसार बुद्धि से क्षमा बड़ी है। शासन द्वारा पाप दूर नहीं हो सकता, प्रेम से ही उसका क्षय हो सकता है। यह कब तक संभव है कि हम ईसाई-धर्म को तो स्वीकार करें, पर उसके आदेश का खंडन करें। ईसाई-धर्म पर पाश्चात्य सभ्यता अवस्थित समझी जाती है। यदि अंतर्गत धारणा के विरुद्ध योरप में युद्ध की विभीषिका दृग्गोचर हो, तो समझ लेना चाहिए, विप्लव अवश्य होगा।

जो एक के लिये कल्याणप्रद है और दूसरे के लिये नहीं, जो एक देश के लिये श्रेयस्कर है और दूसरे देश के लिये नहीं, व यथार्थ में कल्याणकर नहीं, अनिष्टकर है। उसमें विनाश का बी छिपा है। विश्व के मंगल में ही प्रत्येक का मंगल है। यदि राष्ट्रीयत अथवा गवर्नमेंट में मनुष्य के कल्याण की कल्पना रक्खी जाय, तो कहना पड़ेगा, वह मंगल अमंगल है; क्योंकि उसने मनुष्य को विश्व से पृथक् कर दिया और उसी मात्रा में मनुष्य की स्वाधीनत को कम कर डाला है। वोट द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों का शासन स्वराज्य है, यह समझना भ्रम-मात्र है। स्वराज्य-शब्द श्रुति-सुखद अवश्य है, पर उसके भीतर भयानक दासत्व छिपा है। सच तो यह है कि सभी लोग शासन नहीं करते। फिर शासित और शासन-कर्ता का स्वार्थ भी एक नहीं है। समाज में इस श्रेणी-भेद से अन्याय होगा ही। आजकल योरप में सबसे अधिक विवादास्पद विषय यही है। एक ओर ज़मींदार और व्यवसायी हैं, तो दूसरी ओर किसान और मज़दूर। कुछ लोग धन को समाज के अधीन करने की चेष्टा कर रहे हैं। पर व्यक्तिगत स्वाधीनता नष्ट कर सामाजिक दासत्व स्वीकार कर लेने में कोई लाभ नहीं। यदि इससे धन-संबंधी विषमता दूर हो सकती है, तो उससे भी बढ़कर और तरह की विषमता समाज में पैदा हो जाती है।

अब विचारणीय यह है कि किसी भी देश की गवर्नमेंट में त्रुटियाँ भले ही हों, उससे यथार्थ धर्म अथवा यथार्थ स्वाधीनता का पूर्ण विकास भले ही न हो, पर क्या उसके बिना मनुष्य का निर्वाह हो सकता है? बाह्य शासन को बिलकुल अस्वीकार कर देने से क्या मनुष्य एकत्र रह सकते हैं? यदि गवर्नमेंट की संरक्षकता में मनुष्यों को निर्दिष्ट नियमों के अनुसार रहना पड़ता है, तो उसकी छत्रच्छाया में उनकी धन-संपत्ति भी निरापद रहती

है। यदि गवर्नमेंट का संरक्षण न रहे, तो क्या हम निरापद रह सकते हैं ? टाल्स्टाय का कथन है कि समाज पर किसी भी गवर्नमेंट की सत्ता नहीं है। तो भी इतिहास में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि समाज को अपनी मर्यादा के नियंत्रण के लिये घबराहट हुई हो। यह सच है कि अच्छे और बुरे सभी समाजों में होते हैं। पर समाज का शासन वाह्य शासन की अपेक्षा दुर्लंघ्य है। लोक-मत की अवहेलना करना साधारण बात नहीं है। मनुष्यों में भले और बुरे की विवेचना करने की अनुभूति जितनी अधिक होती है, उतना ही अधिक अंतःशासन काम करता है। इसके सिवा परस्पर की विवेचना से कोई व्यवस्था बना लेना समाज के लिये कठिन नहीं है।

स्वदेश-ज्ञान से गवर्नमेंट की उत्पत्ति होती है। वही उसका आधार है। आजकल योरप की राजनीतिक सत्ता को सभी स्वीकार करते हैं। परंतु वाह्य शासन के प्रभाव से एक ही साम्राज्य के अंतर्गत जो भिन्न-भिन्न जातियाँ एकत्र हो गई हैं, उनके मन से जातीयता का भाव दूर नहीं हुआ है। केवल वाह्य शक्ति और कृत्रिम साम्राज्य-संस्कार से अधिकांश भूमंडल में शासन की प्रतिष्ठा है। यों तो राज्य-विस्तार की ओर सभी की दृष्टि है, पर अपनी जिस प्रभुता के बल से संसार में राष्ट्र अनर्थों की सृष्टि कर रहे हैं, उसका आधार एक मिथ्या संस्कार-मात्र है।

अपने कितने ही कुसंस्कारों के कारण मनुष्य ने बलिदान किया है। राष्ट्र के लिये भी वह अपने सुख की, स्वास्थ्य और स्वाधीनता की बलि दे रहा है। जिस दिन राष्ट्रीय स्वार्थ प्रकृत मनुष्यत्व के पथ का अवरोधक होगा, उस दिन अपने ठहरने के लिये कोई आश्रय ढूँढ़ निकालना मनुष्य के लिये कठिन होगा। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि आधुनिक युग में जो राज्य-क्रांति होगी, उसमें रक्त-

पात से सहायता न ली जायगी। वह सब सहेगी, पर सबको अस्वीकार करेगी। वह प्रत्याघात से आघात को दूर करने की चेष्टा कभी न करेगी; क्योंकि ऐसा करने से वह मनुष्य की पूर्ण स्वाधीनता के लिये जो संकल्प कर रही, उसमें बाधा आवेगी। वह विश्वजनीन मंगल की शक्ति से समस्त अमंगलकारिणी शक्तियों को पराभूत कर देगी।

श्रेय की भित्ति पर मनुष्य का पारिवारिक और सामाजिक जीवन संगठित हुआ है। उसी के आधार पर मनुष्य-जाति की समता निर्मित होगी। प्रतियोगिता के भाव से कोई किसी पर आघात नहीं करेगा। किंतु समता के कारण प्रत्येक की क्षुद्र चेष्टा बृहत् रूप धारण कर एक बृहत् कल्याण-क्षेत्र की सृष्टि कर डालेगी। कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदि धंधे मंगलमय अनुष्ठानों में परिगणित होंगे।

नागरिक को कृषक-समाज में परिणत करने के प्रस्ताव पर सभ्य-समाज कदाचित् चकित हो जायगा। पर सभ्यता है क्या? क्या वह श्रेय नहीं है? क्या वह आनंद, धर्म, स्वास्थ्य नहीं है? क्या वह सामग्री-मात्र है? क्या वह थिएटर, रेल, मोटर आदि भोग-विलास का आयोजन-मात्र है? इसी भोग-विलास-पूर्ण सभ्यता का पोषण करने के लिये जो नरमेध हो रहा है, उसका भी हिसाब क्या कोई रखता है? कहा जाता है, मिसर में पिरामिड बनाने के लिये हज़ारों आदमियों के प्राणों की बलि देनी पड़ी थी। इसे हम असभ्यता कहा करते हैं। परंतु वर्तमान युग में आकाश को मलिन कर, वायु को रोककर, पृथ्वी को घेरकर, सभ्यता के नाम पर, पाप और दारिद्र्य की भित्त पर, श्रीमानों का जो आकाश चूमता हुआ महल बनता है, वह क्या बर्बरता नहीं है? वर्तमान सभ्यता का रूप सुरक्षित करने के लिये कितने दरिद्रों का बलिदान होता है, इसकी भी गणना क्या कभी की जाती है? एक ओर मोटर, रेल, म्यूज़ियम, पार्क और

थिएटर हैं, तो दूसरी ओर पाप और दारिद्र्य के भीषण दृश्य। हम किस ओर देखें?

अब समय आया है कि हम वोट की स्वाधीनता या अन्न-कष्ट द्वारा संहार करने की स्वाधीनता को छोड़कर यथार्थ मंगल-मूलक आभ्यंतरिक स्वाधीनता की प्रतिष्ठा करें। भिन्न-भिन्न जातियों और भिन्न-भिन्न मनुष्यों के स्वार्थों को मिलाने की चेष्टा में राष्ट्र की धर्म-बुद्धि कलुषित हो गई है। राष्ट्र-रक्षा का भार लेने के कारण शासन अब व्यक्ति की स्वाधीनता और मंगल-भावना की ओर ध्यान नहीं देता। अब हमें विश्व-मंगल की भावना को जगाना पड़ेगा। यही आधुनिक युग का काम है।

संसार में मनुष्यों को सबसे पहले आत्म-रक्षा की चिंता करनी पड़ती है। आत्म-रक्षा के ही भाव से प्रेरित होकर उसे अपनी उन्नति करनी होती है। यदि वह अपनी उन्नति न करे, तो अपनी रक्षा भी नहीं कर सकेगा। काल का प्रवाह मनुष्य को उन्नति के पथ पर अग्रसर करता है। यदि मनुष्य काल के साथ नहीं जा सका, तो वह नष्ट भी हो जायगा। अतएव यह तो निश्चित ही है कि सभी लोगों को अपनी स्थिति और उन्नति के लिये प्रयास करना पड़ता है। इसी प्रयास से मनुष्यों में पारस्परिक संघर्षण होता है। कुछ लोग दूसरों की उन्नति को अपनी उन्नति के लिये विघ्न-स्वरूप समझकर उन्हें अवनत करने की चेष्टा करते हैं। तभी हिंसा का भाव उनमें उत्पन्न होता है। मनुष्यों में जिघांसा का भाव इतना प्रबल हो गया है कि जीवन अब संग्राम समझा जाता है। इस युद्ध-भूमि में वही कृतकृत्य समझा जाता है, जो दूसरों को नष्ट कर, उनके नाश की भित्ति पर, अपनी उन्नति का निर्माण करता है। परंतु, सच पूछो तो, मनुष्य प्रेम ही के बल से आत्म-रक्षा कर सकता है, और उसी से उसकी उन्नति भी हो सकती है।

पारस्परिक संघर्षण से नहीं, किंतु पारस्परिक सहायता से ही मानव-समाज की स्थिति है। समाज की प्रारंभिक अवस्था में केवल आत्मीयों के प्रति मनुष्य का खिचाव होता है। क्रमशः उसका यह खिचाव बढ़ता जाता है। अंत में वह एक बृहत् समाज में व्याप्त हो जाता है। पहले जो भाव एक परिवार में सीमाबद्ध था, वह अब देश-व्यापी हो गया। पहले देश की सीमा एक क्षुद्र युद्ध-भूमि-खंड में परिमित थी। अब देश का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया है। सौ वर्ष पहले जो परस्पर प्रतिद्वंद्वी थे, वे ही अब एक लक्ष्य सामने रखकर एक ही पथ पर चल रहे हैं। जो लोग पहले देश के शत्रु समझे जाते थे, वे ही अब देश-वासी हो गए हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य का प्रेम एक देश में ही चिरकाल तक आबद्ध रहेगा? देश कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह सीमाबद्ध ही है। परंतु मनुष्य का प्रेम असीम है। इसीलिये अब हम देख रहे हैं कि प्रेम का भाव देश की सीमा का उल्लंघन कर मनुष्य-मात्र के प्रति आकृष्ट हो रहा है।

यह कहना बहुत सरल है कि हम सभी मनुष्य हैं, यह समस्त वसुधा ही एक कुटुंब है; परंतु इस भाव को हृदय में जाग्रत् कर उसको कार्य-रूप में परिणत करना कठिन है। इसका कारण यह है कि अभी तक मनुष्य हिंसा के भाव को दूर नहीं कर सका। वर्तमान युग में मनुष्य-मात्र की स्वाधीनता और समता की शिक्षा सभी दे रहे हैं। सभी देश और राष्ट्र, न्याय की घोषणाकर, मनुष्य-जाति के पारस्परिक विद्वेष को दूर करना चाहते हैं। तो भी वर्तमान काल में जो अशांति फैली हुई है, उसका कारण विषमता, पराधीनता और जाति-गत विद्वेष ही है। स्वार्थ-साधन के लिये दूसरों को पद-दलित करने में ही अनेक मनुष्य विश्व-प्रेम का स्वप्न देख रहे हैं। राजनीतिक क्षेत्र में अभी तक व्यक्ति, राष्ट्र और समाज की

प्रतिद्वंद्विता भी विद्यमान है। परंतु साहित्य के स्वरूप में स्थिर रूप से एक परिवर्तन हो रहा है। साहित्य का क्षेत्र इतना व्यापक हो रहा है कि उसका प्रभाव अब विश्व-व्यापी हो चला है। देश और काल की सीमा अब उसको बद्ध नहीं कर सकती। यह सच है कि अभी तक साहित्य में राष्ट्रीयता की प्रधानता है, और कुछ लोगों के राष्ट्रीय-भाव बड़े संकुचित हैं, तो भी अब साहित्य में अनुदारता का भाव लुप्त हो रहा है। मनुष्यों के व्यक्तित्व की पूरी रक्षा की जाती है, और उसी के आधार पर सामाजिक और राष्ट्रीय अधिकारों की आलोचना होती है। यहाँ हम इसी दृष्टि से आधुनिक साहित्य पर विचार करना चाहते हैं।

सभी देशों के साहित्य की एक विशेषता होती है। उस विशेषता का कारण उन देशों की धार्मिक, नैतिक और राजनीतिक अवस्थाएँ हैं। हमें स्मरण रखना चाहिए कि ये अवस्थाएँ सर्वदा एक ही स्वरूप में स्थित नहीं रहतीं। उनके स्वरूप में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं। तो भी उनमें एक ऐसी मूलगत भावना विद्यमान रहती है, जिसके कारण एक देश की अवस्था दूसरे देश की अवस्था से पृथक् की जा सकती है। उदाहरण के लिये हम उन देशों की अवस्थाओं पर विचार करें, जिनमें एक ही धर्म, एक ही भाषा और एक ही समाज-नीति प्रचलित है। हम देखेंगे कि सभी बातों में समान होने पर भी उन देशों में एक ऐसा वैषम्य विद्यमान है, जो किसी प्रकार नष्ट नहीं किया जा सकता। वह वैषम्य साहित्य में भी दृष्टिगोचर होता है। इँगलैंड में इरविंग की संभावना नहीं हो सकती, और न अमेरिका में डिकंस की। इसका कारण देश की स्थिति है। जो देश एक दूसरे से सभी बातों में भिन्न हैं, उनके साहित्य का रूप तो विलक्षण होगा ही। उनमें समता केवल उन्हीं भावों की होगी, जो मनुष्य-जाति से संबंध रखते हैं। आधु-

निक साहित्य मे सभी देश, अपनी अपनी विशेषताओं को स्थिर रखकर भी, सम्मिलित हो रहे है। इस तरह एक ऐसे विश्व साहित्य का निर्माण हो रहा है, जिसमे राष्ट्रीय भावो की उपेक्षा नहीं की जाती, और न किसी देश की विशेषता ही लुप्त होने पाती है। जर्मनी के प्रसिद्ध कवि गेटी ने एक बार एक ऐसे ही विश्व साहित्य की कल्पना की थी। वह इसी साहित्य के द्वारा विभिन्न देशों और राष्ट्रों को एकता के सूत में गूँथकर "वसुधैव कुटुम्बकम्" के मूल मन्त्र का प्रचार करना चाहता था। गेटी का यह अभीष्ट एक प्रकार से सिद्ध भी हो गया है। विद्वानों का कथन है कि जर्मन भाषा मे सभी देशों का साहित्य विद्यमान है।

कहना न होगा कि विश्व साहित्य के निर्माण के लिये अनुवादों की आवश्यकता है। ज्ञान का विकास तभी होता है, जब एक देश दूसरे से ग्रहण करता है। अनुवादों के द्वारा ज्ञान का आदान प्रदान बड़ी सुगमता से हो जाता है। उन्हीं के द्वारा साहित्य का कार्य क्षेत्र व्यापक हो जाता है। अनुवाद का कार्य सैकड़ों वर्षों से हो रहा है। प्राचीन काल में ग्रीस, रोम, चीन, अरब और भारतवर्ष के भी साहित्य में अनुवादों के द्वारा विभिन्न विषयों के ज्ञान का यथेष्ट आदान प्रदान हुआ है। ऊपर इसका उल्लेख किया गया है। इन अनुवादों से ज्ञान का केवल प्रचार ही नहीं हुआ, किंतु उसकी वृद्धि भी हुई। आजकल तो पाश्चात्य साहित्य में अनूदित ग्रंथों की ऐसी वृद्धि हो रही है कि हम उसका अनुमान ही नहीं कर सकते। इन ग्रंथों का प्रचार भी खूब हो रहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि पाश्चात्य देश समस्त विश्व की भावनाओं को ग्रहण करने के लिये कितने उत्सुक हैं।

विश्व साहित्य के निर्माण में अनुवाद तो होते ही हैं, परंतु उनके साथ ही भिन्न भिन्न देशों के राष्ट्रीय और धार्मिक साहित्य की भी

विवेचना-पूर्ण आलोचना होने लगी है। जब तक हम किसी देश के प्राचीन साहित्य से अवगत नहीं हैं, तब तक उसके राष्ट्रीय विकास को समझ ही नहीं सकते। भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में सद्भाव फैलाने के लिये यह आवश्यक है कि लोग एक दूसरे को अच्छी तरह पहचान सकें। पाश्चात्य साहित्य में प्राचीन साहित्य की पर्यालोचना एक आवश्यक अंग है। अब योरप के विद्वान् केवल ग्रीस, रोम अथवा असीरिया के ही प्राचीन साहित्य का अध्ययन नहीं करते। वहाँ अब सभी देशों के साहित्य का अनुशीलन किया जाता है। असभ्य जातियों की भाषा और कथाओं की भी उपेक्षा नहीं की जाती। कुछ समय से भारतीय साहित्य की ओर उनका ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है। भारत के कितने ही अलभ्य ग्रंथों का संग्रह वहाँ के पुस्तकालयों में है। डेनमार्क में पाली-भाषा के कितने ही विद्वान् हैं। रैस्क-नामक एक विद्वान् की बदौलत कोपेन-हेगन में पाली-ग्रंथों का बड़ा ही अच्छा संग्रह हुआ है। नेपाल में बौद्ध-धर्म के कितने ही ग्रंथ-रत्न हैं। Hodgson-नामक एक विद्वान् ने ऐसे ही ग्रंथों का एक अच्छा संग्रह पेरिस में भेज दिया है। उसका फल यह हुआ कि पेरिस में बौद्ध-धर्म की अच्छी चर्चा हो रही है। बूलर ने बर्लिन में जैन (श्वेतांबर)-साहित्य के कोई पाँच सौ हस्त-लिखित ग्रंथ भेजे थे। आजकल जर्मनी जैन-दर्शन-शास्त्र का केंद्रस्थल हो गया है। कोलब्रुक और विल्सन के कारण इँगलैंड में भी भारतीय पुरातत्त्व का अध्ययन करने की अच्छी सामग्री है। मतलब यह कि अन्य देशों की ज्ञान-राशि को संचित करने का प्रयास खूब किया जा रहा है। इसका फल यह हुआ कि अब लोग इतिहास के कार्य-क्षेत्र को खूब बढ़ाते जा रहे हैं। पुरा-तत्त्व-विज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र ने इतिहास का लक्ष्य ही बदल दिया है। पहले लोग राजनीतिक उत्थान-पतन ही पर दृष्टि रखते थे,

निक साहित्य मे सभी देश, अपनी-अपनी विशेषताओं को स्थिर रखकर भी, सम्मिलित हो रहे है। इस तरह एक ऐसे विश्व साहित्य का निर्माण हो रहा है, जिसमें राष्ट्रीय भावो की उपेक्षा नहीं की जाती, और न किसी देश की विशेषता ही लुप्त होने पाती है। जर्मनी के प्रसिद्ध कवि गेटी ने एक बार एक ऐसे ही विश्व-साहित्य की कल्पना की थी। वह इसी साहित्य के द्वारा विभिन्न देशों और राष्ट्रों को एकता के सूत में गूँथकर "वसुधैव कुटुम्बकम्" के मूल-मंत्र का प्रचार करना चाहता था। गेटी का यह अभीष्ट एक प्रकार से सिद्ध भी हो गया है। विद्वानो का कथन है कि जर्मन-भाषा मे सभी देशों का साहित्य विद्यमान है।

कहना न होगा कि विश्व-साहित्य के निर्माण के लिये अनुवादों की आवश्यकता है। ज्ञान का विकास तभी होता है, जब एक देश दूसरे से ग्रहण करता है। अनुवादों के द्वारा ज्ञान का आदान-प्रदान बड़ी सुगमता से हो जाता है। उन्हीं के द्वारा साहित्य का कार्य-क्षेत्र व्यापक हो जाता है। अनुवाद का कार्य सैकड़ों वर्षों से हो रहा है। प्राचीन काल में ग्रीस, रोम, चीन, अरब और भारतवर्ष के भी साहित्य में अनुवादों के द्वारा विभिन्न विषयों के ज्ञान का यथेष्ट आदान-प्रदान हुआ है। ऊपर इसका उल्लेख किया गया है। इन अनुवादो से ज्ञान का केवल प्रचार ही नहीं हुआ, किंतु उसकी वृद्धि भी हुई। आजकल तो पाश्चात्य साहित्य मे अनूदित ग्रंथों की ऐसी वृद्धि हो रही है कि हम उसका अनुमान ही नहीं कर सकते। इन ग्रंथों का प्रचार भी खूब हो रहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि पाश्चात्य देश समस्त विश्व की भावनाओं को ग्रहण करने के लिये कितने उत्सुक हैं।

विश्व-साहित्य के निर्माण में अनुवाद तो होने ही हैं, परंतु उनके साथ ही भिन्न-भिन्न देशों के राष्ट्रीय और धार्मिक साहित्य की भी

विवेचना-पूर्ण आलोचना होने लगी है। जब तक हम किसी देश के प्राचीन साहित्य से अवगत नहीं हैं, तब तक उसके राष्ट्रीय विकास को समझ ही नहीं सकते। भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में सद्भाव फैलाने के लिये यह आवश्यक है कि लोग एक दूसरे को अच्छी तरह पहचान सकें। पाश्चात्य साहित्य में प्राचीन साहित्य की पर्यालोचना एक आवश्यक अंग है। अब योरप के विद्वान् केवल ग्रीस, रोम अथवा असीरिया के ही प्राचीन साहित्य का अध्ययन नहीं करते। वहाँ अब सभी देशों के साहित्य का अनुशीलन किया जाता है। असभ्य जातियों की भाषा और कथाओं की भी उपेक्षा नहीं की जाती। कुछ समय से भारतीय साहित्य की ओर उनका ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है। भारत के कितने ही अलभ्य ग्रंथों का संग्रह वहाँ के पुस्तकालयों में है। डेनमार्क में पाली-भाषा के कितने ही विद्वान् हैं। रैस्क-नामक एक विद्वान् की बदौलत कोपेन-हेगन में पाली-ग्रंथों का बड़ा ही अच्छा संग्रह हुआ है। नेपाल में बौद्ध-धर्म के कितने ही ग्रंथ-रत्न हैं। Hodgson-नामक एक विद्वान् ने ऐसे ही ग्रंथों का एक अच्छा संग्रह पेरिस में भेज दिया है। उसका फल यह हुआ कि पेरिस में बौद्ध-धर्म की अच्छी चर्चा हो रही है। बूलर ने बर्लिन में जैन (श्वेतांबर)-साहित्य के कोई पाँच सौ हस्त-लिखित ग्रंथ भेजे थे। आजकल जर्मनी जैन-दर्शन-शास्त्र का केंद्रस्थल हो गया है। कोलब्रुक और विल्सन के कारण इँगलैंड में भी भारतीय पुरातत्त्व का अध्ययन करने की अच्छी सामग्री है। मतलब यह कि अन्य देशों की ज्ञान-राशि को संचित करने का प्रयास ख़ूब किया जा रहा है। इसका फल यह हुआ कि अब लोग इतिहास के कार्य-क्षेत्र को ख़ूब बढ़ाते जा रहे हैं। पुरा-तत्त्व-विज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र ने इतिहास का लक्ष्य ही बदल दिया है। पहले लोग राजनीतिक उत्थान-पतन ही पर दृष्टि रखते थे

पर अब मनुष्य-जाति के विकास पर ध्यान देते हैं। भिन्न-भिन्न धर्मों की आलोचना से अब धार्मिक असहिष्णुता कम हो गई है। साहित्य में नए-नए विज्ञानों और भावों की सृष्टि होने से भाषा में भी बड़ा परिवर्तन हो रहा है। विदेशी शब्द ग्रहण करने में कोई भी संकोच नहीं करता। इससे यह प्रकट होता है कि सभी साहित्य-सम्मिलन के लिये उत्सुक हैं। कब यह सम्मिलन निर्बाध होगा, यह भविष्य के हाथ में है।

काव्य

मनुष्य-मात्र का यह स्वभाव है कि वह अपने ज्ञान के रूप को परिमित नहीं देखना चाहता। जब वह देखता है कि उसकी बुद्धि काम नहीं देती, तब कल्पना का आश्रय लेता है। इस प्रकार काव्य की सृष्टि होती है। बाह्य जगत् मनुष्यों के अंतर्जगत् में प्रविष्ट होकर एक दूसरा ही रूप धारण कर लेता है। जड़ के साथ चेतन का सम्मिलन होता है। जो बुद्धि का अवलंबन करते हैं, उनके लिये सूर्योदय एक साधारण घटना है, हिमालय एक पर्वत है, और मंदाकिनी एक नदी है। परंतु कवि कल्पना के द्वारा, सूर्योदय में उषा-देवी का दर्शन करते, हिमालय में भगवान् शिव का विराट् रूप देखते, और मंदाकिनी में मातृ-मूर्ति देखकर गद्गद हो जाते हैं। अँगरेज़ी के प्रसिद्ध लेखक मेकाले की राय है कि ज्यों-ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों कवित्व का ह्रास होता है। उनके इस कथन का अभिप्राय यही है कि ज्यों-ज्यों मनुष्यों में प्राकृतिक भाव नष्ट होता जाता और कृत्रिमता आती जाती है, त्यों-त्यों वे प्रकृति का संसर्ग छोड़कर संसार में प्रवेश करते जाते हैं, और उनका जीवन-रस सूखता जाता है। जीवन के प्रभात-काल में किसको यह जगत् सुंदर नहीं मालूम होता? उस समय हम पवन से क्रीड़ा करते हैं, फूलों से मैत्री रखते हैं, और पृथ्वी की गोद में निश्चिंत विश्राम करते हैं। उदीयमान सूर्य की प्रभा के समान हमारा जीवन निर्मल, सौम्य और मधुर रहता है। परंतु जीवन के मध्याह्न-काल में हमारी दृष्टि में प्रकृति का सौंदर्य नष्ट हो जाता है। संसार के अनंत कार्यों

में लगकर हम केवल विश्व के विषम सताप का ही अनुभव करते हैं। सब कुछ वही है, हमीं दूसरे हो जाते हैं। पहले हम वर्षा काल में कीचड़ का कुछ भी ख्याल न कर आकाश के नीचे पृथ्वी के वक्ष स्थल पर विहार करते थे। जब जल के छोटे छोटे स्रोत कल कल करते, हँसते, नाचते, थिरकते और बढ़ते जाते थे, तब हम भी उन्हीं के साथ खेलते, कूदते और दौड़ते थे। परंतु सभ्य होने पर हमें वर्षा में कीचड़ और गँदलेपन का दृश्य दिखाई देता है, और हम अपने समार को नहीं भूलते। वाल्मीकि और तुलसीदास के वर्षा वर्णन में हम यह बात स्पष्ट देख सकते हैं। दोनो विख्यात कवि हैं, दोनो ने एक ही विषय का वर्णन किया है। परंतु जहाँ वाल्मीकि के वर्णन म हम प्रकृति का यथार्थ रूप देखते हैं, वहाँ तुलसीदास के वर्णन में ससार की कुटिलता का परिचय पाते ह। इसका कारण यही है कि वाल्मीकि ने तपोवन में कविता लिखी थी, और तुलसीदास ने काशी अथवा अन्य किसी नगर में।

कवि पर देश काल का यही प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव कवि की कल्पना गति का बाधक नहीं होता, तो भी इसमें सदेह नहीं कि उसी के कारण कवि की कल्पना एक निर्दिष्ट पथ पर ही विचरण करती है। होमर सीता की कल्पना नहीं कर सकता था और न वाल्मीकि हेलेन की सृष्टि कर सकते थे। भिन्न भिन्न युगों में भिन्न भिन्न भावा की प्रधानता होती है। एक ही देश में, भिन्न भिन्न युगा के कविया की रचनाओं में, हम विभिन्न भावा की जो प्रधानता पाते हैं, उसका यही कारण है। सभ्यता के आदि काल में जो कवि होगे, उनकी रचनाओं में हम भाषा का आडंबर नहीं देखेंगे। उनकी कविता निर्मल जल धारा के समान सदैव प्रासादिक और विशद रहेगी। परंतु धन और वैभव से मपन्न देश में कवियों

की रुचि भाषा की सजावट की ओर अधिक रहेगी। इतना ही नहीं, उनकी कविता का विषय भी बाह्य जगत् ही होगा।

साहित्यिज्ञों ने ऐसे ही प्रधान-प्रधान लक्षणों के अनुसार साहित्य के युग को तीन कालों में विभक्त किया है; प्राचीन काल, मध्य-काल और नव काल। साहित्य का यह काल-विभाग सभी देशों के साहित्य में पाया जाता है। साहित्य के मुख्य विषय दो ही हैं। अंतर्जगत् और बाह्य जगत्। भिन्न-भिन्न युगों में इन दोनो का संबंध भी भिन्न-भिन्न होता है। कोई भी एक युग ले लीजिए। उस काल की सभी रचनाओं में कुछ-न-कुछ सादृश्य अवश्य रहता है। प्राचीन काल में कवि बाह्य जगत् को अंतर्जगत् में मिलाकर एक अभिनव जगत् की सृष्टि करते हैं, जहाँ देवता और मनुष्यों का सम्मिलन होता है। उस समय अंतर्जगत् और बहिर्जगत् में भेद नहीं रहता। पृथ्वी मधु-पूर्ण हो जाती है। तब हमें जान लेना चाहिए कि हम वाल्मीकि, व्यास और होमर के सत्य-युग में पहुँच गए हैं।

काव्य दो विभागों में विभक्त किए जा सकते हैं। कुछ काव्य ऐसे होते हैं, जो उस कवि के व्यक्तित्व से पृथक् नहीं किए जा सकते। उनमें कवि की आत्मा छिपी रहती है। ऐसे काव्यों में कवि अपनी प्रतिभा के बल से, अपने जीवन के अनुभवों के द्वारा, समस्त मानव-जाति के चिरंतन गूढ़ भावों को व्यक्त कर देता है। परंतु कुछ काव्य ऐसे होते हैं, जिनमें विश्वात्मा संचरण करती है। वे देश और काल से अनवच्छिन्न रहते हैं। ऐसे ही काव्यों को महाकाव्य कहते और उनकी रचना वे ही कवि करते हैं, जो विश्व-कवि कहलाते हैं, जो समग्र देश और समग्र युग के भावों को प्रगट कर अपनी कृति को मानव-जाति का जीवन-धन बना जाते हैं। गिरिराज हिमालय के सदृश वे पृथ्वी को भेदकर

आकाश मंडल को छूते हैं। काल का प्रभाव उन पर नहीं पड़ता। वे सदा अटल बने रहते हैं, और उनकी कविता-जाह्नवी अविछिन्न काल से लोगों को पुनीत करती आ रही है। भारत में रामायण और महाभारत इसी प्रकार के महाकाव्य हैं। प्राचीन ग्रीस के इलियड और आडेसी भी उन्हीं के समकक्ष महाकाव्य हैं। भारत में जो स्थान वाल्मीकि और व्यास का है, योरप में वही होमर का।

इन कवियों के विषय में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। होमर के कई जीवन चरित प्रसिद्ध हैं। उनमें से एक का लेखक हेरोडोटस माना जाता है। इन दंतकथाओं में कवियों की असाधारण बातों का ही उल्लेख किया गया है। वाल्मीकि, व्यास और होमर के काव्य अलौकिक हैं। उनकी कृतियों से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि वे दिव्य शक्ति संपन्न थे। अतएव यदि मनुष्य उनके जीवन में भी अलौकिकता देखे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? कहा जाता है, वाल्मीकि पहले अत्यंत क्रूर और नृशंस थे। पीछे राम का नाम लेकर वह तपस्वी हो गए। जिसके काव्य में करुण रस का अपूर्व स्रोत बह गया है, उसकी क्रूरता भी देखने योग्य होगी। बात यह है कि रामायण के पाठ से भक्ति का उन्मेष होता है, और उससे पाषाण हृदय भी द्रवित हो जाता है। यही बात इस किंवदंती में बतलाने की चेष्टा की गई है। वाल्मीकि के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने क्रौंच पक्षी के वध से व्यथित होकर श्लोक की रचना की थी। ऐसी घटनाएँ असाधारण होने पर भी असंभव नहीं हैं। तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि ये किंवदंतियाँ कवियों की कृतियों पर सर्व साधारण की आलोचनाएँ हैं। कविता की उत्पत्ति कैसे होती है, यह इस घटना के द्वारा बतलाया गया है। इस मर्त्य लोक में जो जीवन और मरण की लीला हो रही है, मनुष्यों के हास्य में भी जो करुण वेदना की ध्वनि

उठ रही है, क्षणिक संयोग के बाद अत्यंत वियोग की जो दारुण निशा आती है, उसी से मर्माहत होकर कवि के हृदय से सहसा उद्गार निकल पड़ता है। वही कविता है। जिस कविता में विश्व-वेदना का स्वर नहीं, वह कविता माधुर्य से हीन है। शेली ने इसी भाव को निम्न-लिखित पद्य में व्यक्त किया है—

"Our sweetest songs are those
That tell of saddest thonghts"

व्यासदेव ने हिंदू-समाज को धर्म और नीति की शिक्षा दी है। उनके महाभारत में हिंदू-सदाचार की सृष्टि हुई है। इसीलिये उसको पंचम वेद कहते हैं। परंतु धर्म और ज्ञान की सूक्ष्म विवेचना करनेवाले व्यासजी का जन्म-वृत्तांत ऐसा नहीं है कि उसे प्रकट करने के लिये लोग लालायित हों। क्या उनके जीवन से यह सिद्ध नहीं होता कि जन्म किसी भी मनुष्य का भविष्य निश्चित नहीं कर देता। महारथी कर्ण ने बहुत ठीक कहा था—

"दैवायत्तं कुले जन्म ममायत्तं हि पौरुषम्।

अच्छे या बुरे कुल में जन्म होना दैव के अधीन है ; पर पौरुष मेरे अधीन है। होमर अंधा था। होमर-शब्द का अर्थ ही अंधा है। उसी प्रकार हमारे सूरदास भी अंधे थे। जो जगत् के बाह्य रूप की अवहेलना करके अंतर्जगत् की खोज करता है, उसके लिये चर्म-चक्षु सर्वथा व्यर्थ हैं। आँखों से तो हम पृथ्वी पर ही देखते हैं। पर होमर ने नेत्र-हीन होकर पृथ्वी पर स्वर्ग का दर्शन पाया।

वाल्मीकि भारतवर्ष के आदि-कवि माने जाते हैं। उनकी गणना महर्षियों में की जाती है। हिंदू-समाज में ऋषियों का स्थान बहुत ऊँचा है। उनकी देव-तुल्य पूजा होती है। उनके कथन का खंडन करने का साहस कोई नहीं कर सकता। उनके वचन मिथ्या कभी नहीं होते। आदि-कवि का महर्षि होना यह सूचित करता है

कि कवि को वही स्थान प्राप्त है, जो ऋषि को। उपनिषदों में कहा गया है—"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः ।" अतएव जिस कवि की रचना में वह गुण नहीं, जो एक ऋषि के वचन में होता है, उसे हम कवि नहीं कहेंगे। अलंकार, भाषा का सौष्ठव, माधुर्य आदि काव्य के गुण कहे जाते हैं। परंतु ऋषि की कृति में हम इतने से ही संतुष्ट न होंगे। हम तो उससे यही आशा करेंगे कि वह हममें स्वर्गीय भाव भर दे। ऋषि का वचन काम-धेनु के समान हमारी सब वासनाओं का अंत कर सकता है। रामायण का पाठ करने से फिर कोई वासना नहीं रह जाती। तभी तो वह स्वर्ग का सोपान कही गई है।

रामायण मे एक आदर्श समाज का चित्र है। इसीलिये कुछ लोगों को उसकी कथा अस्वाभाविक सी प्रतीत होती है। परंतु यह उनका भ्रम है। रामायण से यही सिद्ध होता है कि मानव-समाज किस प्रकार आदर्श-रूप में परिणत हो सकता है, पृथ्वी कैसे स्वर्ग हो सकती है? अरविंद बाबू की राय है कि रामायण में एक विशुद्ध नैतिक अवस्था का चित्र पाया जाता है। उसमें शारीरिक और मानसिक, दोनों शक्तियों का पूर्ण विकास दिखाया गया है। साथ ही इन शक्तियों को स्वभाव की शुद्धता और श्रेष्ठ जीवन के कार्यों का सहायक बनाने की भी आवश्यकता बतलाई गई है।

व्यासजी ने महाभारत में पार्थिव शक्ति की परा काष्ठा दिखलाकर उसकी निस्सारता दिखलाई है। उन्होंने कर्तव्याकर्तव्य और धर्माधर्म का बड़ा ही सूक्ष्म निर्णय किया है। स्वर्ग में युधिष्ठिर को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ था कि उनके धार्मिक भाइयों का तो वहाँ पता नहीं, पर अधार्मिक दुर्योधन स्वर्ग की विभूति का उपभोग कर रहा है। बात यह है कि अपने कर्तव्य-क्षेत्र में बलि हो जाना ही धर्म की परा काष्ठा है।

होमर के दो काव्य प्रसिद्ध हैं। एक का नाम इलियड है, और दूसरे का आडेसी। इलियड में, प्राचीन ग्रीक-इतिहास में प्रसिद्ध, 'ट्रोज़न-वार'-नामक युद्ध का सविस्तर वर्णन है। प्राचीन काल में, एशिया में, एक समृद्धि-शाली राज्य था। उसकी राजधानी थी ट्रॉय। उस राज्य के अधीश्वर का नाम प्रायम था। उसका एक पुत्र था पेरिस। पेरिस स्पार्टा-नरेश मेनीलास की स्त्री हेलेन को भगा लाया। इस अपमान से क्षुब्ध होकर मेनीलास ने सब ग्रीक राजों को एकत्र कर ट्रॉय पर आक्रमण किया। बड़ा भीषण युद्ध हुआ। अंत में ग्रीक वीरों ने ट्रॉय को हस्तगत कर ही लिया। यही इलियड की कथा है। आडेसी में यूलीसेस-नामक एक ग्रीक-नरेश की यात्रा का वर्णन है।

होमर की कल्पना-शक्ति बड़ी प्रचंड थी। उसके काव्यों में एक विलक्षण शक्ति है। महाकाव्यों में कथा पर ही ज़ोर दिया जाता है। पर होमर ने भिन्न-भिन्न चरित्रों की अवतारणा और उनके मानसिक भावों का विश्लेषण कर अपने काव्य को नाटक का रूप दे दिया है। एक विद्वान् समालोचक की राय है कि यदि नाटककारों में होमर को स्थान देना चाहें, तो हमें उसे शेक्सपियर के समकक्ष मानना पड़ेगा। इस दृष्टि से उसके काव्यों की तुलना रामायण और महाभारत से नहीं की जा सकती। परंतु रामायण और महाभारत की तरह होमर के काव्यों ने योरप में एक विचार-धारा प्रवर्तित कर दी है। मनुष्य के जीवन में जिस अदृष्ट शक्ति का प्राबल्य है, उससे पृथक् कर उसने मानव-जाति के अध्यात्म-शक्ति-विहीन जीवन का दर्शन करा दिया। हेलेन वैसे ही पार्थिव श्री की प्रतिमा है, जैसे द्रौपदी क्रिया-शक्ति की और सीता विशुद्धि की।

कविता के लिये अलंकार भी आवश्यक माने गए हैं। होमर की उपमाओं के विषय में एक समालोचक का कथन है कि होमर ने भाषा के सौंदर्य की वृद्धि के लिये उपमा का प्रयोग नहीं

कि कवि को वही स्थान प्राप्त है, जो ऋषि को। उपनिषदों में कहा गया है—"कविर्मनीषी परिभू स्वयभू।" अतएव जिस कवि की रचना में वह गुण नहीं, जो एक ऋषि के वचन में होता है, उसे हम कवि नहीं कहेंगे। अलकार, भाषा का सौष्ठव, माधुर्य आदि काव्य के गुण कहे जाते हैं। परंतु ऋषि की कृति में हम इतने से ही संतुष्ट न होंगे। हम तो उससे यही आशा करेंगे कि वह हममें स्वर्गीय भाव भर दे। ऋषि का वचन कामधेनु के समान हमारी सब वासनाओं का अंत कर सकता है। रामायण का पाठ करने से फिर कोई वासना नहीं रह जाती। तभी तो वह स्वर्ग का सोपान कही गई है।

रामायण में एक आदर्श समाज का चित्र है। इसीलिये कुछ लोगों को उसकी कथा अस्वाभाविक सी प्रतीत होती है। परंतु यह उनका भ्रम है। रामायण से यही सिद्ध होता है कि मानव समाज किस प्रकार आदर्श रूप में परिणत हो सकता है, पृथ्वी कैसे स्वर्ग हो सकती है? अरविंद बाबू की राय है कि रामायण में एक विशुद्ध नैतिक अवस्था का चित्र पाया जाता है। उसमें शारीरिक और मानसिक, दोनों शक्तियों का पूर्ण विकास दिखाया गया है। साथ ही इन शक्तियों को स्वभाव की शुद्धता और श्रेष्ठ जीवन के कार्यों का सहायक बनाने की भी आवश्यकता बतलाई गई है।

व्यासजी ने महाभारत में पार्थिव शक्ति की परा काष्ठा दिखलाकर उसकी निस्सारता दिखलाई है। उन्होंने कर्तव्याकर्तव्य और धर्माधर्म का बड़ा ही सूक्ष्म निर्णय किया है। स्वर्ग में युधिष्ठिर को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ था कि उनके धार्मिक भाइयों का तो वहाँ पता नहीं, पर अधार्मिक दुर्योधन स्वर्ग की विभूति का उपभोग कर रहा है। बात यह है कि अपने कर्तव्य क्षेत्र में बलि हो जाना ही धर्म की परा काष्ठा है।

होमर के दो काव्य प्रसिद्ध हैं। एक का नाम इलियड है, और दूसरे का आडेसी। इलियड में, प्राचीन ग्रीक-इतिहास में प्रसिद्ध, 'ट्रोजन-वार'-नामक युद्ध का सविस्तर वर्णन है। प्राचीन काल में, एशिया में, एक समृद्धि-शाली राज्य था। उसकी राजधानी थी ट्रॉय। उस राज्य के अधीश्वर का नाम प्रायम था। उसका एक पुत्र था पेरिस। पेरिस स्पार्टा-नरेश मेनीलास की स्त्री हेलेन को भगा लाया। इस अपमान से क्षुब्ध होकर मेनीलास ने सब ग्रीक राजों को एकत्र कर ट्रॉय पर आक्रमण किया। बड़ा भीषण युद्ध हुआ। अंत में ग्रीक वीरों ने ट्रॉय को हस्तगत कर ही लिया। यही इलियड की कथा है। आडेसी में यूलीसेस-नामक एक ग्रीक-नरेश की यात्रा का वर्णन है।

होमर की कल्पना-शक्ति बड़ी प्रचंड थी। उसके काव्यों में एक विलक्षण शक्ति है। महाकाव्यों में कथा पर ही ज़ोर दिया जाता है। पर होमर ने भिन्न-भिन्न चरित्रों की अवतारणा और उनके मानसिक भावों का विश्लेषण कर अपने काव्य को नाटक का रूप दे दिया है। एक विद्वान् समालोचक की राय है कि यदि नाटककारों में होमर को स्थान देना चाहें, तो हमें उसे शेक्सपियर के समकक्ष मानना पड़ेगा। इस दृष्टि से उसके काव्यों की तुलना रामायण और महाभारत से नहीं की जा सकती। परंतु रामायण और महाभारत की तरह होमर के काव्यों ने योरप में एक विचार-धारा प्रवर्तित कर दी है। मनुष्य के जीवन में जिस अदृष्ट शक्ति का प्राबल्य है, उससे पृथक् कर उसने मानव-जाति के अध्यात्म-शक्ति-विहीन जीवन का दर्शन करा दिया। हेलेन वैसे ही पार्थिव श्री की प्रतिमा है, जैसे द्रौपदी क्रिया-शक्ति की और सीता विशुद्धि की।

कविता के लिये अलंकार भी आवश्यक माने गए हैं। होमर की उपमाओं के विषय में एक समालोचक का कथन है कि होमर ने भाषा के सौंदर्य की वृद्धि के लिये उपमा का प्रयोग नहीं

किया। वह जिस किसी बात को विशेष प्रभावोत्पादक बनाना चाहता था, उसी का उल्लेख उपमा के द्वारा कर देता था। उपमाओं से कवित्व शक्ति का उच्छ्वास प्रकट होता है। इसलिये उनका प्रयोग उतना ही स्वाभाविक जान पड़ता है, जितना उनका प्रभाव। वाल्मीकि की उपमाएँ बड़ी सरल होती हैं, परंतु व्यास की उपमाओं में एक प्रकार की निरंकुशता है।

होमर की कविता के विषय में मैथ्यू आर्नल्ड साहब का कथन है कि उसके तीन प्रधान गुण हैं। पहला गुण है उसका वेग। होमर का कविता-स्रोत गिरि-निर्झर की तरह बड़े ही वेग से बहता है। उसकी गति कभी शिथिल नहीं होती। उसकी छंदोयोजना भी ऐसी है कि उससे कविता की गति तीव्रतर हो जाती है। दूसरा गुण है भावों की विशदता। होमर की लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण उसकी प्रासादिक कविता है। तीसरा गुण है भावों की उच्चता, जिससे मनुष्य अपना पशुत्व दूर कर देवोपम हो जाता है। मैथ्यू आर्नल्ड साहब का यह कथन रामायण और महाभारत के लिये भी उपयुक्त है। उनमें भी कविता की निर्बाध धारा, प्रसाद-गुण और स्वर्गीय भाव हैं।

कवि का प्रधान गुण है आदर्श-चरित्रों की सृष्टि करना। होमर ने आदर्श नर-नारियों के चरित्र अंकित किए हैं, और व्यास और वाल्मीकि ने भी। परंतु इनके चरित्रों की परस्पर तुलना नहीं हो सकती। होमर की हेलेन, वाल्मीकि की सीता और व्यास की द्रौपदी, तीनों अद्वितीय हैं। होमर को जैसी सफलता हेलेन के चरित्रांकण में हुई है, वैसी ही व्यास और वाल्मीकि को द्रौपदी और सीता के चरित्र चित्रण में। परंतु कला की कुशलता पर विचार न कर यदि चरित्र की दिव्यता पर विचार किया जाय, तो राम और सीता के चरित्र अद्वितीय हैं।

रामायण में रामचंद्र और सीता का ही चरित्र प्रधान है। अन्य चरित्रों की अवतारणा इन्हीं दो चरित्रों को विशद करने के लिये हुई है। रामचंद्र पुरुषोत्तम हैं। वह लोक-मर्यादा के संरक्षक हैं, सत्य-व्रत हैं, शूर हैं। उनमें देव-दुर्लभ गुण हैं। परंतु यदि राम में सिर्फ़ ये ही गुण रहते, तो कदाचित् आज मनुष्यों के हृदय-मंदिर में उनका यह स्थान न होता। उनके चरित्र की विशालता और भव्यता देखकर लोग विस्मय-विमुग्ध अवश्य हो जाते, पर उन्हें अपनाते नहीं। आज रामचंद्र को ईश्वर का पद प्राप्त है। उनका नाम-मात्र स्मरण करके नीच मनुष्य भी भव-सागर के पार हो जाता है। मनुष्यों की यह भक्ति-भावना उनके अलौकिक चरित्र के कारण नहीं है, किंतु उनके लौकिक चरित्र के कारण है। उनकी विशाल महिमा से आतंक उत्पन्न हो सकता है, प्रेम की उत्पत्ति नहीं हो सकती। रामचंद्र ईश्वर थे; पर आए थे वह मनुष्य के ही रूप में। उनमें मनुष्योचित गुण थे। वह पुत्र थे, भ्राता थे, स्वामी थे। उन्होंने मनुष्यों के सुख-दुख और आशा-निराशा का अनुभव किया था। जो राजराजेश्वर हैं, वे दरिद्रों की कुटी का अनुभव नहीं कर सकते। परंतु रामचंद्र ने दारिद्र्य-व्रत भी धारण किया था। राज-सिंहासन के नीचे उतरकर दरिद्रता का आलिंगन किया था, वल्कल-वस्त्र पहनकर जंगल-जंगल घूमे थे। तभी तो अधमों को उनके पास जाने का साहस होता है। तुलसीदासजी ने रामचंद्र के चरित्र में उनकी ईश्वरीय शक्ति का बार-बार स्मरण कराया है। इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। सच पूछो, तो इससे राम-चरित-मानस में बड़ा दोष आ गया है। सीता की वियोग-व्यथा से पीड़ित होकर रामचंद्र ने जो विलापोद्गार किए हैं, उन्हें पढ़कर हृदय द्रवीभूत हो जाता है। संभव नहीं कि कोई भी पाठक उन स्थलों को पढ़कर—जहाँ तुलसीदासजी ने

रुण-रस का स्रोत बहा दिया है—आँसू न बहाते। परंतु ऐसे
ामों में तुलसीदास एकाएक कह देते हैं, यह तो ईश्वर हैं, ना-
ता कर रहे हैं, इन्हें सुख दुख कहाँ? उस समय हृदय हताश हो
ता है; क्योंकि तब वह हमसे बहुत दूर हट जाते हैं। कौशल्या
तरह हम भी हाथ जोड़कर कहते हैं—'भगवन्, आप अपना
व-रूप मत दिखलाइए। ईश्वर के रूप में मत आइए। हमें
पं तपस्वी-रूप में ही दर्शन दीजिए।' इसी प्रकार, धनुष भंग
सीता के हृदय में आशा और निराशा का जो द्वंद्व-युद्ध चला है,
ससे हृदय स्पंदन क्षण-भर के लिये रुक जाता है। परंतु ज्यों
तुलसीदासजी हमें इसका स्मरण कराते हैं कि सीताजी तो
ाजननी हैं, त्यों ही हमारा औत्सुक्य नष्ट हो जाता है; क्योंकि तब
हमसे बहुत दूर हट जाती हैं। जहाँ क्षुद्र मनुष्य के क्षुद्र भाव
ो पहुँच सकते, वहाँ वाल्मीकिजी ने रामचंद्रजी की ईश्वरता
ज़ोर नहीं दिया है; उन्हें मनुष्य के रूप में लाकर मनुष्यों के
ये उनका चरित्र सुगम कर दिया है। सीताजी के चरित्र चित्रण
तो उन्हें बड़ी सफलता हुई है। ऐसा दिव्य-चरित्र किसी
य कवि ने अंकित नहीं किया है। यही कारण है कि हज़ारों
बीत गए, तो भी वाल्मीकि का मधुर गान, भारतीय नर-
रियों के कानों में, आज भी ध्वनित हो रहा है। प्राचीन अयोध्या
ध्वस हो गया, किंतु हिंदू समाज के हृदय में अयोध्या आज
प्रतिष्ठित है। संसार में हिंदू जाति का जब तक अस्तित्व रहेगा,
तक उसके हृदय से रामायण का प्रभाव दूर न हो सकेगा।
वाल्मीकि, व्यास और होमर, ये प्राचीन युग के कवि थे। अब
मध्य युग के कवियों पर विचार करना चाहते हैं।
सभी देशों के साहित्य में तीन अवस्थाएँ होती हैं। पहली
स्था में साहित्य भाव प्रवण होता है। यह जागृति का काल है,

जो देश में नवजीवन का संचार और नवीन भावों का प्रचार करने-वाला होता है। पर इसमे साहित्य में अशांति और व्याकुलता फैल जाती है। इस समय नए आदर्शों के साथ प्राचीन आदर्शों का संघर्षण होने पर स्वाधीनता तथा उच्छृंखलता का भाव उदित होता है, साहित्य में आत्म-केंद्रता और आत्म-सर्वस्वता स्थापित होती है, मनुष्य-जीवन से साहित्य का पार्थक्य हो जाता है। इसके बाद साहित्य की दूसरी अवस्था होती है, जब अशांति और विप्लव के बाद सामंजस्य-विधान की आकांक्षा जाग्रत् होती है, प्राचीन आदर्श के साथ नवीन भावों का समन्वय-साधन करने की चेष्टा की जाती है, साहित्य और मनुष्य के सामाजिक जीवन में संबंध स्थापित किया जाता है। ऐसे ही तीसरी अवस्था में साहित्य कवि की कल्पना की सामग्री नहीं रहता; वह उसकी साधना का फल होता है, जब कवि जीवन का लक्ष्य समझ जाता और युग-धर्म को आयत्त कर लेता है, तब वह साहित्य के द्वारा उस ज्ञान का वितरण करता है। भिन्न-भिन्न युगों में जो श्रेष्ठ कवि जन्म लेते हैं, उनका कार्य इन्हीं तीन अवस्थाओं में से किसी एक का सूचक होता है। अब विचारणीय यह है कि साहित्य की ये अवस्थाएँ होती कब हैं।

सत्य का स्वरूप चिरंतन है; परंतु उसकी अभिव्यक्ति जीवन में ही होती है। अतएव साहित्य उस चिरंतन सत्य को जीवन में उपलब्ध करने की चेष्टा करता है। जब तक मनुष्य प्रकृति के संसर्ग में रहता है, तब तक वह प्रकृति में ही सत्य का स्वरूप देखता है। जब प्रकृति से उसका संसर्ग छूट जाता है, तब वह अपनी अंतर्निहित शक्ति में सत्य का अनुभव करने लगता है। परंतु वह इस अवस्था को तुरंत ही नहीं पा लेता। जब उसकी मानसिक स्थिति प्रकृति और उसके बीच एक व्यवधान खड़ा कर देती है, तब वह अशांति का अनुभव करता है। अंत में

जब वह प्रकृति पर आत्म शक्ति के द्वारा विजय प्राप्त कर लेता है, तब वस्तु जगत् की अवहेलना करने लगता है। इसका फल यह होता है कि वह एक अपार्थिव जगत् को सत्य मानकर उसी की भित्ति पर अपने सपूर्ण जीवन की रचना करने का प्रयत्न करता है। जब वस्तु-जगत् के साथ उसका मेल नहीं होता, तब वह एक ऐसे आदर्श जीवन की खोज करता है, जिसमें उसका सामजस्य हो सके। इस प्रकार, भावों का उत्थान पतन होने से, साहित्य में भिन्न भिन्न अवस्थाएँ दृष्टि गोचर होती हैं।

योरप में प्लेटो ने एक आदर्श राष्ट्र की कल्पना की थी। उसमें उसने कवियो और नाटकों को उच्च स्थान नहीं दिया था। प्लेटो की यह धारणा थी कि कवियो का जो वर्णनीय विषय है, उससे केवल प्रवृत्तियों की उत्तेजना ही बढ़ती है, जिससे मनुष्य का सयम नष्ट हो जाता है। प्लेटो के मतानुसार वही साहित्य श्रेष्ठ है, जो मनुष्य को वस्तु जगत् से आदर्श की ओर आकृष्ट करे। परतु वह आदर्श जगत् है कहाँ ? मध्य-युग मे वह आदर्श ऐहिक जगत् में नहीं, पारलौकिक जगत् में था। पाप ग्रस्त और सुख दुख से परिपूर्ण होने के कारण मनुष्य जीवन किसी भी दृष्टि में स्तुत्य नहीं था। अतएव तत्कालीन साहित्य का ध्येय यही था कि मनुष्य समाज मे पारलौकिक आदर्शों का प्रचार किया जाय। मनुष्यो की जो प्रवृत्तियाँ उन्हें पार्थिव स्नेह की ओर खींचती थीं, वे हेय समझी जाती थीं, और उनका ध्वस करने में जीवन की सार्थकता थी। कठोर तपश्चर्या और सयम के द्वारा मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्तियो का दमन किया जा सकता है, परंतु प्रवृत्तियों का नाश होने से मनुष्य स्वय अस्वाभाविक हो जाता है। मनुष्य ने प्रकृति को मायाविनी कहकर उसका माया जाल तोड़ना चाहा, पर उससे उसके ही अग क्षत विक्षत हो गए, समाज उच्छृखल

हो गया। अलक्षित जगत् की कामना में पड़कर जब मनुष्य ने ऐहिक जगत् के प्रति अपने कर्तव्यों की उपेक्षा की, तब समाज में सदाचार और मर्यादा की रक्षा कौन करता ? समाज क्रिया-हीन हो गया, और अकर्मण्यता के जितने दुष्परिणाम हो सकते हैं, वे प्रकट होने लगे। दांते के समय में महात्मा ईसा के निवृत्ति-मार्ग ने समाज की जो दशा कर दी थी, वही दशा मिल्टन के समय में प्युरीटन की शिक्षाओं का अनुसरण करने से इँगलैंड की हुई। भारतवर्ष में संन्यास-धर्म ने उसी प्रकार अशांति उत्पन्न कर दी। अब प्रश्न यह था कि मनुष्यों के ऐहिक जीवन के साथ उनके आध्यात्मिक जीवन का सामंजस्य कैसे किया जाय ?

भारत में मध्य-युग के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा हिंदी-साहित्य में उस आंदोलन का जन्म हुआ, जिसके प्रतिपादक कबीर और दादूदयाल थे। इस धार्मिक आंदोलन की विशेषता यह थी कि प्रवृत्ति का ध्वंस न करके उसकी अभिव्यक्ति को आध्यात्मिकता की ओर ले जाना चाहिए। स्वभाव की उपेक्षा करके किसी अचिंत्य मानवीय आदर्श के अनुसंधान में व्यस्त रहने से उसका विपरीत ही प्रतिफल होता है। विषय को छोड़कर विषयी को पकड़ने की चेष्टा करना, मनुष्य को छोड़कर मनुष्यत्व के पीछे दौड़ना और इंद्रिय को छोड़कर रस-ग्रहण करने जाना विडंबना-मात्र है। इस आंदोलन का परिणाम यह हुआ कि भारत के धर्माचार्यों ने जिन पारलौकिक बंधनों से समाज को बाँध रक्खा था, वे शिथिल हो गए। लोग अशांति का अनुभव करने लगे। उनकी प्रवृत्तियाँ जाग्रत् हो गईं। उन प्रवृत्तियों को केंद्रीभूत करने के लिये कबीर और दादूदयाल की आध्यात्मिक भावनाएँ असमर्थ थीं। जिस रूप की महत्ता उन्होंने अपने हृदय में देखी थी, वह साधारण लोगों के लिये लभ्य थी। जिस सौंदर्य का आभास उन्होंने

दिया था, उसकी प्राप्ति के लिये व्याकुलता होनी ही चाहिए। यह अवस्था उपस्थित होने पर कवियों ने मानव-जीवन में सौंदर्य उपलब्ध करने का प्रयत्न किया। तब उनका लक्ष्य परब्रह्म के निर्गुण रूप से हटकर सगुण रूप में केंद्रीभूत हो गया। राम और कृष्ण में उन्होंने सौंदर्य की पूर्णावस्था देखी। राम और कृष्ण इष्टदेव अवश्य थे, परंतु उनसे मानव जीवन का पुनः संबंध हो गया। इसके बाद कवियों ने समस्त मानवीय भावनाओं को इष्ट-देवों पर आरोपित करना आरंभ किया। इसका फल यह हुआ कि हिंदी के परवर्ती कवियों ने देवत्व का स्थान मनुष्यत्व को दे डाला। सभी नायक कृष्ण हो गए, और सभी नायिकाएँ राधा।

योरप में मध्य-युग की विशेषता दांते के परिस्फुटन-काल में हुई। दांते का जन्म इटली के फ़्लॉरेंस-नामक नगर में, सन् १२६५ ई० में, हुआ था। दांते का पिता, आलबिसेरी, एक साधारण स्थिति का गृहस्थ था। दांते की माता का नाम बेला था। जब दांते नव वर्ष का था, तब उसने बीट्रिस नाम की एक लड़की को देखा। उस समय वह भी नव वर्ष की थी। इन दोनों में परस्पर प्रेम हो गया। जब दांते अठारह वर्ष का हुआ, तब उसने इसी प्रेम के कारण एक गीति-काव्य की रचना की। यह काव्य इटली में अपूर्व माना जाता है। इसका नाम है—वाइटा नूयोवा। अपने बाल्य-काल के प्रेम से दांते में जिस नवजीवन का संचार हुआ, उसी का परिचय हम उसके इस काव्य में पाते हैं। उसने बीट्रिस को साक्षात् प्रेम माना है, और इसीलिये उसके आगमन को देवता का आगमन समझा। परंतु मानव-जाति से पृथक् होकर भी वह दांते के हृदय में स्त्री-रूप में ही विराजमान थी।

कुछ लोगों का ख़याल है कि बीट्रिस कवि की कल्पना-मात्र है।

परंतु बोकेशिओ-नामक एक लेखक का कथन है कि वीट्रिस सचमुच एक स्त्री थी। सादमन डी वार्डी-नामक एक युवक से उसका विवाह हुआ था। छब्बीस वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई।

दांते ने बाल्य-काल में अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी। लेटिन और ग्रीक-भाषाओं में वह पूर्ण दक्ष न था, इसीलिये उसने प्रचलित भाषा में कवि होने की चेष्टा की। होमर और वर्जिल के बाद योरप के कवियों में उसी का नाम लिया जाता है। पहले उसकी कविता का विषय प्रेम था। वीट्रिस की मृत्यु के बाद उसने शोक-काव्य लिखा। इसी समय उसके चरित्र की भी अवनति होने लगी। इसे उसने स्वयं स्वीकार किया है। उसने लिखा है—"तुम्हारे अंतर्हित होते ही पार्थिव सुखों ने मुझे पथ-भ्रष्ट कर दिया।"

हम कह आए हैं कि सबसे पहले दांते ने गीति-काव्य की रचना की। उसने देखा, लेटिन-भाषा निर्जीव हो गई है, सर्व-साधारण में उसका प्रचार नहीं है। जो लेटिन जानते थे, वे भी शुष्क शब्द-जाल में पड़े थे। इसी समय इटली के कुछ कवि फ्रांस के ट्रूबेडोर-नामक गायकों का अनुसरण कर फ्रेंच-भाषा में कविता लिखने लगे। परंतु दांते ने उनका अनुसरण नहीं किया। उसने मातृभाषा को ही काव्य की उपयुक्त भाषा मानकर उसी को उन्नत करने की चेष्टा की। उसकी चेष्टा सफल हुई। वाइटान् योवा के बाद उसने कुछ छोटी-छोटी कविताएँ और लिखीं। उनका भी विषय प्रेम था। दांते का कथन था कि वह कविता किसी काम की नहीं, जो हृदय से उद्भूत न हो; और तब तक हृदय से कविता का उद्गार हो ही नहीं सकता, जब तक उसमें प्रेम नहीं है। वह प्रेम अशरीरी नहीं था। उसका रूप था, उसमें अतृप्तवासना थी, और वासना को पूर्ण करने के लिये अदम्य आकांक्षा। अब इन कविताओं की आध्यात्मिक

व्याख्या भी की जाती है। कुछ भी हो, इन कविताओं की रचना कर दांते ने भाषा को अपने अनुकूल कर लिया। छंद भी उसने अलग बनाए। इसके बाद उसके प्रसिद्ध महाकाव्य की रचना हुई।

दांते के महाकाव्य का नाम है—डिवाइन कामेडी। उसके तीन खंड हैं। पहले खंड में नरक की कथा है। दूसरे में पाप-क्षय-भूमि का वर्णन है। तीसरे में स्वर्ग की कथा है। दांते ने अपने काव्य को कामेडी कहा है। कामेडी-शब्द का मूल-अर्थ है ग्राम्य गीत। दांते का महाकाव्य ग्राम्य भाषा में, इटली की साधारण प्रचलित भाषा में, लिखा गया है। यदि हम कामेडी का अर्थ सुखांत काव्य करें, तो भी यह नाम सार्थक होगा; क्योंकि दांते का काव्य सुखांत ही है—पहले अध्याय में नरक, फिर पाप-भोग एवं पाप क्षय और अंत में स्वर्ग का वर्णन। दांते का विश्वास था कि कोई मनुष्य कितना ही पापी क्यों न हो, अंत में उसका उद्धार अवश्य होगा। विधाता ने मनुष्य के लिये दो साध्य स्थिर रक्खे हैं। एक तो है इसी जीवन का भोग्य आनंद। इसी के लिये मनुष्य अपनी क्षमता का प्रयोग करता है, और पृथ्वी पर आनंद-धाम की सृष्टि कर सकता है। दूसरा है अनंत जीवन का अनंत सुख। यह बिना भगवद्दर्शन के प्राप्य नहीं। भगवान् की पूर्ण कृपा से ही मनुष्य इस दुर्लभ अवस्था को पा सकता है। इसी तत्त्व को समझाने के लिये दांते ने अपने महाकाव्य की रचना की। दांते ईसाई-धर्म का अनुयायी था। धर्म के द्वारा कर्म-फल का भोग होता है, यह उसका विश्वास नहीं था। इसलिये उसने नरक का वर्णन किया। नरकवासियों को पाप का ज्ञान नहीं रहता, इसीलिये उनमें पश्चात्ताप का भाव भी उदित नहीं होता। उस समय उत्कट-यंत्रणा-दायक अवस्था में जीवात्मा का अवस्थान रहता है। नरक में जीवात्मा का अहंकार दूर नहीं होता। जब उसका अहंकार नष्ट हो जाता

है, तब वह पाप-क्षय-भूमि में प्रविष्ट होता है। उसी का नाम है—परगेटरी। यह प्रायश्चित्त, पश्चात्ताप और अनुशोचना का स्थान है। यहाँ जीवात्मा का कर्म-जन्य मालिन्य दूर होता है, और तब वह स्वर्गारोहण करता है। वहाँ भगवान् का सामीप्य प्राप्त कर वह मुक्त हो जाता है। ईसाई-धर्म में सायुज्य और सारूप्य मुक्ति नहीं है। अपने काव्य का नायक स्वयं दांते है।

महाकाव्य की कथा यह है—जब दांते पैंतीस वर्ष का हुआ, तब वह एक भीषण वन में अपनी राह भूल गया। वह वन था तत्कालीन योरप। उस समय आस्ट्रिया का अधिपति था सम्राट् अलबर्ट। वह विलासी और कर्तव्य-पराङ्मुख था। धर्म-कार्य का निरीक्षक था अष्टम बोनीफ़ेस। वह भी लंपट था। जो मनुष्य को सत्पथ पर ले जा सकते थे, वे दोनो ही अयोग्य थे। इसीलिये योरप भीषण अरण्य था। दांते भटकता-भटकता एक पर्वत के पास पहुँचा। वह पर्वत बड़ा मनोमोहक था। उसका शिखर अरुणोदय से समुज्ज्वल था। वह पर्वत था दांते का काल्पनिक पार्थिव स्वार्थ। दांते उस पर चढ़ने लगा। इसी समय तीन हिंसक जंतुओं ने उस पर आक्रमण किया। वे थे काम, क्रोध और मोह। इनसे वह लड़ ही रहा था कि लोभ-रूपी भेड़िए ने उस पर पीछे से आक्रमण किया। दांते पहाड़ के नीचे गिर पड़ा, और छटपटाने लगा। उसी समय वर्जिल ने आकर उसको ज्ञानोपदेश दिया। उससे उसका मोह दूर हुआ, और वह अपने उद्धार की चेष्टा करने लगा। तब वह राह खोजने लगा। सबसे पहले उसने नरक को देखा। इसके बाद वह परगेटरी में पहुँचा। उसके अंतिम द्वार पर उसने बीट्रिस को देखा। उसके विशुद्ध प्रेम, निस्वार्थ जीवन और पवित्रता के प्रभाव से दांते स्वर्ग-राज्य में प्रविष्ट हुआ। इससे दांते का यह सिद्धांत मालूम होता है कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ से नरक

और प्रायश्चित्त की यंत्रणा को तो दूर कर सकता है, परंतु बिना निस्स्वार्थ प्रेम के वह स्वर्ग नहीं प्राप्त कर सकता। यहीं पर दांते के महाकाव्य का अंत हुआ है।

दांते का नरक मनुष्यों की उस पापमय अवस्था का द्योतक है, जब उसमें अनुताप का थोड़ा भी भाव नहीं रहता। जब तक मनुष्य का हृदय पाप की ज्वाला से संतप्त नहीं होता, तब तक पाप की प्रबलता पूर्ण रूप से रहती है। परंतु जब वह अपनी पापाग्नि का ताप पाने लगता है, तब उसका प्रायश्चित्त आरंभ होता है। सात पाप प्रधान हैं—दर्प, ईर्ष्या, क्रोध, आलस्य, लोभ, अतिभोजन और लपटता। ये पाप क्रमशः एक एक करके दूर होते हैं। इस तरह प्रायश्चित्त के सात सोपान हैं। जब सातों पापों का क्षय हो जाता है, जब हम प्रायश्चित्त के अंतिम सोपान पर पहुँच जाते हैं, तब स्वर्गारोहण करते हैं। पांडवों के स्वर्गारोहण के समान यदि किसी न किसी भी प्रकार का पाप अवशिष्ट रहा, तो वह बीच ही में गिर जाता है, स्वर्ग के द्वार पर नहीं पहुँच सकता।

दांते के महाकाव्य के 'स्वर्ग'-नामक अंतिम अध्याय में अनंत और कर्म साफल्य, इन दो विषयों की आलोचना की गई है। नित्य विद्यमानता को ही अनंत कहते हैं। जहाँ गति नहीं, अपचय और उपचय नहीं, वहीं अनंत है। दांते को अनंत का मर्म समझाने के लिये बीट्रिस उस एक ऐसे देश में ले गई, जहाँ दिन और रात्रि का परिवर्तन नहीं होता था। वहीं बीट्रिस ने उसे दिखाकर कहा—"देखो, ग्रह, नक्षत्र और तारागण जहाँ घूम रहे हैं, वहीं निकाल—भूत, भविष्य और वर्तमान—का सम्यक् विकास है। तुम जहाँ हो, वहाँ काल का परिणाम नहीं है। जो काल से अतीत है, वही अनंत है।" दूसरी बात है कर्म साफल्य। कर्म-

प्राप्ति क्या है? जब मनुष्य की इच्छा भगवान् की इच्छा में पूर्ण रूप से मिल जाती है, तब जीवन का फल मिल जाता है। कहा भी गया है—"To see God is to see as God sees." अर्थात् भगवान् को उसी दृष्टि से देखना होगा, जिससे भगवान् संसार को देखते हैं। यही दांते के महाकाव्य का विषय है।

दांते केवल कवि ही नहीं था। वह राजनीतिज्ञ भी था। योद्धा के वेष में उसे युद्ध-भूमि में भी उतरना पड़ा था। सन् १२८९ में वह कंपोनडिया के युद्ध में सम्मिलित हुआ था। इस युद्ध में फ़्लॉरेंस-वासियों ने विजय प्राप्त की थी। अपने नगर के राजनीतिक क्षेत्र में दांते को काम करना ही पड़ता था। एक बार दांते का दल पराजित हुआ। तब उसे निर्वासन-दंड मिला। दांते के लिये यह निर्वासन-काल बड़ा ही कष्ट-दायक था; परंतु उसने धैर्य-पूर्वक यह दंड सहा। एक बार उसे फ़्लॉरेंस लौट आने का अवसर मिला। फ़्लॉरेंस की एक प्राचीन प्रणाली यह थी कि सेंट जान के दिवस में जो निर्वासित अपराधी हाथ में मशाल लेकर गिरजाघर तक श्रेणीबद्ध होकर जाते थे, वे दंड-मुक्त हो जाते थे। पर दांते ने इस रीति के द्वारा छुटकारा पाना अस्वीकार किया। सन् १३२१ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

विश्व के अक्षय मंदिर में कालिदास और शेक्सपियर का स्थान सबसे पृथक् है। ये नवोत्थित काल के कवि हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कालिदास भारत में हिंदू-साहित्य के सर्व-श्रेष्ठ नाटककार हैं, और पाश्चात्य साहित्य में शेक्सपियर की समता करनेवाला कोई नाटककार नहीं है। शेक्सपियर ने अपनी रचनाओं के संबंध में कहीं पर लिखा है—"Not marble nor the gilded monument of princes shall out-live

this powerful rhyme" अर्थात् राजों के स्वर्ण मंडित समाधि-मंदिर इन रचनाओं से अधिक काल तक जीवित नहीं रहेंगे।

कालिदास को अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास था। वह जानते थे कि उनकी रचनाएँ सदैव आदृत होंगी। तभी तो उन्होंने सब विद्वानों से प्रार्थना की है कि वे पहले उनकी रचनाओं की परीक्षा अच्छी तरह कर लें। जब वे उनकी परीक्षा में ठीक उतरें, तब उन्हें ग्रहण करें—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्य नवमित्यवद्यम्,
सत परीक्ष्यान्यतरद् भजंते मूढ. परप्रत्ययनेय बुद्धि ॥"

अर्थात् कोई कृति न तो प्राचीन होने से आदरणीय हो सकती है, और न नवीन होने से निंद्य। जो विद्वान् होते हैं, वे उसकी उत्तमता की परीक्षा करके उसे ग्रहण करते हैं। जो मूढ़ हैं, वे ही दूसरे के विश्वास पर चलते हैं।

कालिदास के जीवन के संबंध में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका। सौ वर्ष पहले शेक्सपियर के विषय में भी इतना ही कहा जा सकता था कि वह स्ट्रैटफ़ोर्ड में पैदा हुआ, उसका विवाह हुआ, लड़के बच्चे हुए, फिर वह लंदन गया, वहाँ उसने एक नाट्यशाला में कुछ समय तक काम किया, नाटक लिखे, फिर धन और कीर्ति प्राप्त कर वह स्ट्रैटफ़ोर्ड लौट आया, और वहीं उसका अंतिम जीवन व्यतीत हुआ। परंतु अब शेक्सपियर के विषय में हज़ारों ग्रंथ निकल चुके हैं। उसके नाटकों का जितना प्रचार है, उतना अन्य किसी ग्रंथकार के ग्रंथों का नहीं। उसकी गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ कवियों में होती है। उसके अंतर्जीवन की यह विशालता देखकर लोगों को उसका बाह्य जीवन भी जानने की उत्सुकता हुई। तब विद्वानों ने उसके जीवन वृत्तांत की खोज की। उनके अनुसंधानों का यह फल हुआ कि शेक्सपियर के जीवन

की अधिकांश बातें लोगों को मालूम हो गईं। इससे लोगों का कुछ मनोरंजन अवश्य हुआ, पर यदि सच पूछा जाय, तो शेक्सपियर का जीवन अभी तक रहस्य-पूर्ण है। यह हम अवश्य जान गए कि शेक्सपियर की कैसी आर्थिक स्थिति थी, उसने नाट्य-शाला में कैसा जीवन व्यतीत किया, तो भी उसके नाटकों में हमने जिस शेक्सपियर का दर्शन किया, उसे हम उसके जीवन-चरित्र में नहीं देखते। बात यह है कि कवि का जीवन काव्य नहीं है, किंतु काव्य ही उसका जीवन है। इसलिये हम कवि से काव्य को पृथक् नहीं देख सकते।

शेक्सपियर के नाटकों की सृष्टि उसके अंतर्जगत् में हुई है। बाह्य जगत् से उसका थोड़ा ही संबंध है। इसमें संदेह नहीं कि शेक्सपियर को अपने देश, काल और अवस्था का ज्ञान था। मानव-जीवन की उत्तम, मध्यम और निकृष्ट अवस्थाओं से भी वह भलीभाँति परिचित था; क्योंकि उसने अपने जीवन के अनुभव का उपयोग नाटकों में किया है, और इसीलिये उसके जीवन पर हमें एक दृष्टि डालनी चाहिए। इससे अधिक विशेषता हम उसके जीवन में नहीं पाते। अपने जीवन में उसने सुख-दुख और आशा-निराशा का जो द्वंद्व-युद्ध देखा, वह साधारण-स्थिति के सभी मनुष्यों को देखना पड़ता है।

शेक्सपियर का जन्म १५६४ ईसवी में, स्ट्रैटफ़ोर्ड में, हुआ। उसका पिता, जॉन शेक्सपियर, एक साधारण-स्थिति का गृहस्थ था। जॉन शेक्सपियर ने मेरी आर्डेन नाम की एक युवती से विवाह किया। उस विवाह से उसे अपनी स्त्री की पैतृक संपत्ति मिल गई। जब विलियम शेक्सपियर का जन्म हुआ, तब उसकी अच्छी स्थिति थी। पर जब विलियम बारह वर्ष का हुआ, तब तक उसके पिता की स्थिति बिगड़ गई। विलियम को स्कूल छोड़कर अपने

पिता की सहायता के लिये आना पड़ा। उसके विषय में जितनी कथाएँ प्रचलित हैं, उनसे मालूम होता है कि वह बड़ा शराबी था, और उसमें शराबियों के सभी दुर्गुण वर्तमान थे। कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि वह सदाचार का आदर्श नहीं था। इसके बाद उस पर और भी विपत्तियाँ आईं। तब वह भागकर लंदन चला गया। लंदन पहुँचकर वह किसी न-किसी तरह एक नाटक-मंडली में सम्मिलित हो गया। परंतु नटों का जीवन सुखमय तो होता ही नहीं। शेक्सपियर के समय में तो उनकी दुर्दशा थी। इसलिये उसको अपमान और कष्ट चुपचाप सह लेना पड़ा। इस बात का अनुमान हम उसके निम्न-लिखित पद्यों से कर सकते है—

'Alas, it is true I have gone here and there
And made myself a motley to the view,
Gored mine own thoughts sold cheap what is most dear

यही बात उसने हेमलेट के मुख से भी कहलाई है—

For who would bear the whips and scorns of time
The oppressor's wrong the proudman's contumely,
The pangs of despised love the law's delay
The insolence of office and the spurns
That patient merit of the unworthy takes
When he himself might his quietus make
With a bare bodkin

अर्थात् कौन समाज का तिरस्कार, अन्यायियों का अत्याचार, अभिमानियों का दर्प, तिरस्कृत प्रेम की वेदना आदि दुःखों को सहना स्वीकार करेगा, जब वह अपने शरीर के नाश से इन दुखों से मुक्ति-प्राप्त कर सकता है ?

नीचों की संगत में रहने से नीचता आ ही जाती है। जल में

रहकर कमल के समान निर्लिप्त बने रहना सभी लोगों के लिये संभव नहीं है। नाट्य-शालाओं में काम करनेवाले लोगों के जीवन में अर्द्ध-रात्रि की छाया सदैव बनी रहती है। उन्हें अपने हृदय के भावों के विपरीत रंग-मंच पर प्रेम करना और हर्ष तथा खेद दिखलाना पड़ता है। मनुष्य उनके लिये क्रीड़ा और प्रेम की एक सामग्री हो जाता है, और वे उनके भावों का अनुसरण करते-करते अंत में सर्वथा भाव-शून्य हो जाते हैं। इसीलिये उनके आचार-व्यवहार में कृत्रिमता और निर्लज्जता आ जाती है। शेक्सपियर पर भी नाट्य-शाला के जीवन का प्रभाव पड़ा। नाट्य-शाला के बाहर वह बड़े लोगों की संगति में रहता था, जो सदा सांसारिक वैभव और पार्थिव सुखों में ही लिप्त रहते थे। यही कारण है कि हम शेक्सपियर की प्रथम रचना—वेनस और एडोनिस—में बाह्य सौंदर्य की अभिव्यक्ति और विलास की तीव्र भावना पाते हैं। इसके बाद उसने प्रेमोन्माद का अनुभव किया। वह अपने उन्माद पर लज्जित था। पर उसे छोड़ नहीं सकता था—

"When my love swears that she is made of truth,
I do believe her, though I know she lies."

अर्थात् जब मेरी प्रेमिका कहती है कि उसका प्रेम निश्छल है, और वह बड़ी सुशीला है, तब मैं उस पर विश्वास कर लेता हूँ, यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि उसका कहना सच नहीं है।

शेक्सपियर की यह प्रेम-भावना बढ़ती ही गई। अंत में वह समस्त विश्व में अपनी प्रेमिका का सौंदर्य देखने लगा—

"The lily I condemned for thy hand,
And buds of marjoram had stol'n thy hair,
The rose fearfully on thorns did stand,
One blushing shame, another white despair.

A third, nor red nor white, had stol'n of both—
And to his robbery had annexed thy breath,
More flowers I noted yet I none could see,
But sweet or colour it had stolen from thee"

अर्थात् मैंने जितने फूल देखे, सभी ने तुझसे कुछ-न-कुछ चुरा लिया। किसी ने रंग चुराया है, तो किसी ने रूप। किसी ने तेरे माधुर्य का अपहरण किया है, तो किसी ने तेरा सुगंधिमय निश्वास चुराया है।

यही शेक्सपियर की प्रतिभा है। उसका हृदय स्वच्छ दर्पण था, जिस पर ससार की छाया तुरंत पड़ जाती थी। स्पर्श-मात्र से उस की हृत्तत्री बज उठती थी। बेन जानसन ने उसे एवन का राजहंस (Sweet Swan of Avan) ठीक ही कहा था। उसमें बड़ी सहानुभूति थी। यही कारण है कि उसे अपने नाटकों में ऐसी सफलता हुई। जिसमें सहानुभूति है, जो अपना अस्तित्व भूलकर दूसरों में मिल जाता है, वही लियर और ओफीलिया की सृष्टि कर सकता है। शेक्सपियर विद्वान् नहीं था, उसने देश-विदेशों में खूब यात्रा भी नहीं की थी, तो भी उसे मानव स्वभाव का अपरिमित ज्ञान था। यह ज्ञान उसने अपने हृदय से प्राप्त किया, मस्तिष्क से नहीं।

कालिदास के नाटकों में भी जगह-जगह ऐसे श्लोक मिलते हैं, जिनसे उनके हृदय की अंतर्गत वेदना प्रकट होती है—

"आचार इत्यवहितेन मया गृहीता
या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता
प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था।"

कौन जाने, कंचुकी के इस कथन में कालिदास के अंतर्गत ताप का उद्गार है या नहीं?

इसी प्रकार—

"ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।"

इस अभिज्ञान-शाकुंतल के भरत-वाक्य से हमें ऐसा जान पड़ता है कि उनका अंतिम काल कदाचित् सुखद न रहा हो। परंतु यह क्लिष्ट-कल्पना है; क्योंकि—

"जीवन-मंथन से जो निकला विष, वह उसने पान किया,
और अमृत जो बाहर आया, उसे जगत को दान किया।"

कालिदास के विषय में किंवदंती प्रसिद्ध है कि वह पहले निपट मूर्ख थे, और फिर देवी की कृपा से वाक्सिद्ध हो गए। इसमें संदेह नहीं कि शेक्सपियर की तरह कालिदास में पांडित्य की अपेक्षा कवित्व अधिक है। ऊपर हमने शेक्सपियर की जो विशेषता बतलाई है, वह कालिदास पर भी चरितार्थ हो सकती है।

शेक्सपियर के नाटकों का विषय महत् तो है, पर उसके नायकों में विशेष कोई गुण नहीं है। हेमलेट में पितृभक्ति की परा काष्ठा है, तो भी नाटक-भर में उसका चित्त चलायमान ही रहा। लियर तो उन्माद-ग्रस्त था। उथेलो ईर्ष्या से इतना अंधा हो गया कि प्रमाण की अपेक्षा न कर उसने अपनी साध्वी स्त्री का वध ही कर डाला। मैकबेथ नमक-हराम था। अंटोनी कामुक था। जूलियस सीज़र दांभिक था। किंतु शेक्सपियर ने इन नाटकों में चरित्र-दौर्बल्य और पाप-प्रवृत्ति का भीषण परिणाम दिखलाया है।

यद्यपि शेक्सपियर ने अपने नायकों में उच्च चरित्र का समावेश नहीं किया, तथापि उसने ऐसे पात्रों की कल्पना की है, जिनके चरित्र से नाटक उज्ज्वल हो गए हैं। हेमलेट में होरेशियो और ओफ़ीलिया और लियर में केंट, एडगर और कार्डीलिया ऐसे ही पात्र हैं।

शेक्सपियर ने ऐसा क्यों किया ? इसका कारण हमारी समझ में तो यह आता है कि वह धन और क्षमता से गर्वित अँगरेज़ था। पार्थिव क्षमता ही उसके लिये लोभनीय थी। उसे महत् चरित्र की अपेक्षा विराट् चरित्र ही अधिक मुग्ध करता था। विराट् बुद्धि, विराट् प्रतिहिंसा, विराट् लोभ, ये ही उसके वर्णनीय विषय हैं। निरीह शिशु अथवा परदुःखकातर बुद्धि और चैतन्य कदाचित् उसकी दृष्टि में क्षुद्र चरित्र थे। इसका मतलब यह नहीं कि शेक्सपियर स्वार्थ त्याग का महत्त्व नहीं समझता था। तथापि इसमें संदेह नहीं कि उसने चरित्र के माहात्म्य को क्षमता के नीचे स्थान दिया है।

भारतवर्ष के कवि धर्म की महिमा से महीयान् थे। चरित्र का माहात्म्य ही उनका प्रतिपाद्य था। चरित्र को क्षमता के नीचे स्थान देना उन्हें कदापि स्वीकृत न था। इसीलिये उन्होंने इस नियम का प्रचार किया कि नाटक के नायक को सर्व-गुणान्वित और दोष-शून्य अंकित करना चाहिए। कालिदास भारतीय कवि थे। उन्होंने अपने नाटकों के प्रधान चरित्र को यथाशक्ति महत् करने की चेष्टा की है। यही इन दोनों के चरित्र-चित्रण में भेद है।

कुछ स्थलों में कालिदास और शेक्सपियर की रचनाओं में सादृश्य पाया जाता है। ऐसे ही कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं।

शेक्सपियर ने लिखा है—

"As a long parted mother with her child
Play fondly with her tears and smiles in meetings
So weeping, smiling greet I thee, my earth

अर्थात् अपने पुत्र से चिरकाल की बिछुड़ी हुई माता जिस प्रकार उससे भेंट होने पर रो-रोकर और हँस-हँसकर उसके साथ खेलती है, उसी प्रकार, हे देश, मैं भी रोता और हँसता हुआ तेरा स्वागत करता हूँ।

देखिए, कालिदास ने भी ऐसे अवसर पर क्या ही अच्छा लिखा है। चौदह वर्ष के वनवास के बाद रामचंद्र अयोध्या लौट रहे हैं। दूर से सरयू को देखकर वह सीताजी से कहते हैं—

"जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनुराजधानी ;
तुरंगमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि।
यां सैकतोत्संगसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम् ;
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे सम्भावयत्युत्तरकोशलानाम्।
सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता ;
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरंगहस्तैरुपगूहतीव।"

शेक्सपियर का निम्न-लिखित पद्य खूब प्रसिद्ध है—

"Cowards die many times before their death,
The valiant never taste of death but once,
Of all the wonders that I yet have heard,
It seems to me more strange that men should fear,
Seeing that death, a necessary end,
Will come it will come."

अर्थात् भीरु लोग अपनी मृत्यु के पहले भी अनेक बार मरते हैं। पर वीर पुरुष मृत्यु का एक ही बार आस्वादन करते हैं। मुझे सबसे अधिक आश्चर्य इसी बात पर होता है कि लोग मृत्यु से डरते हैं। मृत्यु तो अवश्यंभावी है। जब उसे आना होगा, तब वह आवेगी ही। इसमें डर क्या?

यही निर्भीकता हम दिलीप के कथन में पाते हैं। एक श्लोक देखिए—

"किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशः शरीरे भव मे-दयालुः ;
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु।"

पितृ-शोक से पीड़ित हेमलेट को जीवन की असारता और शोक

की व्यर्थता बतलाने के लिये उसके चाचा ने कहा था—

'All the lives must die,
Passing through nature to eternity

अर्थात् जो जीवित हैं, उन्हें मरना ही पड़ेगा। प्रकृति से सभी अनंत धाम को जाते हैं। इसलिये—

'Why should we in our peevish opposition
Take it to heart? Fie! tis a fault to heaven
A fault against the dead a fault to nature

अर्थात् हमें क्यों उससे मर्माहत होना चाहिए? शोक करने से तो हम ईश्वर के सामने अपराधी हो रहे हैं। मृत मनुष्य और प्रकृति के भी हम विरोधी हो रहे हैं।

हेमलेट के चाचा का समझाना सिर्फ़ लोकाचार ही था, परंतु कालिदास के निम्न लिखित पद्यों से यथार्थ में सांत्वना मिलती है—

"मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः,
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ।
अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्,
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम्।
स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसयोगविपर्ययौ यदा,
विरहः किमिवानुतापयेत् वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम्।
न पृथग्जनवच्छुचो वशं वशिनामुत्तम गन्तुमर्हसि,
द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः।"

अब शेक्सपियर के अष्टम हेनरी की प्रत्याख्याता कैथरिन की उक्ति भी सुनिए—

'Sir I desire you do me right ond justice
Upward of twenty years I have been blest
With many children by you if in the course,

And process of this time you can report;
And prove it too against mine honour ought
My bond to wedlock or my love and duty,
Againsf your sacred person, in God's name,
Turn me away."

अर्थात् बीस वर्ष से मैं आपकी सहचरी होकर रही हूँ। यदि आप बतला सकें, और प्रमाणित कर सकें कि मैंने कभी अपने कर्तव्य अथवा सेवा में कोई त्रुटि की है, तो अवश्य ही मुझे निर्वासित कर दें।

यहाँ हमें सीताजी की याद आती है—

"वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत् समक्षम्;
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत् सदृशं कुलस्य।"

शेक्सपियर ने बीस-पचीस नाटक लिखे हैं; परंतु कालिदास के सिर्फ़ तीन ही नाटक प्रसिद्ध हैं। जान पड़ता है, अभिज्ञान-शाकुंतल उनकी अंतिम रचना है। इसमें तो संदेह नहीं कि वह कालिदास की श्रेष्ठ रचना है। इस दृष्टि से उसकी तुलना शेक्सपियर के टेंपेस्ट-नामक नाटक से की जा सकती है, विशेष कर शकुंतला की तुलना मिरेंडा से। शकुंतला और मिरेंडा, दोनो का लालन-पालन संसार से दूर, एक निर्जन-स्थान में, हुआ था। दोनो में स्वाभाविक सरलता है। परंतु रवींद्र बाबू की राय है कि शकुंतला की सरलता स्वाभाविक है, और मिरेंडा की अस्वाभाविक। शकुंतला की सरलता मिरेंडा की तरह अज्ञता से नहीं हुई। परंतु तीसरे अंक में शकुंतला का आचरण बड़ा ही उच्छृंखल हो गया है। द्विजेंद्रलाल राय ने लिखा है—

"तृतीय अंक में शकुंतला का निर्लज्ज आचरण देखकर हम

व्यथित होते हैं। कुछ लोगों की राय है कि तृतीय अंक का शेष भाग कालिदास की रचना नहीं है। परंतु इस अंक के प्रथम भाग में भी पुरुष से स्त्री का प्रेम-भिक्षा माँगना शोभा नहीं देता। जिन प्रदेशों में प्रेमालाप के बाद विवाह की प्रथा प्रचलित है, वहाँ भी पुरुष ही स्त्री से प्रेम की याचना करता है। शेक्सपियर के टेंपेस्ट में मिरेंडा ने भी फ़र्डिनैंड से प्रेम की भिक्षा माँगी है; परंतु उसके कहने का ढंग देखिए—

I am your wife if you will marry me—If not I die your maid to be your bed fellow you may deny me but I ll be your servant whatever you will or no

मिरेंडा की इस भिक्षा में भी एक प्रकार की सरलता है, गंभीरता और आत्ममर्यादा है। जिससे जान पड़ता है कि यह भिक्षा ही दान है। यह प्रेम की भिक्षा नहीं, प्रतिज्ञा है। परंतु शकुंतला की भिक्षा भिक्षा ही है। वह एक प्रकार से आत्म-विक्रय है।"

योरप में जिस प्रकार होमर प्राचीन युग का, दांते मध्य युग का, और शेक्सपियर नवोत्थान-काल का कवि है, उसी प्रकार गेटी आधुनिक युग का। वर्तमान युग की सभी विशेषताएँ उसकी कृति में विद्यमान हैं।

गेटी का जन्म फ्रैंकफ़र्ड आन दी मेन-नामक नगर में २८ अगस्त, सन् १७४९ में, हुआ था। जान पड़ता है, उसका जन्म अत्यंत शुभ दिवस में हुआ था; क्योंकि गेटी को अपने जीवन में कभी किसी प्रकार की बाधा का सामना नहीं करना पड़ा। उसने एक प्रतिष्ठित कुल में जन्म लिया। उसका पिता अच्छा विद्वान् और उच्च कर्मचारी था। उसकी आर्थिक स्थिति भी अच्छी थी।

गेटी को अच्छी शिक्षा मिली। उसे शारीरिक व्याधि भी कदाचित् ही कभी हुई हो। उसकी इच्छा में कभी किसी ने व्याघात नहीं डाला। जब तक वह वेमर में रहा, अपनी इच्छा के अनुकूल ही काम करता रहा। अपने जीवन-काल में ही उसने अक्षय कीर्ति प्राप्त कर ली। सरस्वती के अन्य किसी उपासक का जीवन कदाचित् ऐसा सुखमय नहीं हुआ।

गेटी के काव्यों पर विचार करने के पहले हमें जर्मनी के तत्कालीन साहित्य पर एक दृष्टि डालनी चाहिए। सप्तवर्षीय युद्ध (Seven year's war) का अंत होने पर जर्मनी की जैसी अवस्था थी, वैसी अवस्था में साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। देश-भर में दरिद्रता फैली हुई थी। फ्रेडरिक और मेरिया थेरसा को ही प्रजा के कल्याण की चिंता थी। दूसरे नरेश तो प्रजा की उन्नति की ओर से उदासीन थे। परंतु सबसे बड़ी बात यह हुई कि जर्मन-जाति की नींद उचट गई। फ्रेडरिक ने उसमें देशभक्ति का संचार कर दिया था। यद्यपि राजनीतिक स्वतंत्रता की ओर उसका ध्यान नहीं गया था, तथापि सभी लोग अपने जातीय जीवन की उन्नति के लिये कटिबद्ध हो गए थे। उनके भावों में दृढ़ता और उच्चता लाने के लिये राष्ट्रीय साहित्य की आवश्यकता थी। इसलिये कितने ही शिक्षित नवयुवक साहित्य-निर्माण की ओर झुके।

उन्नति का सबसे बड़ा कारण होता है अपनी स्थिति पर असंतोष। जो जाति अपनी स्थिति पर संतोष करती है, वह उन्नति के पथ पर कभी अग्रसर नहीं होती। जर्मन-जाति अपनी उन्नति चाहती थी। इसलिये उसमें असंतोष का भाव बड़ा प्रबल हो गया। सन् १७७० से लेकर दस-बारह वर्ष तक देश की स्थिति सुधारने के लिये आंदोलन होता रहा। इस आंदोलन का नाम रक्खा गया है Sturm and Drang, अर्थात् आँधी और दबाव।

आंदोलनकारियों ने सभी प्रचलित रीतियों और नियमों का विरोध किया। समाज ने जो मर्यादा नियत की थी, नियम की जो भित्ति निर्मित कर दी थी, वह उनके विकास में बाधा डालती थी। इस काल में जितने कवि हुए हैं, सभी ने उसके विरुद्ध कलम उठाई। बात यह थी कि उनके हृदय म उस ज्ञान के पाने की लालसा उत्पन्न हो गई थी, जो विज्ञान, दर्शन और इतिहास से प्राप्य नहीं है। ज्ञान की यह पिपासा हृदय में अमृत-वर्षण होने से ही शांत हो सकती है। प्राचीन साहित्य-मर्मज्ञों द्वारा निर्द्धारित नियमों से साहित्य में मृगमरीचिका का दर्शन हो सकता है, पर काव्य निर्झर की उत्पत्ति नहीं हो सकती। वह जब निकलता है, तब पहाड़ को तोड़कर, पृथ्वी को भेदकर, सब विघ्न-बाधाओं को दूर करके ही निकलता है। उस समय जर्मनी में फ्रांस के साहित्य शास्त्र का प्रचार था। इस आंदोलन ने फ्रेंच साहित्य का प्रभाव नष्ट कर दिया।

इस आंदोलन का नेता था हर्डर। हर्डर का जन्म सन् १७४४ में हुआ था। वह १८०३ तक जीवित रहा। सच पूछा जाय, तो उसी ने जर्मनी के कवि-सम्राट् गेटी को साहित्य क्षेत्र में अवतीर्ण कराया। हर्डर कवि था, और साहित्य का मर्मज्ञ भी। मौलिकता की दृष्टि से उसका आसन ऊँचा नहीं है। पर इसमें संदेह नहीं कि उसमें अच्छी कवित्व-शक्ति थी। उसने दूसरों से ऋण अवश्य लिया है, परंतु उसम इतनी प्रतिभा थी कि उसने दूसरों के भावों में भी नवीनता ला दी है। मानव-जाति की सुख-वृद्धि के लिये उसने अंत-काल तक चेष्टा की।

गेटी के पिता थे तो काव्य प्रेमी, पर नवीन जर्मन कविताओं के बड़े विरोधी थे। उन्हें वह छूते तक नहीं थे, और न यह चाहते थे कि कोई उनको पढ़े। उस समय जर्मनी के साहित्य क्षेत्र

में गेलर्ट और गाटशेड नाम के कवियों का आधिपत्य था। दोनों प्राचीन प्रणाली के अनुयायी थे। गेटी के पिता उन्हीं के भक्त थे। पर गेटी को नवीन कविताएँ पढ़ने का शौक़ था। पिता के भय से वह छिपकर मेशिया-नामक काव्य पढ़ा करता था। इस साजिश में उसकी बहन भी शामिल थी। यह काव्य गेटी को इतना पसंद था कि उसने इसके अधिकांश भाग कंठस्थ कर डाले। गेटी पर फ्रेंच-साहित्य का प्रभाव भी ख़ूब पड़ा। उसकी आरंभिक रचनाओं में फ्रेंच-शैली का ही अनुसरण है। सबसे पहले उसने एक नाटक लिखा। वह भी एक फ्रेंच-नाटक के आधार पर लिखा गया था।

सोलह वर्ष की अवस्था में वह लिपजिग गया। वहाँ कुछ शिक्षा प्राप्त करने के बाद, सन् १७७० में, स्ट्रैसबर्ग चला गया। वहाँ उसने शरीर-शास्त्र और रसायन-शास्त्र का अध्ययन किया। वहीं हर्डर से उसका परिचय हुआ। हर्डर के साथ रहने के कारण उसने शेक्सपियर और होमर के काव्यों का अध्ययन किया। गोल्डस्मिथ के विकार ऑफ़् वेकफ़ील्ड-नामक उपन्यास को भी उसने बड़े चाव से पढ़ा।

शेक्सपियर के नाटकों का प्रभाव गेटी पर ख़ूब पड़ा। उसी का कथन है कि वह शेक्सपियर के नाटक पढ़कर अंधकार से प्रकाश में आ गया। वह नाटकों में काल और देश की एकता का विचार व्यर्थ समझने लगा। उसको विश्वास हो गया कि नाटक का यथार्थ रूप यही है कि वह मनुष्यों की विभिन्न भावनाओं को एक अदृश्य बंधन से गूँथ दे। सन् १७७३ में उसका गोट्ज़-नामक नाटक प्रकाशित हुआ। जर्मनी में उसका ख़ूब प्रचार हुआ।

स्ट्रैसबर्ग से वह वेजलर चला गया। वहाँ उसने एक दुखदायी

घटना का हाल सुना। यरूशलिम नाम का कोई एक पुरुष था। उसने अपनी एक प्रेमिका के कारण आत्महत्या कर ली। गेटी भी हताश प्रेम का अनुभव कर चुका था। उसने अपने ही अनुभवों को इस घटना में जोड़कर उसे एक नाटक का रूप दे डाला। सन् १७७४ मे उसका Sorrows of Werther नाम का नाटक प्रकाशित हुआ। इस नाटक ने साहित्य-क्षेत्र में हलचल पैदा कर दी। कुछ समालोचकों ने तो इसकी बड़ी तारीफ़ की; पर कुछ ऐसे भी थे, जिन्होंने निंदा की। योरप की सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हो गया, और प्राय सभी सामयिक पत्रों ने इसकी समालोचना की।

गेटी का प्रधान गुण यह है कि उसका कार्य-क्षेत्र सर्व व्यापक है। यही उसकी असाधारणता है। मानव-जीवन का ऐसा एक भी रूप नहीं है, जिससे वह अवगत न रहा हो। उसमें यह शक्ति थी कि अपने जीवन में उसने जिन भावनाओं का अनुभव तक नहीं किया, उनकी भी अवतारणा वह अपने नाटकों में कर सकता था। इसी के द्वारा उसने अपना आत्मानुभव बढ़ाया था। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि ससार के जितने आदर्श हैं, सभी मे सजीवता है। कोई भी आदर्श मृत नहीं हो सकता। गेटी सभी आदर्शों के अतर्गत भाव मे प्रवेश कर सकता था। ईसाई धर्म के तत्व को समझकर वह बुद्धदेव की शिक्षाओं को हृदयंगम कर लेता था। यति-धर्म की महत्ता जानकर वह सांसारिक वैभव की विशालता देख सकता था। कला पर मुग्ध होकर भी वह विज्ञान की ओर आकृष्ट होता था। वह अपने देश पर पूरा प्रेम रखकर भी जर्मनी को पद दलित करनेवाले नेपोलियन का विरोधी नहीं था। जिस संसार से हम परिचित हैं, उसी पर उसने काव्य-रचना की है। परतु इससे हमें यह न समझ लेना चाहिए

कि उसकी कृति में Realism (यथार्थ-चित्रण) ही है। उसके वर्णनीय विषय उसके भावों में ऐसे रँग गए हैं कि उन्होंने विश्व-व्यापी रूप धारण कर लिया है।

गेटी ने अपने जीवन का अंतिम काल विदेशी साहित्य की समालोचना और 'फ़ास्ट' की रचना में व्यतीत किया। उसकी अलोचनाएँ Wander Jahre के नाम से प्रसिद्ध हैं। योरप के समस्त साहित्य-क्षेत्र में गेटी की प्रधानता थी। सभी उसकी सम्मति का आदर करते थे। उस समय जर्मन-साहित्य की गति की ओर उसका विशेष लक्ष्य नहीं रहा। उसने जर्मनी की सीमा पार करके संसार पर दृष्टि डाली। बॉयरन पर वह खूब अनुरक्त था। बॉयरन की अकाल-मृत्यु से उसका वह अनुराग और भी बढ़ गया। फ़ास्ट का यूफ़ोरियन बॉयरन ही का प्रतिबिंब है। स्कॉट की प्रतिभा को भी उसने स्वीकार किया। कालिदास की शकुंतला पर वह मुग्ध हो गया। उसने शकुंतला की प्रशंसा में जो पद्य लिखे हैं उनसे उसकी सहृदयता और मार्मिकता प्रकट होती है। इटली के प्रसिद्ध देश-भक्त मेज़िनी का स्वागत पहले-पहल उसी ने किया। इसी समय उसने ऐसे विश्व-साहित्य की कल्पना की, जो देश और काल से अनवच्छिन्न हो। इस साहित्य के द्वारा वह विभिन्न देश और राष्ट्रों को एकता के सूत्र में गूँथकर "वसुधैव कुटुंबकम्" मूल-मंत्र का प्रचार करना चाहता था। जर्मनी के विद्वानों का कथन है कि गेटी का यह अभीष्ट सिद्ध हो गया है। जर्मन-भाषा में सारे संसार का साहित्य विद्यमान है। गेटी के आलोचनात्मक निबंधों से उसकी मानसिक शक्ति का पूर्ण विकास विदित होता है।

फ़ास्ट का द्वितीय खंड प्रकाशित होने पर उसकी खूब आलोचनाएँ हुईं। पहले-पहल कुछ विद्वानों ने उस पर यह राय

घटना का हाल सुना। यरूशलिम नाम का कोई एक पुरुष था। उसने अपनी एक प्रेमिका के कारण आत्महत्या कर ली। गेटी भी हताश प्रेम का अनुभव कर चुका था। उसने अपने ही अनुभवों को इस घटना में जोड़कर उसे एक नाटक का रूप दे डाला। सन् १७७४ में उसका Sorrows of Werther नाम का नाटक प्रकाशित हुआ। इस नाटक ने साहित्य-क्षेत्र में हलचल पैदा कर दी। कुछ समालोचकों ने तो इसकी बड़ी तारीफ़ की; पर कुछ ऐसे भी थे, जिन्होंने निंदा की। योरप की सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हो गया, और प्रायः सभी सामयिक पत्रों ने इसकी समालोचना की।

गेटी का प्रधान गुण यह है कि उसका कार्य-क्षेत्र सर्व-व्यापक है। यही उसकी असाधारणता है। मानव-जीवन का ऐसा एक भी रूप नहीं है, जिससे वह अवगत न रहा हो। उसमें यह शक्ति थी कि अपने जीवन में उसने जिन भावनाओं का अनुभव तक नहीं किया, उनकी भी अवतारणा वह अपने नाटकों में कर सकता था। इसी के द्वारा उसने अपना आत्मानुभव बढ़ाया था। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि संसार के जितने आदर्श हैं, सभी में सजीवता है। कोई भी आदर्श मृत नहीं हो सकता। गेटी सभी आदर्शों के अंतर्गत भाव में प्रवेश कर सकता था। ईसाई धर्म के तत्त्व को समझकर वह बुद्धदेव की शिक्षाओं को हृद्गत कर लेता था। यति-धर्म की महत्ता जानकर वह सांसारिक वैभव की विशालता देख सकता था। कला पर मुग्ध होकर भी वह विज्ञान की ओर आकृष्ट होता था। वह अपने देश पर पूरा प्रेम रखकर भी जर्मनी को पद-दलित करनेवाले नेपोलियन का विरोधी नहीं था। जिस संसार से हम परिचित हैं, उसी पर उसने काव्य-रचना की है। परंतु इससे हमें यह न समझ लेना चाहिए

कि उसकी कृति में Realism (यथार्थ-चित्रण) ही है। उसके वर्णनीय विषय उसके भावों में ऐसे रँग गए हैं कि उन्होंने विश्व-व्यापी रूप धारण कर लिया है।

गेटी ने अपने जीवन का अंतिम काल विदेशी साहित्य की समालोचना और 'फ़ास्ट' की रचना में व्यतीत किया। उसकी अलोचनाएँ Wander Jahre के नाम से प्रसिद्ध हैं। योरप के समस्त साहित्य-क्षेत्र में गेटी की प्रधानता थी। सभी उसकी सम्मति का आदर करते थे। उस समय जर्मन-साहित्य की गति की ओर उसका विशेष लक्ष्य नहीं रहा। उसने जर्मनी की सीमा पार करके संसार पर दृष्टि डाली। बॉयरन पर वह ख़ूब अनुरक्त था। बॉयरन की अकाल-मृत्यु से उसका वह अनुराग और भी बढ़ गया। फ़ास्ट का यूफ़ोरियन बॉयरन ही का प्रतिबिंब है। स्कॉट की प्रतिभा को भी उसने स्वीकार किया। कालिदास की शकुंतला पर वह मुग्ध हो गया। उसने शकुंतला की प्रशंसा में जो पद्य लिखे हैं, उनसे उसकी सहृदयता और मार्मिकता प्रकट होती है। इटली के प्रसिद्ध देश-भक्त मेज़िनी का स्वागत पहले-पहल उसी ने किया। इसी समय उसने ऐसे विश्व-साहित्य की कल्पना की, जो देश और काल से अनवच्छिन्न हो। इस साहित्य के द्वारा वह विभिन्न देशों और राष्ट्रों को एकता के सूत्र में गूँथकर "वसुधैव कुटुंबकम्" के मूल-मंत्र का प्रचार करना चाहता था। जर्मनी के विद्वानों का कथन है कि गेटी का यह अभीष्ट सिद्ध हो गया है। जर्मन-भाषा में सारे संसार का साहित्य विद्यमान है। गेटी के आलोचनात्मक निबंधों से उसकी मानसिक शक्ति का पूर्ण विकास विदित होता है।

फ़ास्ट का द्वितीय खंड प्रकाशित होने पर उसकी ख़ूब आलोचनाएँ हुई। पहले-पहल कुछ विद्वानों ने उस पर यह राय दी

कि न तो उसका अर्थ किसी की समझ में आ सकता है, और न, वह इसी योग्य है कि लोग उसका अर्थ निकालने का प्रयास करें। उन समालोचकों का ख़याल था कि वृद्धावस्था में क्षीण बुद्धि हो जाने के कारण गेटी को अपने काव्य मे कृत-कार्यता नहीं हुई। परंतु अब लोग फ़ास्ट का मतलब समझ गए हैं, और सभी विद्वानों की यह सम्मति है कि वह गेटी का सर्व-श्रेष्ठ ग्रंथ है, उसमे बड़े गंभीर भाव निहित हैं। एक विद्वान् का कथन है कि फ़ास्ट के दो खंड हैं। उन दोनो भागों की रचना-शैली एक होने पर भी उनमें विभिन्नता है। पहले खंड में मनुष्य स्वर्गलोक से मर्त्यलोक होकर नरक में प्रवेश करता है, और दूसरे में वह नरक से स्वर्ग को लौटता है। इन्हीं दोनो के बीच फ़ास्ट की उन्मुक्ति है। पहले भाग का आरंभ धर्म में होता है। फिर अध्यात्म-भाव में परिणत होकर उसका अंत कर्तव्य-निष्ठा में हो जाता है। दूसरे भाग में पहले कर्तव्य-निष्ठा का उदय होता है, फिर सौंदर्य-बोध आता है, और अंत में धर्म प्रकट होता है। पहले में ज्ञान और प्रेम का संघर्षण है, और दूसरे में कर्म और सौंदर्य का। इस प्रकार फ़ास्ट में मानव-जीवन का विकास दिखलाया गया है। फ़ास्ट की रचना हो जाने पर गेटी ने समझ लिया कि उसके जीवन का उद्देश्य पूरा हो गया। सन् १८३२ में उसकी मृत्यु हो गई।

गेटी के बाद आधुनिक युग में कविता के आदर्शों में इतनी भिन्नता दिखाई देती है कि किसी एक कवि की कृति में उसका आभास नहीं मिलता। आधुनिक साहित्य के इस आदर्श वैचित्र्य को समझने के लिये हमें ह्यूगो, ह्विटमैन, रस्किन और इमर्सन के आदर्शों की आलोचना करनी होगी।

ह्यूगो की गणना संसार के सार्वभौम कवियों में है। उसकी रचना-शक्ति विलक्षण थी। उसने लगातार ४० वर्ष तक साहित्य-

सेवा की। वह कवि था, नाटककार था, और उपन्यास-लेखक भी था। योरप में उसके ग्रंथों का बड़ा मान है।

फ़्रांस के वेसनकान (Basancon)-नामक नगर में, २६ फ़रवरी, सन् १८०२ में, ह्यूगो का जन्म हुआ। उसकी माता ने स्नेह-पूर्वक उसका प्रतिपालन किया। उसकी माता ने राजा का पक्ष ग्रहण करके नेपोलियन के एक सेनाध्यक्ष के साथ विवाह किया था। राजपक्ष के उत्थान और पतन पर इनका भाग्य अवलंबित था। ह्यूगो ने अपने शैशव-काल में ही इसका अनुभव कर लिया था। बालक ह्यूगो पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। यह उसके आरंभिक ग्रंथों में लक्षित होता है।

बाल्य-काल में ही ह्यूगो की प्रतिभा का विकास होने लगा था। स्विनबर्न-नामक एक लेखक उसके विषय में लिखा है—"There was never a more brilliant boy than Victor Hugo" यानी विक्टर ह्यूगो से अधिक तीव्र-बुद्धि कोई भी अपने बाल्य-काल में नहीं हुआ। १६ वर्ष की अवस्था में उसने Bug Jargal-नामक एक कथा लिखी। उसमें भावों की कोमलता और प्रवणता, दोनो अच्छी तरह व्यक्त हुई हैं। दो साल बाद उसने हन डी आइलेंड (Hand' Island) की रचना की। इसके विषय में एक विख्यात विद्वान् की राय है—"No boyish work on record ever showed more singular force of hand, more brilliant variety of power." अर्थात् किसी के भी बाल्य-काल की रचना में क़लम की ऐसी कारीगरी और शक्ति-वैचित्र्य नहीं है।

१८२२ में एडले फ़ाउचर (Adele Foucher)-नामक एक महिला के साथ उसका विवाह हुआ। शीघ्र ही उसके अन्य ग्रंथ प्रकाशित हुए। उनसे उनकी बड़ी ख्याति हुई, और फ़्रांस के प्रतिभाशाली कवियों में उसकी गणना होने लगी। उसकी

कविताओं का पहला संग्रह ले ओरियंटल (Les orientales) है। उसकी अक्षय कीर्ति स्थापित करने के लिये यही एक ग्रंथ पर्याप्त था। इसमें ओज है, और माधुर्य भी। इससे कवि का कला-कौशल और भाषा-नैपुण्य, दोनो सूचित होते हैं। १८३१ से १८४० तक उसके अन्य कई ग्रंथ प्रकाशित हुए। सभी में उसकी विलक्षण शक्ति विद्यमान है। शेक्सपियर के बाद वियोगांत नाट्य-काव्यों की रचना में वह अद्वितीय है, यह सभी लोगों ने स्वीकार कर लिया है।

ह्यूगो के उन्नत हृदय का एक प्रमाण लीजिए। उसने एक नाटक लिखा था मेरियन डी लार्मे (Marion de Lorme)। इसमें संदेह नहीं कि वह एक उत्कृष्ट वियोगांत नाटक था। उसमें राजा अपने मंत्री के वशीभूत बतलाया गया था। चार्ल्स दसवें के शासन-काल में इसी कारण उसका प्रचार बंद करा दिया गया। चार्ल्स के बाद उसके उत्तराधिकारी ने ह्यूगो को उस नाटक का प्रचार करने की आज्ञा दे दी। पर ह्यूगो ने अस्वीकार कर दिया।

३८ वर्ष की अवस्था में वह फ्रेंच एकेडमी-नामक विद्वत्समिति में सम्मिलित हुआ। उस समय उसने जो वक्तृता दी, वह नेपोलियन की कीर्ति का स्मारक है। १८४६ में उसने चेंबर ऑफ़् पीयर्स, अर्थात् अमीरों की राजकीय सभा, में पोलेंड का पक्ष लेकर व्याख्यान दिया। उसका दूसरा व्याख्यान फ्रांस की तट-रक्षा पर था। उसने नेपोलियन के निर्वासित परिवार के लिये भी ख़ूब प्रयत्न किया। उसका फल यह हुआ कि फ्रांस के राजा लुई फ़िलिप ने निर्वासन-विषयक अपनी आज्ञा रद कर दी। इसके बाद फ्रांस में षड्यंत्रकारियों ने हत्या-पर-हत्या करके नेपोलियन बोनापार्ट को सिंहासनारूढ़ कराया। ह्यूगो निर्वासित हुआ, और कोई २८ वर्ष तक वह अपने देश के बाहर रहा। इसी समय उसका प्रसिद्ध

ग्रंथ ले चेटीमेंटस् (Les chatiments) निकला। इसमें ह्यूगो के क्षुब्ध हृदय से ऐसे उद्‌गार निकले हैं, जो किसी भविष्यद्वक्ता के वचन जान पड़ते हैं। उनमें पद-लालित्य है, दिव्य भावावली है, और हृदयहारी व्यंग्य है। संभव नहीं, कोई उसका पाठ करके मुग्ध न हो जाय।

ले चेटीमेंटस् के प्रकाशित होने के तीन साल बाद ले कनटमप्लेशन्स (Les contemplations) निकला। यदि ले चेटीमेंटस् अर्धरात्रि के अंधकार में लिखा गया था, तो इसकी रचना उषःकाल के मनोरम प्रकाश में हुई थी। इसके छ भाग हैं। पहले भाग में जीवन के प्रभात-काल के सुख-दुख, भाव और कल्पनाएँ, उत्साह और स्फूर्ति वर्णित हुई हैं। इसके प्रयुक्त छंदों में भी वही मधुरिमा और लालित्य है। दूसरे भाग में भाषा की वैसी ही विशदता और छंदों का वैसा ही वैचित्र्य है; पर भावों में गंभीरता आ गई है। तीसरा भाग और भी अधिक परिष्कृत हो गया है। चौथे भाग में शोक का उच्छ्वास है। विक्टर ह्यूगो की एक कन्या अपने पति के साथ सन् १८४३ में नारमेंडी के किनारे डूबकर मर गई थी, इसी घटना से व्यथित होकर कवि ने जो कविताएँ लिखी थीं, वे सब इस भाग में हैं। इसके एक-एक पद से कवि की मर्मव्यथा प्रकट होती है। इससे अधिक हृदय-ग्राही वर्णन अन्यत्र नहीं मिल सकता। पाँचवें और छठे भाग में भी कुछ कविताएँ, भावों की गंभीरता और विशदता के लिये, अद्वितीय हैं।

१८६२ में ह्यूगो का प्रसिद्ध उपन्यास ले मिज़ेरेबिल (Les miserables) निकला। आज तक ऐसे उपन्यास की सृष्टि ही नहीं हुई है। इसमें आत्मा की कथा है कि वह कैसे विकृत होती है, और उसका कैसे उद्धार होता है; दुःखों की ज्वाला से उसका

परिशुद्ध रूप कैसे उदित होता है। इसमें जीवन के आलोक और तिमिर का, उत्थान और पतन का बड़ा ही अच्छा वर्णन है।

इसके बाद ह्यूगो ने विलियम शेक्सपियर की कृति पर एक आलोचनात्मक निबंध लिखा। उसके पुत्र ने शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद किया था। उसी के साथ भूमिका के रूप में जोड़ने के लिये इस निबंध की रचना हुई थी। इसके बाद उसके अनेक ग्रंथ प्रकाशित हुए। यह तो हम कह ही आए हैं कि ह्यूगो में विलक्षण रचना-शक्ति थी। अंत काल तक उसमें यह शक्ति विद्यमान रही। उसकी मृत्यु के बाद उसके कई ग्रंथ प्रकाशित हुए। उनमें भी वही विलक्षणता है, वही प्रतिभा-प्रकाश है। अपने जीवन-काल में ही अनंत यशोराशि अर्जन करके, १८८५ में, विक्टर ह्यूगो ने अपनी इह-लीला सवरण की।

ह्यूगो के चरित्र-चित्रण में एक विशेषता है, जो अन्य किसी लेखक में नहीं। उदाहरण के लिये स्कॉट को ही लीजिए। स्कॉट में भी चरित्र अंकित करने की कुशलता थी, अवलोकन की शक्ति थी, और कल्पना थी। वही बात विक्टर ह्यूगो में थी। पर ह्यूगो की कृति से जैसा प्रभाव पड़ता है, वैसा स्कॉट के उपन्यासों से नहीं। अर्थ और भाव का जो गांभीर्य ह्यूगो में है, वह स्कॉट में नहीं। ह्यूगो की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने हमें मानव जीवन में अदृष्ट शक्ति का दर्शन कराया है। संसार में सबसे अलक्षित, किंतु सबसे अनुभूत, जो हाहाकार-ध्वनि उठ रही है, जिसके कारण सब अपने अधरों के हास्य में हृदय की मर्मव्यथा छिपाए रहते हैं, वह हमें ह्यूगो की कृति में दिखाई देती है। ह्यूगो के साथ पाठकों की अनवच्छिन्न सहानुभूति रहती है। यही कारण है कि पाठक उसकी प्रतिभा से केवल विस्मय-विमुग्ध ही नहीं होते, उसके साथ ही उसके भाव-स्रोत में बह भी जाते हैं।

साधारण मनुष्यों के अत्यंत साधारण जीवन में भी काव्यमय सौंदर्य है; परंतु उसे देखने के लिये कल्पना और सहानुभूति चाहिए। राजा के प्रासाद और दरिद्र की क्षुद्र कुटी में जीवन का जो उत्थान-पतन होता है। आशा और निराशा का जो द्वंद्व-युद्ध मचता है, धनिकता और निर्धनता के बाह्य आवरणों के नीचे जो आँधी उठती है, उसका चित्र खचित कर देना कवि का ही कर्तव्य है, यद्यपि यहीं उसके कर्तव्यों का अंत नहीं हो जाता। ह्यूगो के काव्यों का जो विलक्षण प्रभाव पड़ता है, उसका कारण यही है। कवि में जैसे भावों की गंभीरता है, वैसे ही कल्पना-शक्ति की उद्दंडता भी। परंतु अस्वाभाविकता ज़रा भी नहीं। वह जिस प्रकार जीवन के अंधकारमय रहस्यों पर प्रकाश डालने में निपुण है, उसी प्रकार मनुष्यों की कोमल वृत्तियों को अंकित करने में भी सिद्ध-हस्त है।

समाज उच्छृंखलता नहीं चाहता। इसीलिये एक मर्यादा निर्धारित कर दी गई है, जिसे भंग करने का साहस कोई नहीं कर सकता। साहित्य-क्षेत्र की भी यही दशा है। वह भी मर्यादित है—नियमबद्ध है। उन नियमों को तोड़ देना बड़ा कठिन है। फिर भी मानव-समाज के साहित्य-क्षेत्र में भी परिवर्तन होते रहते हैं। जब प्रचलित नियमों से साहित्य के विकास में बाधा आती है, जब उन नियमों के कारण साहित्य में प्रतिभा-स्रोत मलिन पड़ जाता है, मौलिकता नष्ट हो जाती है, अपूर्वता नहीं रहती; तब एक ऐसे कवि का आविर्भाव होता है, जो अपनी मौलिकता से उन नियमों को निस्सार सिद्ध कर देता है। इसमें संदेह नहीं कि लोग उसकी कृति को देखकर पहले-पहल उसका उपहास करते हैं, कुछ-कुछ उसकी अवहेलना भी करते हैं; पर अपनी विलक्षणता से, अपनी अपूर्वता से वह शीघ्र ही मनुष्यों के हृदय में स्थान कर लेता है।

वाल्ट ह्विटमैन अमेरिका का ऐसा ही कवि था। विद्वानों का कथन है कि उसकी कविता में अमेरिका के अन्य कवियों से अधिक सजीवता और मौलिकता है। वह प्रजा-पक्ष का कवि कहा जाता है; क्योंकि उसने जन-साधारण के हृद्गत भावों को अच्छी तरह व्यक्त किया है। उसने न तो किसी का अनुकरण किया है, और न स्वयं कोई नियम बनाने की परवा की है। उसके विचार विचित्र हैं, और उसकी शैली विलक्षण। चाहे कोई उन विचारों से सहमत हो या नहीं, पर इसमें संदेह नहीं कि वह वाल्ट ह्विटमैन की कृति का आदर अवश्य करेगा।

वाल्ट ह्विटमैन की उच्छृंखलता के प्रमाण हमें उसकी कृति में खूब मिलते हैं। उसका कहना है कि कविता-कामिनी से शब्दों का भार वहन कराकर उसे हंसगामिनी मत बनाओ; उसे अपनी स्वाभाविक गति से स्वच्छंदता-पूर्वक चलने दो; साहित्याकाश में उसे निर्बंध-रहित पक्षी की तरह उड़ने दो; भाव-सिंधु में उसे मछली की तरह तैरने दो। उपमा आदि अलंकारों की कोई ज़रूरत नहीं। उसका प्राकृतिक सौंदर्य इन अलंकारों से नष्ट हो जाता है। कविता में न तो तर्क से काम लो, और न विवाद से। उसमें तुम रहो, तुम्हारा प्रतिबिंब न रहे। उसमें प्रकृति रहे; पर प्रकृति की छाया न रहे। उसके निम्न-लिखित पद्यों से यही भाव प्रकट होता है—

Small is the theme of the following chant vet the greatest, namely,

One s self, that wondrous thing, a simple separate person

That, for the use of the New World I sing,

Man's physiology from top to bottom I Sing,

Not physiognomy alone, nor brain above, is worth the muse

I say, the form complete is worthies far, the female equally with the male I sing."

मतलब यह कि मेरे गाने का विषय क्षुद्र है, फिर भी वह महत्तम है। वह है अपनी आत्मा, सबसे विलक्षण वस्तु, सबसे भिन्न साधारण व्यक्ति। मैं उसे नवीन विश्व के हितार्थ गाता हूँ। नख से शिख तक मनुष्य का शरीर-विज्ञान गाता हूँ। सिर्फ उसका लक्षण अथवा उसका मस्तिष्क कविता-देवी के योग्य नहीं है। मैं कहता हूँ, उसका संपूर्ण रूप ही योग्यता है। स्त्री के साथ में पुरुष के विषय में गान करता हूँ।

वाल्ट ह्विटमैन को पहले चिट्ठी-रसानी का काम मिला। फिर उसने एक छापेखाने में काम किया। उसके बाद वह एक देहाती स्कूल में मास्टर हो गया। फिर उसने एक सामयिक पत्र निकाला। सन् १८४८ में वह न्यूआर्लीस के क्रेसेंट (crescent) नामक सामयिक पत्र के संपादन-विभाग में नियुक्त हुआ। दो वर्ष बाद वह ब्रुकलिन के एक छापेखाने में प्रिंटर हुआ। इसके बाद वह अपने पिता का ही धंधा करने लगा। पर मासिक पत्रों में उसके लेख बराबर निकलते रहे।

सन् १८५५ में उसकी कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित हुआ। उसका बड़ा विचित्र नाम था—"Leaves of Grass", अर्थात् घास की पत्तियाँ। कुछ समय तक तो जनता का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट नहीं हुआ, पर फिर राल्फ़ वाल्डो इमरसन-नामक विद्वान् ने उसकी प्रशंसा में एक पत्र न्यूयार्क-ट्रिब्यून नाम के पत्र में प्रकाशित किया। तब से लोग उसे जानने लगे। १८५६ ईसवी में उसकी कविताओं के संग्रह का दूसरा संस्करण निकला। इसके बाद १८८० में उसका एक और परिवर्द्धित संस्करण निकाला गया। उसके आरंभ में एक भूमिका थी। भूमिका

वया थी, कवि और काव्य पर एक निबंध था। उसकी कुछ बातें सुन लीजिए। उनसे आप जान सकेंगे कि कवि के कर्तव्य के विषय में ह्विटमैन के विचार कैसे थे—

"कवियों के लिये कोई भी विषय छोटा नहीं। जिसे साधारण जन क्षुद्र समझते हैं, वह भी कवि के हाथों में पड़कर महान् हो जाता है। कवि उसमें नया जीवन डाल देता है। कवि द्रष्टा है। उसमें और दूसरे लोगों में इतना ही भेद है कि वह देखता है, और दूसरे देखते नहीं; और जब वे देखते हैं, तब कवि ही की दृष्टि से देखते हैं। कवित्व-गुण न तो शब्दों के झंकार में रहता है, और न यमक और अनुप्रास के आडंबर में। न वह शिक्षा-पूर्ण पद्यों में है, और न विषादात्मक रचनाओं में। उसका जन्म-स्थान आत्मा है। इसलिये जिस रचना का सर्वस्व आत्मा का विकास नहीं, वह कविता ही नहीं।

कवि समस्त विश्व का प्रेमी है। उसके जीवन का आधार यही अनंत प्रेम है। जो दूसरे के लिये विघ्न-स्वरूप है, वे उसके प्रेमानल में आहुति का काम करते हैं, उनके संपर्क से उसका आनंद और भी अधिक बढ़ जाता है। उसके लिये बाधा है ही नहीं; और न दुख है, न मृत्यु है, न अंधकार है, न भय है। कवि न तो सदुपदेश देता है, और न लेता है। वह अपनी आत्मा को जानता है। इसी में वह अपना गौरव समझता है। इस आत्मगौरव के साथ उसकी सहानुभूति अनंत है। इसी भाव के कारण वह विश्व को अपने में और अपने को विश्व में देखता है।"

जब वाल्ट ह्विटमैन ब्रुकलिन में था, तब घंटों खड़े-खड़े लोगों की भीड़ देखा करता था। उसी से उसे अपनी कविता के लिये सामग्री मिलती थी। उसके शरीर में एक प्रकार की आकर्षण-शक्ति थी, जिससे लोगों की दृष्टि उसकी ओर अनायास खिंच जाती थी। कानवे

नाम के एक सज्जन एक बार उसे देखने गए थे। उन्होंने लिखा है—

"उस दिन बड़ी गरमी थी। सूर्य के तीव्र उत्ताप से लाँग आई-लैंड की भूमि तप रही थी। उस समय मैंने वाल्ट ह्विटमैन को धूप में लेटे हुए पाया। उसके कपड़े भूरे थे। सूर्य-ताप से शरीर का रंग भी वैसा ही हो गया था। पृथ्वी पर लेटा हुआ वह सहसा पहचाना न जा सकता था। ऐसा जान पड़ता था कि वह और पृथ्वी, दोनो एक हैं।"

जिस घर में ह्विटमैन रहते थे, उसमें एक ही कमरा था। सामान भी बहुत कम था। किताबों में बाइबिल, होमर-नामक ग्रीक कवि का काव्य और शेक्सपियर के नाटक थे। ये ही पुस्तकें उसे ख़ूब पसंद थीं। इन्हें वह सदा जेब में रखता था।

सन् १८६२ में जब उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका में परस्पर युद्ध आरंभ हुआ। तब वाल्ट ह्विटमैन ने उत्तरी अमेरिका का पक्ष ग्रहण किया। उसका भाई जी० डबल्यू० ह्विटमैन सेना-विभाग में अफ़सर था। जब वह घायल हुआ, तब ह्विटमैन ने स्वयं जाकर उसकी सेवा-शुश्रूषा की। दस साल तक वह वलंटियर-फ़ौज में रहा। सन् १८६६ में उसने युद्ध-विषयक कविताएँ प्रकाशित कीं। १८७३ में उसको लक़वा मार गया। इससे वह क्षीण-शक्ति हो गया। तब वह कैमडन नाम के एक नगर में जाकर रहने लगा। वहीं, १८६२ में, उसकी मृत्यु हो गई।

इन साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में इस महाकवि के विषय में लिखा है—"His life was a poet's life from first to last—free, unworldly, unhurried, uncontentional, unselfish and was contentedly and joyously lived." अर्थात् ह्विटमैन का जीवन आदि से अंत तक कवि का

जीवन था। कैसा जीवन? स्वच्छंद, विरक्त, शांतिमय, संतुष्ट और आनंद-पूर्ण।

वर्तमान साहित्य में संशय और विरोध के भाव कितने फैल गए हैं, यह बात हमें टेनीसन की कृति से भली भाँति सूचित होती है। टेनीसन ने विज्ञान-कथित शक्ति के क्रीड़ा-क्षेत्र विश्व-जगत् के साथ जगदीश्वर के प्रेम की घोषणा की है। पर यह केवल कथन मात्र है। यथार्थ बात यही है कि उसने प्राचीन विश्वास के दुर्ग को नवीन विज्ञान से ढा देना चाहा था।—

'I stretch lame hands of faith and grope
And gather dust and chaff call
To what I feel is Lord of all
And faintly trust the larger hope.'

टेनीसन के इस कथन का तात्पर्य यही है कि विश्वास की शिथिलता से मनुष्य की आशा क्षीण हो जाती है।

किंतु टेनीसन के काव्य में वर्तमान युग का साहित्य समाप्त नहीं हो जाता। इसी संशय और विरोध को उसका सर्वस्व समझना भूल है। टेनीसन के समकालीन ब्राउनिंग की कृति में वर्तमान युग ने संपूर्णता प्राप्त की है। जिस प्रकार दर्शन शास्त्र में वैचित्र्य और विरोध को एक बृहत् आदर्श में देखने की चेष्टा की गई है, उसी प्रकार ब्राउनिंग ने ईसाई-धर्म के द्वारा विज्ञान को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा है। उसने काव्य में एक नवीन तत्त्व प्रकट किया है। मानव-जीवन में जो विभिन्नता और क्षुद्रता है, जो पाप और मलिनता है, उसे स्वीकार कर इस कवि ने मनुष्य-जीवन को ईश्वर के आनंद और प्रेम की अभिव्यक्ति के रूप में दिखलाया है। इस प्रकार उसमें दुःख, मृत्यु आदि आनंद के विरोधी भावों का अतिक्रमण कर मनुष्य-

जीवन में उस प्रेम को प्रत्यक्ष कराया है, जिससे सब विरोधी भाव दूर हो जाते हैं।

ब्राउनिंग ने ईसाई-धर्म के त्रिमूर्तिवाद और पाप-तत्त्व को नहीं माना। उसने ईसाई-धर्म की असल बात को स्वीकार किया है। वह यह कि स्वयं ईश्वर मनुष्य का जन्म लेकर मानव-जीवन के समस्त दुख और वेदनाओं को स्वीकार करता है। ईश्वर भी एक स्थान में मनुष्य है। वह दूर नहीं है। वह स्वर्ग में नहीं है। वह इसी मर्त्यलोक के सुख-दुख और उत्थान-पतन में है। यही बात ब्राउनिंग ने ईसाई-धर्म से ग्रहण की। समस्त मानव-जीवन को ईश्वर से परिपूर्ण मानकर देखने के धर्म को छोड़कर ग्रहण करने योग्य दूसरा कौन धर्म है? जीवन के सुख-दुख, हानि-लाभ, संयोग-वियोग और आशा-निराशा में इसी की लीला है। इसी द्वंद्व से वह आनंद और प्रेम को पूर्ण करता है। द्वैत में इसी अद्वैत-वाद का अनुभव कर ब्राउनिंग ने उसे प्रकट किया है। यही कारण है कि टेनीसन के समान ब्राउनिंग की कृति में कहीं भी संशय का स्वर नहीं है, और न अंधकार में टटोलना-जैसा है। उसमें पूर्ण मानव-जीवन है। वह चाहे जैसा हो, पर है आनंद से उज्ज्वल। इसीलिये विज्ञान के सब तत्त्वों को स्वीकार कर ब्राउनिंग कभी उद्विग्न नहीं हुआ। वह अनुभव करता था कि हम चाहे कितने ही भिन्न क्यों न हों, और कितनी ही भिन्न अवस्थाओं में क्यों न रहें, सब एक ही हैं, और वह एकता प्रेम ही की है। जो वैचित्र्य है, वह प्रेम के लिये ही। कहना न होगा कि ब्राउनिंग का यह तत्त्व हमारा वैष्णव तत्त्व ही है।

आधुनिक कवियों में रवींद्रनाथ की कृति में भी यही वैष्णव तत्त्व पाया जाता है। स्वर्ग के सुख-दुख और पाप-पुण्य से हीन आनंद की अपेक्षा पृथ्वी का यह सुख-दुख-पूर्ण जीवन ही उन्हें इष्ट

है। यह बात उन्होंने अनेक स्थानों में प्रकट की है। रवींद्रनाथ और ब्राउनिंग की रचनाओं में, कितने ही स्थानों में, विभिन्नता रहने पर भी, आधुनिक युग के आदर्श को दोनो ने संपूर्ण रूप से प्रकाशित किया है। तात्विक दृष्टि से इनमें आश्चर्य-जनक सादृश्य है।

यह सादृश्य मानव-सभ्यता की एकता सूचित करता है। रवींद्रनाथ के 'स्वर्ग से बिदा'-नामक काव्य से ब्राउनिंग के 'रैफ़न' की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'स्वर्ग से बिदा' की कथा यह है कि एक व्यक्ति स्वर्ग में सैकड़ों वर्षों तक आनंद से रहा। जब उसका पुण्य क्षीण हुआ, तब उसे पृथ्वी पर फिर लौटना पड़ा। स्वर्ग से बिदा होते समय उसे बड़ी वेदना हुई। उसे यह आशा न थी कि वह स्वर्ग में भी अश्रु रेखा देखेगा। स्वर्ग में केवल आनंद है। वहाँ दुख कहाँ? तब वह कल्पना करने लगा कि यदि स्वर्ग पर दुख की छाया पड़ जाय, तो उसका सौंदर्य कितना परिवर्तित हो जायगा? स्वर्ग की निर्मल ज्योति में मलिनता आ जायगी। वायु से मर्मर-ध्वनि उठने लगेगी। नदी से करुण स्वर उत्थित होगा। उज्ज्वल दिन के बाद सध्या की म्रियमाण लालिमा प्रकट होगी। नक्षत्रों की निस्तब्धता में वैराग्य का संगीत सुनाई पड़ेगा। किंतु स्वर्ग मे यह होने का नहीं। यह वैपरीत्य पृथ्वी पर ही है। आनद को दुख के साथ मिला देने से पृथ्वी के सौंदर्य में एक दूसरा ही लावण्य आ गया है। अप्सरा के प्रेम में न वेदना है, न अतृप्ति। मिलन की आकांक्षा और विच्छेद का दुख भी नहीं है। परंतु मर्त्यलोक में मिलन और विच्छेद के द्वारा प्रेम पूर्ण हो गया है। कितने ही भावों से उस प्रेम की उपलब्धि होती है। वैष्णव मानते हैं कि वात्सल्य, दास्य, सख्य, माधुर्य आदि भावों से भगवान् मनुष्यों के भीतर अपनी लीला प्रकट करते हैं। कभी वह पुत्र है, और हम माता पिता। कभी वह बंधु है, हम

जब मेरे हृदय में इस प्रकार के विचार उठने लगे, तब मुझसे एक ने कहा—

"Thou art past, Rephan
Thy place to earth

रैफन, यहाँ अब तुम्हारे लिये स्थान नहीं। तुम्हारे लिये अब पृथ्वी है।

सभी विपरीत भाव प्रेम के द्वारा एक हो सकते हैं। प्रेम के लिये ही यह वैपरीत्य है। पृथ्वी के सभी विरोधी भावों को प्रेम की इस एकता से देखना वर्तमान युग की साधना का लक्ष्य है। व्यक्त-अव्यक्त, पूर्ण-अपूर्ण, ससीम-असीम, सब एक दूसरे से संबद्ध हैं। यही आधुनिक शास्त्र प्रमाणित करना चाहता है। वर्तमान युग का यही एक विशेष आदर्श है, जो साहित्य में व्यक्त हो रहा है।

आधुनिक साहित्य में अलौकिकता का भी एक स्थान है। काव्यों में अलौकिक घटनाओं का भी समावेश किया जाता है। प्राचीन काल के साहित्य में देव, गंधर्व, यक्ष, किन्नर, सर्प, वृक्ष, पशु, पक्षी आदि सभी मनुष्यों के सहवास में रहते थे। ये मनुष्यों की भाषा बोलते थे, उनके सुख दुःख में सम्मिलित होते थे, उनसे मैत्री और द्वेष रखते थे। परंतु अब साहित्य से इनका प्रभाव उठ गया है। वर्तमान युग में वैज्ञानिक परीक्षा की जो बात प्रमाणित की जा सकती है, उसी की चर्चा साहित्य में आदरणीय हो सकती है। अब लोग यक्षों और गंधर्वों के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करते। तो भी एक अतींद्रिय-जगत की विद्यमानता पर किसी को संदेह नहीं है। किसी को अधिक विश्वास है, तो किसी को कम। पर सभी लोग यह स्वीकार करते हैं कि संसार में कुछ बातें ऐसी भी हैं, जो रहस्यमयी हैं—

"There are more things in heaven and earth, Horatio, than are dreamt of in your philosophy."

मनुष्यों का यह विश्वास साहित्य में प्रकट होता रहता है। शेक्सपियर ने रंगमंच पर प्रेतात्माओं के दर्शन कराए हैं। भारतीय साहित्य में भी तंत्र-शास्त्र के अद्भुत क्रिया-कलाप का वर्णन है। आधुनिक साहित्य में हम प्रेतों का स्थूल रूप भले ही न देखें, पर उनका प्रभाव विद्यमान है। प्रेतात्मा के संबंध में आधुनिक कवियों की कल्पना ने एक दूसरा ही रूप धारण कर लिया है। प्रेत के भय से साहित्य का क्षेत्र सर्वथा शून्य नहीं है। गेटी के काव्य में प्रेत ने एक सूक्ष्म, भावमयी मूर्ति ग्रहण की है। अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक पो और भारतीय कवि-सम्राट् रवींद्रनाथ की रचनाओं में भी अतींद्रिय-जगत्-संबंधी भावनाएँ एक विशिष्ट रूप में व्यक्त हुई हैं।

पो के विषय में कहा गया है कि वह 'मानव-मन के सीमांत-प्रदेश' का कवि है। उसकी कविता का प्रधान भाव है विषाद। सौंदर्य के विषय में पो की सम्मति यह है—"अनुभव से यही मालूम होता है कि सौंदर्य के उच्च आदर्श में विषाद का भाव विद्यमान रहता है। उसे देखकर सहृदय जन अश्रुपात करने लगते हैं। मनुष्यों के लिये सबसे विषाद-पूर्ण विषय मृत्यु है।" परंतु पो की रचना में करुण-रस नहीं है। व्यक्ति-विशेष के मन में समय-समय पर छाया की तरह जो सूक्ष्म अनुभव उदित होते हैं, अंधकार में अस्पष्ट प्रकाश के द्वारा जो अनिर्देश्य शब्द और दृश्य अनुभूत होते हैं, अर्ध-जाग्रत् अवस्था में स्वप्न की तरह जो भावनाएँ उद्भूत होती हैं, वे सब पो की रचनाओं में विद्यमान हैं। उसकी कहानियों में यही विशेषता है। हमारे मन के भीतर ऐसे अनेक दृश्य अंकित हैं, जिनका संबंध एक रहस्यमय लोक से है। परंतु उस रहस्य के ऊपर परदा डालकर हम केवल अपने परिचितों से ही संबंध रखते हैं। पो मनुष्य के अंतर्जगत् के उसी रहस्यागार में प्रवेश करता है। वहीं की घटनाएँ उसकी कला के उपजीव्य

हैं। उनमें भय और विस्मय के साथ सौंदर्य का सम्मिश्रण है। यों तो अन्य कवियों ने भी मनुष्यों के मनस्तत्त्व का विश्लेषण किया है, परंतु पो की समता कोई नहीं कर सकता। यदि इसी विषय में किसी से पो की तुलना की जा सकती है, तो रवींद्रनाथ से। रवींद्रनाथ की कुछ कहानियों में भी रहस्य लोक की प्रहेलिकाएँ विद्यमान हैं। रवींद्रनाथ की कहानियों में 'क्षुधित पाषाण' ऐसी ही एक छाया-लोक की कथा है। इसमें सुकुमारता और भयंकरता का सम्मिश्रण है। कोमलता और भयंकरता के प्रति मनुष्य का जो आकर्षण होता है, उसका बड़ा ही विशद चित्र इसमें अंकित किया गया है। 'मणिहारा' नाम की कहानी में कंकाल के निशाकाल में भ्रमण को संभाव्यता के किनारे तक पहुँचाकर लेखक ने अच्छी तरह भय और विस्मय के भावों का उद्रेक किया है। 'निशीथे' में नायक के चित्त पर अनिर्देश्य भय का प्रभाव बड़ी कुशलता से प्रदर्शित किया गया है। परंतु इन कहानियों में जो रहस्य जाल गूँथा गया है, वह क्षण स्थायी है। जिस जाल से लेखक पाठकों के चित्त पर भय और विस्मय की भावनाएँ डाल देता है, उसे दूसरे क्षण में वह छिन्न भिन्न कर डालता है। इस माया-जाल के तोड़ने में लेखक का प्रधान अस्त्र हास्य रस है। रवींद्रनाथ की ऐसी सभी कहानियों में प्रच्छन्न अथवा अप्रच्छन्न रूप से हास्य-रस विद्यमान रहता है। 'क्षुधित पाषाण' का आरंभ और अंत व्यंग्य में हुआ है। 'दुराशा' और 'कंकाल' में नायिका की बातचीत में हास्य रस है। 'मणिहारा' में स्कूल मास्टर की सृष्टि हास्य-रस के लिये हुई है। इन कहानियों में पर-लोक की चाहे जैसी कथा हो, पर लेखक ने इह लोक से उनका संबंध नहीं टूटने दिया। घड़ी भर के लिये कवि अपनी प्रतिभा के बल से एक रहस्य लोक की सृष्टि करता है। परंतु थोड़ी ही देर में हास्य-रस की अवतारणा

करके वह उस रहस्य-लोक को लुप्त कर देता है। पो की कहानियों में यह बात नहीं है। वहाँ एक-मात्र रहस्य-लोक का राज्य है। उसकी निविड़ छाया को दूर करने के लिये कहीं भी हँसी की झलक नहीं है। भय और रहस्य की भावना क्षण-भर के लिये भी दूर नहीं होती। उसके सभी पात्र छाया-लोक में रहते हैं। कवि का समस्त कल्पना-क्षेत्र ही मानो एक माया-पुरी है, जहाँ केवल अनिर्देश्य भावनाओं का साम्राज्य है।

पो ने अपनी एक कहानी के नायक से कहलाया है—"लोग मुझे पागल कहते हैं। परंतु इसका क्या निश्चय कि पागलपन में ज्ञान की परा काष्ठा नहीं है। क्या यह कोई निर्णय कर सकता है कि संसार में जो गंभीर और उच्च भावनाएँ उत्पन्न हुई हैं, वे हृदय की उत्तेजना या उन्माद का फल नहीं हैं? वे मस्तिष्क के विकार से प्रकट हुई हैं, या नहीं?"

कहानी के नायक की ये बातें पो के विषय में कही जा सकती हैं। पो के अस्वस्थ चित्त से ही रहस्यमय लोक की सृष्टि हुई है। मन की अस्वस्थ अवस्था से ऐसे निगूढ़ भावों की उत्पत्ति संभव है। इस अवस्था में कल्पना जिस क्षुद्र वस्तु की ओर आकृष्ट होती है, वही वस्तु संसार को विलुप्त कर कल्पना की उज्ज्वलता से हमारी दृष्टि को खींच लेती है। ऐसी अवस्था में दांपत्य प्रेम का चित्र और अतीत काल की स्मृति से पूर्ण एक जीर्ण घर अंकित करने की ज़रूरत होती है, जहाँ मानव-लोक का कोलाहल पहुँच ही नहीं सकता। वह घर भी क्रमशः उस चित्र के आगे विलुप्त हो जाता है। प्रियतमा का अस्तित्व लीन हो जाता है, रह जाती हैं सिर्फ़ दो आँखें और एक दाँत। जो इसी में व्यस्त है, वह संसार के लिये पागल ही है। मन की यह अस्वस्थ अवस्था रवींद्रनाथ की कहानियों में भी वर्तमान है। दांपत्य-प्रेम का

हैं। उनमें भय और विस्मय के साथ सौंदर्य का सम्मिश्रण है। यों तो अन्य कवियों ने भी मनुष्यों के मनस्तत्त्व का विश्लेषण किया है, परंतु पो की समता कोई नहीं कर सकता। यदि इसी विषय में किसी से पो की तुलना की जा सकती है, तो रवींद्रनाथ से। रवींद्रनाथ की कुछ कहानियों में भी रहस्य-लोक की प्रहेलिकाएँ विद्यमान हैं। रवींद्रनाथ की कहानियों में 'क्षुधित पाषाण' ऐसी ही एक छाया-लोक की कथा है। इसमें सुकुमारता और भयंकरता का सम्मिश्रण है। कोमलता और भयंकरता के प्रति मनुष्य का जो आकर्षण होता है, उसका बड़ा ही विशद चित्र इसमें अंकित किया गया है। 'मणिहारा' नाम की कहानी में कंकाल के निशाकाल में भ्रमण को संभाव्यता के किनारे तक पहुँचाकर लेखक ने अच्छी तरह भय और विस्मय के भावों का उद्रेक किया है। 'निशीथे' में नायक के चित्त पर अनिर्देश्य भय का प्रभाव बड़ी कुशलता से प्रदर्शित किया गया है। परंतु इन कहानियों में जो रहस्य जाल गूँथा गया है, वह क्षण-स्थायी है। जिस जाल से लेखक पाठकों के चित्त पर भय और विस्मय की भावनाएँ डाल देता है, उसे दूसरे क्षण में वह छिन्न-भिन्न कर डालता है। इस माया-जाल के तोड़ने में लेखक का प्रधान अस्त्र हास्य-रस है। रवींद्रनाथ की ऐसी सभी कहानियों में प्रच्छन्न अथवा अप्रच्छन्न रूप से हास्य-रस विद्यमान रहता है। 'क्षुधित पाषाण' का आरंभ और अंत व्यंग्य में हुआ है। 'दुराशा' और 'कंकाल' में नायिका की बातचीत में हास्य-रस है। 'मणिहारा' में स्कूल मास्टर की सृष्टि हास्य-रस के लिये हुई है। इन कहानियों में पर-लोक की चाहे जैसी कथा हो, पर लेखक ने इह लोक से उनका संबंध नहीं टूटने दिया। घड़ी-भर के लिये कवि अपनी प्रतिभा के बल से एक रहस्य लोक की सृष्टि करता है। परंतु थोड़ी ही देर में हास्य-रस की अवतारणा

करके वह उस रहस्य-लोक को लुप्त कर देता है। पो की कहानियों में यह बात नहीं है। वहाँ एक-मात्र रहस्य-लोक का राज्य है। उसकी निविड़ छाया को दूर करने के लिये कहीं भी हँसी की झलक नहीं है। भय और रहस्य की भावना क्षण-भर के लिये भी दूर नहीं होती। उसके सभी पात्र छाया-लोक में रहते हैं। कवि का समस्त कल्पना-क्षेत्र ही मानो एक माया-पुरी है, जहाँ केवल अनिर्देश्य भावनाओं का साम्राज्य है।

पो ने अपनी एक कहानी के नायक से कहलाया है—"लोग मुझे पागल कहते हैं। परंतु इसका क्या निश्चय कि पागलपन में ज्ञान की परा काष्ठा नहीं है। क्या यह कोई निर्णय कर सकता है कि संसार में जो गंभीर और उच्च भावनाएँ उत्पन्न हुई हैं, वे हृदय की उत्तेजना या उन्माद का फल नहीं हैं? वे मस्तिष्क के विकार से प्रकट हुई हैं, या नहीं?"

कहानी के नायक की ये बातें पो के विषय में कही जा सकती हैं। पो के अस्वस्थ चित्त से ही रहस्यमय लोक की सृष्टि हुई है। मन की अस्वस्थ अवस्था से ऐसे निगूढ़ भावों की उत्पत्ति संभव है। इस अवस्था में कल्पना जिस क्षुद्र वस्तु की ओर आकृष्ट होती है, वही वस्तु संसार को विलुप्त कर कल्पना की उज्ज्वलता से हमारी दृष्टि को खींच लेती है। ऐसी अवस्था में दांपत्य प्रेम का चित्र और अतीत काल की स्मृति से पूर्ण एक जीर्ण घर अंकित करने की ज़रूरत होती है, जहाँ मानव-लोक का कोलाहल पहुँच ही नहीं सकता। वह घर भी क्रमशः उस चित्र के आगे विलुप्त हो जाता है। प्रियतमा का अस्तित्व लीन हो जाता है, रह जाती हैं सिर्फ़ दो आँखें और एक दाँत। जो इसी में व्यस्त है, वह संसार के लिये पागल ही है। मन की यह अस्वस्थ अवस्था रवींद्रनाथ की कहानियों में भी वर्तमान है। दांपत्य-प्रेम का

हैं। उनमें भय और विस्मय के साथ सौंदर्य का सम्मिश्रण है। यों तो अन्य कवियों ने भी मनुष्यों के मनस्तत्त्व का विश्लेषण किया है, परंतु पो की समता कोई नहीं कर सकता। यदि इसी विषय में किसी से पो की तुलना की जा सकती है, तो रवींद्रनाथ से। रवींद्रनाथ को कुछ कहानियों में भी रहस्य-लोक की प्रहेलिकाएँ विद्यमान हैं। रवींद्रनाथ की कहानियों में 'क्षुधित पाषाण' ऐसी ही एक छाया-लोक की कथा है। इसमें सुकुमारता और भयंकरता का सम्मिश्रण है। कोमलता और भयंकरता के प्रति मनुष्य का जो आकर्षण होता है, उसका बड़ा ही विशद चित्र इसमें अंकित किया गया है। 'मणिहारा' नाम की कहानी में कंकाल के निशाकाल में भ्रमण को संभाव्यता के किनारे तक पहुँचाकर लेखक ने अच्छी तरह भय और विस्मय के भावों का उद्रेक किया है। 'निशीथे' में नायक के चित्त पर अनिर्देश्य भय का प्रभाव बड़ी कुशलता से प्रदर्शित किया गया है। परंतु इन कहानियों में जो रहस्य-जाल गूँथा गया है, वह क्षण-स्थायी है। जिस जाल से लेखक पाठकों के चित्त पर भय और विस्मय की भावनाएँ डाल देता है, उसे दूसरे क्षण में वह छिन्न-भिन्न कर डालता है। इस माया-जाल के तोड़ने में लेखक का प्रधान अस्त्र हास्य-रस है। रवींद्रनाथ की ऐसी सभी कहानियों में प्रच्छन्न अथवा अप्रच्छन्न रूप से हास्य-रस विद्यमान रहता है। 'क्षुधित पाषाण' का आरंभ और अंत व्यंग्य में हुआ है। 'दुराशा' और 'कंकाल' में नायिका की बातचीत में हास्य रस है। 'मणिहारा' में स्कूल मास्टर की सृष्टि हास्य-रस के लिये हुई है। इन कहानियों में पर-लोक की चाहे जैसी कथा हो, पर लेखक ने इह लोक से उनका संबंध नहीं टूटने दिया। घड़ी-भर के लिये कवि अपनी प्रतिभा के बल से एक रहस्य लोक की सृष्टि करता है। परंतु थोड़ी ही देर में हास्य-रस की अवतारणा

करके वह उस रहस्य-लोक को लुप्त कर देता है। पो की का
में यह बात नहीं है। वहाँ एक-मात्र रहस्य-लोक का रा
उसकी निविड़ छाया को दूर करने के लिये कहीं भी
झलक नहीं है। भय और रहस्य की भावना क्षण-भर के
दूर नहीं होती। उसके सभी पात्र छाया-लोक में रहते है
का समस्त कल्पना-क्षेत्र ही मानो एक माया-पुरी है, जह
अनिर्देश्य भावनाओं का साम्राज्य है।

पो ने अपनी एक कहानी के नायक से कहलाया है—
मुझे पागल कहते हैं। परंतु इसका क्या निश्चय कि पाग
ज्ञान की परा काष्ठा नहीं है। क्या यह कोई निर्णय कर स
कि संसार में जो गंभीर और उच्च भावनाएँ उत्पन्न हु
हृदय की उत्तेजना या उन्माद का फल नहीं हैं? वे म
विकार से प्रकट हुई हैं, या नहीं?"

कहानी के नायक की ये बातें पो के विषय में कही जा
हैं। पो के अस्वस्थ चित्त से ही रहस्यमय लोक की सृष्टि
मन की अस्वस्थ अवस्था से ऐसे निगूढ़ भावों की उत्पा
है। इस अवस्था में कल्पना जिस क्षुद्र वस्तु की ओर
होती है, वही वस्तु संसार को विलुप्त कर कल्पना की उ
से हमारी दृष्टि को खींच लेती है। ऐसी अवस्था में
प्रेम का चित्र और अतीत काल की स्मृति से पूर्ण प
घर अंकित करने की ज़रूरत होती है, जहाँ मानव-
कोलाहल पहुँच ही नहीं सकता। वह घर भी क्रमशः उस
आगे विलुप्त हो जाता है। प्रियतमा का अस्तित्व लीन
है, रह जाती हैं सिर्फ़ दो आँखें और एक दाँत। जो इसी
है, वह संसार के लिये पागल ही है। मन की यह अ
वस्था रवींद्रनाथ की कहानियों में भी वर्तमान है। [illegible]

चित्र अंकित करने के लिये उन्होंने 'निशीथे' में एक जीर्ण प्रासाद का आश्रय लिया है। परंतु वहाँ मानव-जीवन का प्रवेश निषिद्ध नहीं है। पो के Ligeia और Eleonora से रवींद्रनाथ के 'निशीथे' की तुलना की जा सकती है। पो की कहानियों में जो चित्त-विभ्रम चिरस्थायी हो जाता है, वही रवींद्रनाथ की कहानियों में क्षणिक रहता है।

साहित्य के आदि-गुरु वाल्मीकि, व्यास, होमर आदि कवियों की कल्पना मनुष्य-मन के राजपथ पर गमन करती है। वहाँ सर्वसाधारण अपने-अपने दुख और सुख का अनुभव कर सकते हैं। वहाँ पुत्र-विरह से संतप्त माता के क्रंदन से आकाश विदीर्ण होता है; प्रेमिका अश्रुपात करती है; वीर युद्ध-क्षेत्र में जाते हैं। वहाँ सभी उज्ज्वल और स्पष्ट है। आधुनिक कवियों ने वह राजपथ छोड़ दिया है। वे जिस पथ पर जाते हैं, वहाँ उज्ज्वल प्रकाश नहीं है। उस पर अंधकार की छाया विद्यमान है। वहाँ सभी वस्तुएँ अस्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। कुछ लोग उनसे भी दूर गए हैं। वहाँ केवल रात्रि की भयंकरता ही है।

विज्ञान

वर्तमान युग की ऐतिहासिक आलोचना से यह बात प्रमाणित होती है कि जैसे एक जीव-कोष से विश्व-वैचित्र्य की सृष्टि हुई है, जिसमें असंख्य प्रभेद रहने पर भी जीवन-धर्म का व्यत्यय नहीं होता। वैसे ही विश्व-मानव का आदर्श, भिन्न-भिन्न जातियों के इति-हास में विचित्र रूप से परिस्फुट होने पर भी, सर्वत्र एक ही भाव से विद्यमान रहता है। इस उद्देश्य से मनुष्य एक देश के ज्ञान के साथ दूसरे देश के ज्ञान की तुलना करते हैं। आजकल समाज, धर्म, कला, साहित्य, सभी में तुलनात्मक अनुसंधान की धूम मची है। मानव-जाति एक है। समस्त मानव-जाति की उन्नति एक ही नियम से अवबद्ध है, और सभी जातियों के इतिहास में उसी एक विराट् आदर्श की रचना हो रही है। वर्तमान युग में मनुष्य की साधना का एक-मात्र लक्ष्य यही एकता है। साहित्य में भी अब केवल रस-निरूपण से हमारा कार्य नहीं चल सकता। साहित्य केवल रस नहीं है, और न केवल आनंद ही। जिस प्रकार दर्शन और विज्ञान विश्व-मानव के वृहत् आदर्श को प्रकाशित करने की चेष्टा कर रहे हैं, उसी प्रकार साहित्य भी उस अभिव्यक्ति के लिये प्रयास कर रहा है। इसीलिये किसी युग की समस्त चेष्टाओं से उसकी तुलना करने पर उसका यथार्थ तात्पर्य विदित हो सकता है; अन्यथा उस-का रूप अत्यंत संकुचित हो जाता है। प्लेटो ने कवि और दार्शनिक में विरोध का उल्लेख किया है। परंतु वर्तमान युग में यह विरोध संभव नहीं। कागज़ के दो पृष्ठों की तरह काव्य और दर्शन का संबंध अभेद्य है। अतएव यदि हम वर्तमान युग के साहित्य से परिचित

होना चाहते हैं, तो हमें वर्तमान युग के विभिन्न चिंता-स्रोतों पर ध्यान देना होगा। सभी कवियों के विषय में यह बात कही जाती है कि वे अपने युग की सतान है। सबसे पहले हमें इसी पर विचार करना होगा कि वर्तमान युग का आदर्श क्या है। फिर हम यह जानने की चेष्टा करेंगे कि आधुनिक युग के श्रेष्ठ कवियों मे वह किस प्रकार प्रकट हुआ है।

काव्य के अतर्गत जो सत्य है, वह भी तब उपलब्ध हो सकता है, जब हम उसे कवि के जीवन तथा तत्कालीन इतिहास के साथ तुलना करके देखेंगे। इमारत से एक ईंट को निकाल कर देखने से जिस प्रकार इमारत का सौंदर्य प्रकट नहीं हो सकता, उसी प्रकार काव्य को संसार से पृथक् करके पढ़ने से युग की महिमा विदित नहीं हो सकती। वर्तमान युग को समझने के लिये हमें अपने ही देश की वर्तमान अवस्था पर विचार नहीं करना चाहिए। उससे युग की विशेषता नहीं प्रकट हो सकती। अब किसी भी युग का कोई भी आदर्श किसी देश विशेष मे आबद्ध नहीं है। अब एक देश का दूसरे देश के साथ घनिष्ट सबंध हो गया है। एक देश का साहित्य और विज्ञान दूसरे देश में विकसित हो रहा हे। एक का प्रभाव दूसरे पर प्रत्यक्ष है। यह सच है कि कोई साहित्य किसी अन्य साहित्य की छाया मात्र नहीं है। सभी अपने प्राचीन भाव, प्राचीन कल्पना और प्राचीन रस से पुष्ट हुए हैं। अतएव वे अपनी एक विशेषता रखते है। तो भी यह कहना अनुचित न होगा कि वर्तमान युग में योरपियन साहित्य के साथ सभी देशों का घनिष्ट सबंध हो गया हे। कोई भी देश उसके प्रभाव से बचा नहीं है। अत. हमें यह देखना चाहिए कि वर्तमान योरपियन साहित्य में कौन-सी भावना की प्रधानता है।

जो गत शताब्दी के विज्ञान का इतिहास जानते हैं, उन्हें ज्ञात है

कि विश्व के सभी तत्त्वों का संग्रह करने के लिये योरप ने कितनी चेष्टा की है। पदार्थ-विज्ञान से मनोविज्ञान और मनोविज्ञान से मानव-विज्ञान और समाज-विज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई है। मनुष्य-जाति का आदि और अंत, उसकी सभ्यता का लक्ष्य तथा उसके सभी ज्ञानों का पारस्परिक संबंध आदि सभी विषयों की आलोचना कर मनुष्य थक-से गए हैं। संसार की बड़ी-से-बड़ी और छोटी-से-छोटी वस्तु का संग्रह कर मनुष्य ने अपने ज्ञान के क्षेत्र को खूब विस्तृत कर लिया है। विज्ञान की इसी चेष्टा से साहित्य, दर्शन आदि शास्त्रों ने भी प्राचीन रीति को छोड़कर वैज्ञानिक रीति का ही अवलंबन किया है। जगत्, आत्मा और ईश्वर के संबंध में जिन धारणाओं को भ्रम-शून्य मानकर दर्शन-शास्त्र ने अपने तत्त्वों को प्रतिष्ठित किया था, उनके भी मूल-सिद्धांतों के संबंध में अब लोग संशयालु हो गए हैं। साहित्य में मनोविज्ञान ने मनुष्य के अंतर्जगत् का रहस्योद्‌घाटन किया है। भिन्न-भिन्न कालों में मनुष्यों का मन एक ही संस्कार को कितने ही नवीन रूपों में देखता है। प्रत्येक का मन एक स्वतंत्र जगत् ही है। इसलिये अब मूल-सिद्धांतों की विवेचना कर भिन्न-भिन्न तत्त्वों की रचना करने की ओर दर्शन-शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं है। अब वैचित्र्य में ही एकता का अनुसंधान करने में दर्शन अपनी कृतकृत्यता समझता है।

योरप में विज्ञान की उन्नति के साथ-ही-साथ दार्शनिक मत में परिवर्तन हुए, किंतु इस परिवर्तन से प्राचीन धर्म-विश्वास शिथिल होने लगा। हर्बर्ट स्पेंसर ने संशय-वाद का उपक्रम किया। बहिर्जगत् के साथ अंतर्जगत् का समन्वय स्थापित करने का फल यह हुआ कि मन के सभी संस्कार वर्जित हो गए। वैज्ञानिक उन्नति के द्वारा मनुष्य के धर्म-भाव पर इतना घोर आघात हुआ कि नीति, कला और साहित्य, सभी में संशय-वाद की प्रधानता हो गई।

यह तो सर्वमान्य है कि विज्ञान ने मनुष्य को बहुत-सी भौतिक सुविधाएँ प्रदान की हैं। यातायात के साधनों में रेलवे, स्टीमर, हवाई जहाज़ आदि के आविष्कारों से विस्मयजनक उन्नति हुई है। टेलीग्राफ़, टेलीफोन और बेतार के तार द्वारा घर-बैठे हज़ारों-लाखों कोसों की दूरी पर रहनेवाले मित्र के समाचार क्षण-भर में ज्ञात हो जाते हैं। मुद्रण-कला के महत्त्व-पूर्ण आविष्कार के द्वारा विद्या-प्रचार में बड़ी भारी आसानी हो गई। डॉक्टरों ने वैज्ञानिक रीति से सर्जरी-विद्या सीखकर मनुष्य को भीषण यातनाओं से बचा लिया है, विज्ञान की सहायता से ऐसे बहुत-से रोगों की अव्यर्थ औषधियाँ ढूँढ़ निकाली गई हैं, जिनको मनुष्य पहले सर्वथा असाध्य समझा करते थे। वैज्ञानिक युग के पहले बहुत-से संक्रामक रोगों का कारण भूत-बाधा ठहराई जाती थी, अतएव लाचार होकर रोगी को असह्य वेदनाएँ सहनी पड़ती थीं। इस क्षेत्र में भी विज्ञान ने हमारा बड़ा भारी उपकार किया है। दूसरी ओर कल-कारख़ानों के आविष्कार से नाना प्रकार की शिल्पोन्नति होने के कारण आज जीवन बहुत ही सुखमय हो रहा है। इसमें संदेह नहीं कि इस फूल में काँटे की भाँति पूँजी-वाद का जन्म हुआ है, जिसके कारण पूँजीपतियों ने श्रमजीवियों का ख़ून चूसना अपना धर्म समझ रक्खा है। सच पूछा जाय, तो कभी-कभी हमको इस विज्ञान वाटिका में फूलों की महक से उतना आनंद नहीं मिलता, जितना इन तीखे काँटों का डर लगा रहता है। ध्यान-पूर्वक देखा जाय, तो स्पष्ट हो जायगा कि पूँजी-प्रधान शिल्प-वाद ने इस भूतल पर प्रकाश्य अथवा अप्रकाश्य रूप से अनेक युद्ध ठान दिए हैं, अनेक पिछड़े हुए देशों को दासता और अत्याचार की भयंकर बेड़ियों से जकड़ दिया है। विज्ञान ने मनुष्य की उत्पादक शक्ति के साथ विघातक शक्ति को भी सैकड़ोंगुना बढ़ा

दिया है। किंतु प्रश्न यह है कि विज्ञान के दुरुपयोग से जो बुराइयाँ फैल रही हैं, उनके लिये विज्ञान उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, या नहीं? क्या आग इसीलिये बड़ी बुरी चीज़ है कि उसके द्वारा बहुत-से दुष्टात्मा ग़रीबों के घर फूँक डालते हैं? जल्लाद की तलवार, डॉक्टर का नश्तर और मिस्त्री का हथौड़ा, सभी एक लोहे के बने होते हैं। इसलिये क्या कोई लोहे को बुरा कह सकता है? यदि जल्लाद अपनी तलवार से दूसरे की गर्दन काटता है, तो उसमें लोहे का क्या दोष? इसके अतिरिक्त विज्ञान तो पूँजी-वाद की बुराइयाँ दूर करने के लिये अनेक उपायों—जैसे सहयोग या लाभ-वितरण आदि—का अवलंब ले रहा है, जिससे आशा की जाती है कि धीरे-धीरे ये बुराइयाँ जाती रहेंगी। विज्ञान यह सिद्ध करना चाहता है कि वैज्ञानिक पूँजी-प्रधान शिल्प-वाद और मनुष्यों के पाशविक अत्याचार में कोई वास्तविक अनिवार्य संबंध नहीं है।

संप्रति हमको यह देखना है कि विज्ञान ने मनुष्य के आध्यात्मिक मार्ग में कोई रुकावट तो नहीं डाली है, और वह यदि सहायक हुआ है, तो कहाँ तक? सबसे पहले विज्ञान ने मनुष्य को सत्य के लिये सत्य की खोज करना सिखा दिया है। विज्ञान ने हमको यह पाठ पढ़ा दिया है कि एक ही नियम इस अनंत ब्रह्मांड में व्याप्त है। विज्ञान ने मनुष्य को उस ईश्वर के दर्शन और अनुभव करने की शक्ति दी है, जिसकी इच्छा और ब्रह्मांड की घटनाओं में सर्वथा एकता है। विज्ञान के कारण हमारे अंतःकरण से उस ईश्वर की प्रतिष्ठा हटती जाती है, जो मन-माने खेल-तमाशे किया करता था, जो सांसारिक प्राणियों की तरह राग-द्वेष या हर्ष-शोक के झंझट में फँसा रहा करता था। विज्ञान ने मनुष्य के सामने ब्रह्मांड की अनंतता खोलकर रख दी है। इस अनंत ब्रह्मांड में उसकी और

उसके झोपड़े की क्या स्थिति है, इस पर विचार करते ही उसका अज्ञान-जनित मिथ्या गर्व चकनाचूर हो जाता है। साथ ही विज्ञान ने यह बतलाकर मनुष्य के सच्चे आत्मविश्वास और आत्म-सम्मान की नींव डाल दी है कि मनुष्य किस अवस्था से उन्नत होकर किस अवस्था में पहुँच गया है। वह पशु-कोटि से उठकर मनुष्य-कोटि में किस प्रकार पहुँचा है। विज्ञान ने अनेक प्रकार के दुखों का विश्लेषण किया है। उससे मनुष्य को विज्ञानातीत धार्मिक व्याख्याओं की अपेक्षा आशावादी बनने में अधिक सहायता मिलती है। किसी वैज्ञानिक ईश्वर-वादी को वैसी घबराहट कदापि नहीं हो सकती, जैसी कूपर-सरीखे धर्मनिष्ठ विद्वान् को स्वेच्छाचारी ईश्वर से हुआ करती थी।

सिद्धांत के अतिरिक्त व्यवहार में भी विज्ञान सार्वभौमिक कार्यों के संचालन में हमारी बड़ी सहायता कर रहा है। विज्ञान ने उन सैकड़ों अभागे, निस्सहाय प्राणियों का जीवन सार्थक बना दिया है, जो पृथ्वी पर भार-रूप समझे जाते थे। पहले हम अंधे, लूले, लँगड़े आदि को भोजन-वस्त्र देकर ही संतुष्ट हो जाते थे। इतनी ही हमारी सामर्थ्य थी। किंतु आज वैज्ञानिक आविष्कारों के द्वारा हम उनको शिक्षा दे सकते हैं, जिससे वे केवल रुपया ही नहीं कमा सकते, वरन् हमारे समाज के उत्साही और उपयोगी अंग बन जाते हैं।

यातायात, पत्र-व्यवहार या समाचार-वितरण के उन्नत साधनों का भी भौतिक सुविधा के अतिरिक्त एक आध्यात्मिक पहलू है। संसार-भर के मनुष्य परस्पर भाई-भाई हैं, यह उच्च सिद्धांत अभी तक सिद्धांत-मात्र था; किंतु विज्ञान को इतने से संतोष नहीं हो सकता। वह इन साधनों के द्वारा यह दिखलाना चाहता है कि वास्तव में संसार एक बड़ा भारी कुटुंब है।

इमर्सन ने प्रत्येक मनुष्य को एक संपूर्ण और स्वतंत्र सत्ता स्वीकार किया है। समस्त विश्व उसी सत्ता का प्रकाश है। प्रत्येक मनुष्य अपने में ही पूर्ण है। वाह्य जगत् का कोई भी समाज, धर्म अथवा कर्म उसके लिये आवश्यक नहीं। वह अपने ही भीतर जितना सत्य पा लेता है, उतने ही में उसकी सार्थकता है। इमर्सन के मत में, वाह्य संसार से मुक्त होकर बुद्धि जितना निर्वाध रहेगी, उतना ही विश्व से मनुष्य का दृढ़तर ऐक्य होगा। इमर्सन की सभी रचनाओं का मूल-भाव यही है।

इमर्सन की रचनाओं में से दो-एक उदाहरण देने से हमारा यह कथन स्पष्ट हो जायगा। आत्मनिर्भर-नामक एक निबंध में उसने लिखा है कि "यदि कोई मनुष्य होना चाहता है, तो उसे गतानुगतिक नहीं होना चाहिए। तुम्हारे मन के भीतर जो संपूर्णता है, उसे छोड़कर संसार में और कोई तुम्हारे लिये बड़ा नहीं है। यदि तुम अपने को अपने ही निकट निर्दोष बनाओगे, तो समस्त जगत् की सम्मति को तुम स्वयं प्राप्त कर लोगे। मुझे अपने बाल्यकाल में एक धर्म-गुरु को ऐसा ही उत्तर देना पड़ा था। मैंने उससे पूछा—यदि मैं अपने ही भीतर सत्य लाभ करूँ, उसी से सत्य-जीवन यापन करूँ, तो क्या मुझे इन वाह्य कुल-परंपरागत प्रथाओं को पुण्य मानने की आवश्यकता है? उसने उत्तर दिया—अंतःप्रेरणा नीचे ही जा सकती है, वह ऊपर नहीं जा सकती। तब मैंने कहा—मुझे तो ऐसा विश्वास नहीं होता। फिर भी यदि मैं शैतान का अनुवर्ती होऊँ, तो मैं उसी के भीतर से अपने प्राण का आकर्षण करता रहूँगा। अपनी प्रकृति के नियम को छोड़कर और कोई नियम मेरे लिये पुण्यतर और उत्कृष्टतर नहीं हो सकता।" इसी प्रकार समाज के संबंध में इमर्सन ने लिखा है कि "समाज तो कभी अग्रसर नहीं होता। वह एक

ओर आगे बढ़ने के लिये दूसरी ओर पीछे रह जाता है। कभी वह सभ्य है, तो कभी असभ्य, कभी धनी है, तो कभी वैज्ञानिक। समाज में क्षति-पूर्ति का नियम चलता रहता है। एक ओर वह अपनी क्षति करके दूसरी ओर अपनी पूर्ति करता है। सभ्यता के उल्लास में उसने गाड़ी बनाई है; परंतु पैरों का व्यवहार वह नहीं कर सकता। उसकी छाती पर जेनेवा की चमत्कार पूर्ण घड़ी झूल रही है; परंतु सूर्य को देखकर अब वह समय नहीं बतला सकता। पुस्तकों के स्तूप ने उसकी स्वाधीन बुद्धि और कल्पना को भाराक्रांत कर लिया है। धर्म और मंदिर ने उसके अंतर्निहित सहज आध्यात्मिक ज्ञान को कुछ मतों से ढक दिया है।

लोग यह समझते हैं कि जिस जाति में महापुरुष उत्पन्न हो रहे हैं, वह जाति अग्रसर हो रही है। पर यथार्थ में यह बात नहीं है। जितने महापुरुष होते हैं, वे अभ्यस्त संस्कार के पथ को छोड़कर अपने ही अंतर्जगत् के महापथ का अनुसरण करते हैं। तभी उनका जीवन सार्थक होता है। वे किसी का अनुकरण नहीं करते।"

उपर्युक्त बातों से यह प्रकट हो जाता है कि इमर्सन का आदर्श क्या है। आत्मा के लिये सब है— आत्मा के लाभ के लिये समस्त त्याग होता है, और आत्मा के ही द्वारा समस्त प्राप्ति होती है—यही इमर्सन का भाव है। जड़-चेतन, जीवन-मरण तथा मानव-जाति की अभिव्यक्ति में जो कुछ विषमता है, उसको आत्मा के सूत्र में ग्रथित कर इमर्सन ने एक और अखंड दिखलाया है। इमर्सन की यह एकत्वानुभूति हमारे देश के लिये नई नहीं है। इसी के विरोध में ब्राउनेल-नामक एक विद्वान् ने यह आक्षेप किया है कि बुद्धि को प्रधानता देने का अर्थ यह है कि बुद्धि को

बाधामुक्त कर देने में ही मनुष्य की साधना समाप्त हो जाती है, फिर कुछ बाक़ी नहीं रह जाता। जो सत्य है, वह प्रिय है, यह बात इमर्सन की वाणी से नहीं निकली। उसने चिंतन के द्वारा अधिगम्य सत्य को ही 'प्राप्ति' मान लिया है।

फ्रांस में एमियल-नामक कवि की बड़ी प्रसिद्धि है। उसने अपने 'जर्नल' में ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य दिखलाया है। ब्राउनेल ने जिस तत्त्व का आभास-मात्र दिया है, उसकी विशद विवेचना एमियल की कृति में विद्यमान है। नीचे उसकी चर्चा की जाती है।

जिन विद्वानों ने अंतर्जीवन का प्रतिपादन किया है, उन्होंने उसका यह रूप स्थिर किया है कि वह जीवन काल के बंधन से मुक्त है। वह एक ही समय में रूप-वैचित्र्य और आत्मैक्य, दोनो को उपलब्ध करने में समर्थ है। वह समस्त प्रतिकूल बाह्य घटनाओं के ऊपर विजय प्राप्त कर सकता है। वह भविष्य के संबंध में क्रिया-शून्य और निश्चर है। जरा और मृत्यु का प्रभाव उस पर नहीं पड़ सकता। वह अजर और अमर है। जब ये विद्वान् हमारा ऐसे जीवन में प्रवेश कराते हैं, तब उसके संबंध में यही भाव होता है कि किसी भी बाह्य वस्तु अथवा नियम की अधीनता उसे नहीं स्वीकार करनी पड़ती। वह स्वकीय है। वह अपने में ही संपूर्ण है। परंतु उस जीवन के मूल में केवल ज्ञानमय तत्त्व ही विद्यमान है, धर्म नहीं। अखंड, अविनाश्य, अलक्ष्य, स्वप्रतिष्ठ आत्मस्वाधीनता का यही आदर्श—जो अपने ही अंतर्नियम से आप प्रकट होता है, जो बाह्य जगत् के समस्त को अग्राह्य करता है—इमर्सन का है। इमर्सन के मत में मनुष्य अपने से ही अपने में आनंद-लाभ करता है, अपने ही व्यक्तिगत चैतन्य के दुर्गम दुर्ग में उसकी अभय प्रतिष्ठा है। वह आप ही अपना नियम, आप ही अपना परिचालक और आप ही

अपना परिणाम है। वह यही है, यही उसके लिये यथेष्ट है। यह आदर्श मनुष्य के दैन्य, दुःख और दुर्बलता को स्वीकार नहीं करना चाहता। अब विचारणीय यह है कि मनुष्य के ऐहिक जीवन में यह आदर्श स्वीकृत हो सकता है या नहीं। सच तो यह है कि विज्ञानमय चैतन्य को समस्त चैतन्य मानना, बुद्धि की मुक्ति को हृद्ग्रंथि का उच्छेद समझना मानो अंश को समग्र स्वीकार करना है। ये विद्वान् आध्यात्मिकता का स्थान तत्त्व को देना चाहते हैं। इनके समस्त तत्त्वों के मूल में मनुष्य है; पर बुद्धि को ही ये मनुष्य की श्रेष्ठ संपत्ति मानते हैं। यह बुद्धि की उपासना है, ज्ञान की पूजा है। ये मन को सभी प्रकार के वाह्य संस्कारों से मुक्त कर विशुद्ध ज्ञान के द्वारा मनुष्य का उद्धार करना चाहते हैं। जो धर्म भक्ति-पथ के अनुयायी हैं, वे आत्मपरित्याग और आत्मसमर्पण-द्वारा मनुष्य को शुद्ध करना चाहते हैं। इन दोनो में भेद यही है कि एक ज्ञान द्वारा मनुष्य को बंधन-मुक्त करने के बाद उसके हृदय को विशुद्ध करना चाहता है, और दूसरा उसके हृदय को विशुद्ध करके उसको ज्ञानमय बनाना चाहता है। प्रश्न यह है कि मनुष्य किससे मुक्त होगा? सत्य को जानकर, या सत्य होकर; सत्य की चिंता से, या सत्य के कार्य से? यदि ज्ञान से प्रेम की उत्पत्ति नहीं हुई, तो वह यथेष्ट नहीं है। उससे जो सत्य प्राप्त होता है, वह उत्ताप-हीन आलोक के समान है। उसमें मनुष्यत्व का अभाव है। जब सत्य प्रेम की वस्तु हो जाता है, तब सत्य में हमारा समस्त व्यक्तित्व विलुप्त हो जाता है। ज्ञान के द्वारा मनुष्य अपने ही बंधन, अपने ही संकीर्ण संस्कार से मुक्त होता है; परंतु प्रेम के द्वारा वह मुक्त ही नहीं होता, प्रत्युत उससे विश्व का कल्याण भी होता है। यही कारण है कि दर्शन-शास्त्र कभी धर्म का स्थान नहीं ले सकता। बुद्धि मनुष्य को मनुष्य बनाती है; परंतु हृदय-द्वारा मनुष्य मनुष्य होता

है। अतएव ज्ञान, प्रेम और कर्म, इन तीनो का जहाँ सम्मिलन है, वहीं मानव-जीवन की पूर्णावस्था है।

यह सर्वमान्य है कि संसार में जो कुछ सुंदर और श्रेयस्कर दिखाई दे रहा है, वह सब मनुष्य की आत्मा से ही प्रकट हुआ है। मनुष्य ने ही सभ्यता के प्रत्येक अंग—शासक और शासित, मंदिर और मसजिद, शिल्प और कला, पूँजी और मशीन, सभा और संगठन आदि—का निर्माण किया है। मनुष्यों ने ही भाषाएँ बनाई हैं; मनुष्यों ने ही पुराणों की रचना की है; मनुष्यों ने ही धर्म चलाए हैं; मनुष्यों ने ही स्वर्ग और नरक की सृष्टि की है। क़ुरान, बाइबिल और गीता भी उन्हीं की उपज है। ब्रह्मा, विष्णु से लेकर भूत-प्रेत तक सभी उसकी आत्मा से प्रकट हुए हैं। यह तो सच है कि ईश्वर ने मनुष्य को बनाया है, किंतु आजकल बहुत-से मनुष्य यह भी कहने लगे हैं कि नहीं, मनुष्य ने ईश्वर को बनाया है। कुछ भी हो, मनुष्य के लिये सबसे अधिक गौरव की बात यह है कि उसने अपने आपको जंगली पशुओं की श्रेणी से उठाकर मनुष्य बना लिया है। सैकड़ों वर्षों तक तो उसे यही संदेह रहा होगा कि वह कभी 'अशरफ़ुल मख़लूक़ात' हो सकेगा, या नहीं। किंतु उसने धीरे-धीरे विजय पाई, संसार में अपने अनुकूल आसन ग्रहण किया, और वह ईश्वर की सृष्टि का उत्तराधिकारी बन गया। उसने इतने से ही बस नहीं की, बल्कि साहित्य, विज्ञान, शिल्प और कला में भी आश्चर्य-जनक उन्नति की। यदि वह इस समय अपने साहस और विचार के लिये गर्व करता है, तो उसकी साधारण परंपरा को देखते हुए कोई उसे उद्दंड नहीं कह सकता। वास्तव में हीगल का यह कथन सर्वथा सत्य है कि भविष्य में ऐसा समय कभी नहीं आवेगा, जब मनुष्य का यह उचित गर्व मिथ्या अहंकार गिना जा सके।

किंतु क्या कभी यह संभव है कि वह प्राणी, जिसका विकास ऐसी नम्र स्थिति से हुआ हो, जिसकी प्रगति कभी निम्नगामिनी न हुई हो, वरन् वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ-काल तक बराबर उन्नति के पथ पर अग्रसर होती रहती हो, क्षणिक पराजय से एक-दम हताश होकर एकाएक अनंत के गर्भ में विस्मृत हो जाय ? हमारी वर्तमान कठिनाइयों और बाधाओं का हेतु हमको उत्तरोत्तर परिपक्व अवस्था में पहुँचाने के अतिरिक्त भला और क्या हो सकता है ? भूत काल में क्या हमारे मार्ग में बाधाएँ नहीं उपस्थित हुई थीं, क्या उन पर हमारी विजय नहीं हुई है, और क्या इन पर हमारी विजय न होगी। यह सिद्ध हो चुका है कि संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, उन सबमें हमारी आत्मा सबसे अधिक दुर्दमनीय और अजेय है। यदि किसी को यह दृढ़ विश्वास है कि हमारा वर्तमान इतिहास केवल भूमिका-मात्र है, भविष्य इससे कहीं अधिक जाज्वल्यमान होगा, तो क्या वह कोरा आशावादी कहा जा सकता है ? एक दिन था, जब मनुष्य बंदर के समान था, और एक दिन वह आवेगा, जब मनुष्य देवताओं की कोटि में पहुँच जायगा। आज हम अपनी यात्रा के मध्य में आ गए हैं। बहुत संभव है, अंत तक पहुँचते-पहुँचते हम अपनी वर्तमान अवस्था को भूल जायँ, जैसे कि आज हम अपनी प्रारंभिक दशा को भूल रहे हैं। भविष्य का अनुमान करने के लिये भूत काल पर दृष्टिपात करने के अतिरिक्त क्या और कोई अच्छा उपाय हो सकता है ? प्रकृति देवी अपने विकास-वाद के द्वारा निरंतर हमको आशा का मंत्र पढ़ाया करती हैं।

आशा के अतिरिक्त हमको आत्मविश्वास की बड़ी भारी आवश्यकता है। यह तो प्रत्यक्ष है कि हमारा मस्तिष्क और शरीर आकाश से संसार में नहीं आ टपका है, हमारी अंतरात्मा से

ही इनका विकास हुआ है। मनुष्य परमात्मा का सबसे प्यारा पुत्र है। वनचर से लेकर धर्मनिष्ठ तक, गुहावासी से लेकर नागरिक तक, मांसपिंड से लेकर सभ्यता के शिखर तक अनेक रूपों में हमने भ्रमण किया है, और यही कहानी हमारे ज्ञान-कोष का असली तत्त्व है। इस सुंदर संसार में योग्यतम को सदैव विजय-श्री प्राप्त होती रही है। उसमें सैकड़ों त्रुटियाँ भले ही हों, पर है वह संसार की सर्वोत्तम वस्तु। उसकी कमज़ोरियाँ उसकी अपरिपक्व अवस्था की सूचना देती हैं। अच्छा, यदि मनुष्य ही इस ब्रह्मांड का सिरमौर है, तो उसका कौन-सा गुण सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता है, उसकी वृद्धि का मुख्य आधार क्या हो सकता है, उसकी उन्नति का असली स्रोत क्या हो सकता है, जिससे उसके उत्तरोत्तर विकास की गारंटी की जाती है। एक शब्द में इसका उत्तर है 'प्रेम'। यही मानवी प्रकृति का केंद्र है। मनुष्य में यही सबसे प्राचीन और सबसे अधिक शक्तिशाली वस्तु है। जहाँ देखिए, वहाँ—जंगल में या शहर में, महल में या झोपड़ी में—हर जगह इसी का साम्राज्य छाया हुआ है। वास्तव में, बाइबिल में उन प्रेम-गाथाओं के अतिरिक्त और क्या है, जिन्हें मनुष्य-समाज ने समय-समय पर अपने इष्टदेव के प्रेम से उन्मत्त होकर गाया है। बुद्ध और ईसा, पाल और जॉन प्रेम की शक्ति को भली भाँति जानते थे। जब हम इस शक्ति को सत्य की पूजा में लगाते हैं, तब विज्ञान और दर्शन का प्रादुर्भाव होता है; जब इस शक्ति से सौंदर्य की आराधना करने लगते हैं, तब अनेक प्रकार की शिल्प-कलाएँ प्रकट होने लगती हैं; जब न्याय, पवित्रता और शांति की खोज करते हैं, तब सभा-समाज, व्यवस्था, सदाचार एवं धर्म की सृष्टि होती है। आजकल हम लोग इस अनुसंधान में लगे हैं कि प्रेम-शक्ति का स्वास्थ्य अथवा रोग पर, जय अथवा

पराजय पर क्या प्रभाव पड़ता है। वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य का स्वस्थ या रोगी होना सबसे अधिक उसके जीवन-प्रेम पर निर्भर है। आदि-काल से कविता, नाटक या उपन्यास का एकमात्र विषय प्रेम की महिमा गाना है। आप स्वयं अपने जीवन पर एक दृष्टि डालिए। संसार में एक भी मनुष्य इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकता कि प्रेम ही मनुष्य के स्वभाव और व्यवहार का एकमात्र नियामक है। अफ़लातून का तो यह कहना था कि प्रेम से ही ब्रह्मांड की उत्पत्ति हुई है। मनुष्यों में पशुओं से केवल एक यही विशेषता है कि उनमें प्रेम करने की शक्ति अधिक है। मनुष्य संसार के प्रेम में बेतरह फँसा हुआ है। यही आसक्ति उसकी सफलताओं और असफलताओं का एक बड़ा भारी कारण है। यदि मनुष्य अपने काम से प्रेम करने लगे, जैसे मनुष्य को खेलने में आनंद आता है, वैसे ही यदि काम करने में आनंद आने लगे, जैसे आजकल संसार काम से दूर भागना चाहता है, वैसे वह काम से घृणा न करे, तो संसार की सारी थकावट और अशांति, जो चारो ओर फैलती जा रही है, बात-की-बात में दूर हो सकती है। प्रेम के बराबर शायद ही और किसी वस्तु के इतने नाम, रूप, भेद, शाखाएँ और उपमाएँ हों। सृष्टि के आदि काल में सबसे पहले प्रेम की उत्पत्ति हुई; स्त्री-पुरुषों के वर्गीकरण के पहले प्रेम की सृष्टि हुई। प्रेम ने ही मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाया है, उसको परस्पर सहयोग और सहायता करना सिखलाया है। उसने किसी को सेवा का पाठ पढ़ाया है, तो किसी को देश-भक्ति सिखलाई है; किसी को विश्व-प्रेम की शिक्षा दी है, तो किसी को निष्काम धर्म का आदेश दिया है। प्रेम ने प्रत्येक मनुष्य को अपना व्यक्तिगत स्वार्थ गौण समझकर समाज-सेवा करने की शक्ति दी है। आज भी बहुत-से

नवयुवकों के सामने अपने जीवन का धंधा निश्चित करते समय यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कहाँ मैं सबसे अधिक भलाई कर सकूँगा, चाहे मुझे वहाँ सबसे अधिक रुपया न मिले? स्त्रियों में, जिनके हाथ में आज शक्ति आ रही है, प्रेम का अनुभव करने की शक्ति, पुरुषों की अपेक्षा, अधिक होती है। अतएव उनको संसार की अवस्था सुधारने के लिये उद्योगशील होना चाहिए। आजकल मनुष्य अपना पेट नहीं भरना चाहते, बल्कि अपना घर भरना चाहते हैं। इसी लालच और तृष्णा के कारण सैकड़ों बुराइयाँ संसार में फैल रही हैं, स्वार्थ और मिथ्या अहंकार की बेहद वृद्धि हो रही है। स्त्रियों को ऐसे संकट के समय प्रेम और सेवा का आदर्श स्थापित करना चाहिए। इस वैज्ञानिक युग में ऐसा आविष्कार होना चाहिए, जिससे मनुष्य को अपनी प्रेम करने की शक्ति का यथार्थ अनुमान हो जाय। सभ्यता और शिक्षा का सबसे प्रथम कर्तव्य यह है कि मनुष्य की प्रेम-शक्ति संसार के सबसे अच्छे और सबसे ऊँचे पदार्थ में लगे, और उसको प्रेम की स्फूर्ति का अनुभव होने लगे। ऐसी अवस्था में आज जो हमारे नेता बने हुए हैं, वे नेता न रह जायँगे। प्रेम ही सदाचार की परा काष्ठा है। युद्ध की समाप्ति के लिये प्रेम ही सबसे अधिक उपयोगी है। आधुनिक बुराइयाँ दूर करने के लिये आजकल जो अनेक उपाय किए जा रहे हैं, प्रेम की स्थापना होने से उनकी यथार्थ जाँच हो जायगी। जो देखने ही के नहीं, वरन् सचमुच मनुष्य हैं, उनके अंतःकरण में यह शक्ति अवश्यमेव किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहती है। यदि उसको व्यक्त करने के लिये कोई सीधा मार्ग निकल आवे, तो फिर हमको किसी सुधार की आवश्यकता न रहेगी। इसी सिद्धांत के कारण आधुनिक अर्थ-शास्त्र और समाज-शास्त्र में बड़ा परिवर्तन हो रहा है।

गत शताब्दी के अँगरेज़ी-साहित्य के इतिहास में कारलाइल और रस्किन के नाम ख़ूब प्रसिद्ध हैं। इन्होंने आधुनिक व्यापार-पद्धति और संपत्ति-शास्त्र पर जो विचार प्रकट किए हैं, उनसे मनुष्यों की विचार-धारा ही बदल गई है। यह सच है कि पहले अपनी विलक्षणता के कारण वे लोगों को ग्राह्य प्रतीत नहीं हुए। परंतु अपनी असाधारणता से ही उन्होंने लोगों के चित्त को आकृष्ट कर लिया, और अब सभी मननशील लोग यह समझ गए हैं कि उनके विचारों में सत्य का सूक्ष्म तत्त्व निहित है। संपत्ति-शास्त्र विज्ञान है, कम-से-कम उसका आदर्श ऐसा है कि वह विज्ञान के अंतर्गत हो सकता है। रिकार्डो और जेम्स मिल संपत्ति शास्त्र के आचार्य हैं। उन्होंने उसकी जैसी विवेचना की है, उससे यही मालूम होता है कि संपत्ति-शास्त्र का उद्देश उन सिद्धांतों और नियमों का क्रम-बद्ध वर्णन करना है, जिनके आधार पर आधुनिक व्यापार-पद्धति स्थित है; अर्थात् अर्थ की प्राप्ति के लिये भिन्न-भिन्न व्यवसाय-शील जातियाँ जिन नियमों से मर्यादित होकर व्यावसायिक समर-क्षेत्र में अवतीर्ण होती हैं, उनका स्पष्टीकरण ही संपत्ति-शास्त्र है। वह व्यवसाय के दाँव-पेचों का वर्णन करता है, उनकी धार्मिकता अथवा अधार्मिकता का निर्णय नहीं करता। इस शास्त्र के सिद्धांतों का थोड़ा-बहुत ज्ञान सभी को है। मनुष्यों की सभी इच्छाएँ पार्थिव श्री के केंद्रीभूत होती हैं। मनुष्य को तभी संतोष होता है, जब कम परिश्रम से अधिक लाभ होता है। वह यही चाहता है कि सबसे सस्ता ख़रीदे, और सबसे महँगा बेचे। भिन्न-भिन्न वस्तुओं की जैसी माँग और पूर्ति होती है, तदनुकूल उनका मूल्य निर्धारित होता है। संपत्ति-शास्त्र की दृष्टि में मनुष्य एक ख़रीदने और बेचनेवाली मशीन है, जो इसी तरह की अन्य मशीनों से लड़ती-झगड़ती रहती है। संपत्ति-शास्त्र का मनुष्य

केवल अपने स्वार्थ की सिद्धि और लोभ-वासना की पूर्ति के लिये यत्न करता है। उसका यथार्थ जीवन कितना ही पवित्र, निर्लोभ और निष्काम क्यों न हो, वह व्यवसाय के क्षेत्र में अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये ही सचेष्ट रहता है। सबसे सस्ता ख़रीदना और सबसे महँगा बेचना यही उसका एकमात्र ध्येय होता है। यदि उसकी गति कभी अवरुद्ध होती है, तो न्यायान्याय के विचार से नहीं, बल्कि पारस्परिक स्पर्धा, माँग और पूर्ति के नियम से। रस्किन ने इसी शास्त्र के विरुद्ध लेख लिखकर सत्य का प्रचार किया है। सच तो यह है कि सत्य की ही खोज में रस्किन को संपत्ति-शास्त्र का खंडन करना पड़ा। सिर्फ़ संपत्ति-शास्त्र की ही नहीं, प्रत्युत साहित्य, कला और धर्म की भी उसने अच्छी तरह परीक्षा की। पहलेपहल लोगों ने उसके सिद्धांतों का उपहास किया, परंतु आज साहित्य, धर्म, कला अथवा संपत्ति-शास्त्र का ऐसा कोई भी आचार्य नहीं है, जो यह कहे कि उसका शास्त्र उसी रूप में आज तक विद्यमान है। यह सभी को स्वीकार करना पड़ेगा कि रस्किन ने विचार-स्रोत की गति बदल दी है।

जॉन रस्किन का जन्म सन् १८१९ में हुआ था। १८४२ में वह ऑक्सफ़र्ड-विश्वविद्यालय का बी० ए० हुआ। १८४३ से १८५६ तक उसने कला की समीक्षा की। उसका Modern Painters-नामक ग्रंथ इसी का परिणाम है। १८५७ में उसका ध्यान संपत्ति-शास्त्र की ओर आकृष्ट हुआ। उस समय सर्वश्रेष्ठ कला-कोविदों में उसकी गणना होने लगी थी। जब उसका संपत्ति-शास्त्र-विषयक लेख प्रकाशित हुआ, तब लोगों ने यही समझा कि यह रस्किन की अनधिकार चेष्टा है। अभी तक कुछ ऐसे लोग हैं, जिनका यही विश्वास है। परंतु रस्किन का यह दृढ़ विश्वास था कि सत्य की अभिव्यक्ति में ही कला का महत्त्व है।

उसका उद्देश यही है कि वह मानव-जीवन को उदार और उन्नत करे। जब मानव-समाज की सेवा ही कला का एकमात्र लक्ष्य है, तब यह संभव नहीं कि कला की परीक्षा करने के बाद रस्किन का चित्त मानव-समाज की ओर न झुके। रस्किन ने देखा कि समाज के अस्तित्व की रक्षा करना पहला कर्तव्य है। जब समाज ही नहीं रहेगा, तब किसे उन्नत करने की चेष्टा की जायगी? अतएव रस्किन समाज सुधार के लिये कटिबद्ध हुआ। श्रम-जीवियों की दुरवस्था देखकर उनकी सेवा में उसने अपनी विशाल सपत्ति अर्पण कर दी और उन्हीं के लिये अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। इसी से जान पड़ता है कि रस्किन के विचार कितने उन्नत थे।

रस्किन पर दो मनुष्यों का प्रभाव ख़ूब पड़ा, एक तो टर्नर का और दूसरा कारलाइल का। कारलाइल अँगरेज़ी का बड़ा ही क्षमताशाली लेखक है। उसने अपने समकालीन विद्वानों के भी चित्तों को विक्षिप्त कर दिया था। इँगलैंड के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक सभी क्षेत्रों में उसने उत्क्रांति पैदा कर दी थी। यदि कुछ लोग कारलाइल के विरोधी थे, तो अधिकांश लोग उसके अनुयायी थे। रस्किन अपने जीवन के प्रारंभिक काल में ही कारलाइल की शक्ति पर मुग्ध हो गया था। परंतु जब वह चालीस वर्ष का हुआ, तब उस पर कारलाइल का प्रभाव पूर्ण रूप से परिलक्षित होने लगा। चालीस वर्ष की अवस्था तक रस्किन कला की चर्चा में निरत रहा। परतु इसके बाद उसने सौंदर्य-बोध को गौण स्थान देकर कर्तव्य ज्ञान को ऊँचा किया। यह संभव नहीं था कि रस्किन का विचार कार्य-रूप में परिणत न हो। जब किसी विषय पर उसका दृढ़ विश्वास हो गया, तब उसके छोटे-छोटे कामों में भी उसका वही विश्वास दृग्गोचर होने लगा। रस्किन

यह देखकर क्षुब्ध होता था कि लोग उसके भाषा-सौंदर्य और शब्द-चित्रण पर मुग्ध होते हैं, परंतु उसकी शिक्षा पर विचार नहीं करते। अतएव रस्किन ने अपने 'मॉडर्न पेंटर्स'-नामक ग्रंथ का प्रकाशन बंद कर दिया, और 'अन-टू दिस लास्ट'-नामक लेख प्रकाशित किया। इसमें उसने अपने विचार स्पष्ट रीति से प्रकट किए।

वर्तमान युग में धनवानों और दरिद्रों की जैसी अवस्था है, उसे देखकर रस्किन को धन की लालसा कभी नहीं हुई। रस्किन के पिता की गणना धनियों में थी। उसकी मृत्यु के बाद रस्किन को १,४७,००० पौंड तो नक़द मिले, और स्थावर संपत्ति अलग। परंतु उसको संपत्ति से कुछ भी सुख नहीं हुआ। उसने एक जगह लिखा है—"मेरे पास जितना है, उतने का मैं उपयोग ही नहीं कर सकता। परंतु मेरे घर के बाहर कितने ही लोग भूखों मर रहे हैं। मेरे पास इतनी अधिक मलाई है कि मैं अपने दोस्तों को बाँटता फिरता हूँ, पर मेरे घर के बाहर कितने ही बच्चे दूध न पाने के कारण मर जाते हैं।" यही सोचकर रस्किन ने अपनी कुछ संपत्ति अपने संबंधियों को दे डाली, और कुछ अच्छे काम में ख़र्च करने के लिये दान कर दी। रस्किन का यह दृढ़ विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य को अपने ही परिश्रम का फल ग्रहण करना चाहिए। पूर्वजों की उपार्जित संपत्ति को बिना प्रयास पाकर उसे अपने भोग-विलास में ख़र्च करना मनुष्यत्व की सीमा के बाहर है। श्रीमानों के पुत्र अपने हाथों से कोई काम करना अपने लिये अपमान-जनक समझते हैं। इतना ही नहीं, उनकी यह भी धारणा हो गई है कि ऐसे कामों में बुद्धि की ज़रूरत नहीं पड़ती, अतएव उन्हें कर लेना बड़ा सरल है। रस्किन ने उन्हें ऐसे कामों का महत्त्व बतलाया। जब वह ऑक्सफ़र्ड में अध्यापक था, तब उसने

सड़क बनाने के लिये लड़कों को उत्साहित किया। इसका फल यह हुआ, कि लड़कों ने अपनी छोटी-छोटी टोलियाँ बना लीं, और वे बड़े प्रेम से सड़कों की मरम्मत करने लगे। इसके सिवा रस्किन ने नाली साफ़ करनेवालों की एक समिति खोली। उसमें जो लड़के सम्मिलित होते थे, वे अपने हाथों से नालियाँ तक साफ़ करते थे। रस्किन वाक्शूर नहीं था, और न वह परोपदेश में पांडित्य ही प्रदर्शित करना चाहता था। जो कुछ वह कहता, उसे स्वयं करता। अपनी शिक्षा का पहले वही अनुयायी होता। उसका यह भी कहना था—"Half of my power of ascertaining facts of any kind connected with the arts is in my stern habit of doing the thing with my own hands, till I know its difficulty." अर्थात् जिस काम का मुझे अनुभव करना है, उसे मैं स्वयं अपने हाथों से करके देख लेता हूँ कि वह कितना कठिन है। इसीलिये अपने शिष्यों से सड़क कुटाने के पहले वह स्वयं जाकर पत्थर फोड़ने का काम करता रहा। उसने एक पत्थर फोड़नेवाले के पास जाकर इसकी शिक्षा ग्रहण की। इसी तरह एक झाड़ू देनेवाले ने उसे नाली साफ़ करना सिखलाया।

जब रस्किन इस तरह के काम करने लगा, तब लोगों ने उसका उपहास किया। पर उसने लोगों की निंदा की पर्वा नहीं की। मज़दूरों की दुरवस्था का चित्र उसके चित्त-पटल पर अंकित हो गया था। अतएव जिससे उनकी दशा सुधर जाय, वही काम वह करता था। उसने देखा, मज़दूरों को रहने के लिये कम खर्च में मकान नहीं मिलते। तब उसने एक गली में एक बड़ा भारी मकान लिया, और मज़दूरों को कम किराए पर साफ़ कमरे देने लगा। इसी तरह उसने एक दूकान भी खोली, जहाँ मज़दूरों को सस्ते दामों में अच्छी चीज़ें दी जाती थीं। पुस्तकालयों में मज़दूरों

की बड़ी दयनीय दशा है। अतएव रस्किन ने चर्खा चलवाना चाहा। उसने कुछ चर्खे और करघे ख़रीदकर कुछ लोगों को दिए। उनसे लोगों ने ऊनी कपड़े तैयार किए। डेलीन्यूज़ ने लिखा था—इन कपड़ों में ख़राबी यही है कि ये जल्दी नहीं फटते। वह कारख़ाना अगर अभी तक जारी हो, तो कुछ आश्चर्य नहीं।

रस्किन ने उपर्युक्त जितने काम किए, सब उसकी उदारता के फल थे। उनका प्रभाव चिरस्थायी नहीं हो सकता था; परंतु उनसे लाभ यह हुआ कि रस्किन को दरिद्रों की अवस्था का अच्छा अनुभव हो गया। उसने अर्थशास्त्र के तत्कालीन आचार्यों के ग्रंथों का भी मनन किया। उसने अब कला की चर्चा करना बिलकुल ही छोड़ दिया, और इँगलैंड के राजनीतिक, व्यावसायिक और सामाजिक प्रश्नों पर विचार करना आरंभ किया। अच्छी तरह विचार करने के बाद उसने यह निश्चय किया कि वर्तमान समाज की दुरवस्था का सबसे बड़ा कारण यह है कि लोग संपत्ति, मूल्य, संपत्ति-शास्त्र आदि शब्दों का यथार्थ मर्म नहीं समझ सके हैं। यदि लोग संपत्ति-शास्त्र के तत्त्वों को हृदयंगम कर लें, तो आज समाज की स्थिति बदल जाय; धनियों और दरिद्रों के बीच में जो एक अप्राकृतिक व्यवधान है, वह दूर हो जाय। यह सोचकर रस्किन ने संपत्ति-शास्त्र के तत्त्वों का प्रचार करने की चेष्टा की। "Unto this Last"-नामक निबंध में उसने अपने संपत्ति-शास्त्र-विषयक विचार प्रकट किए। इस निबंध में चार अध्याय हैं। पहले-पहल यह 'कार्नहिल-मेगज़ीन'-नामक एक सामयिक पत्र में प्रकाशित हुआ। उस समय उक्त पत्र का संपादक थेकेरी था। जब निबंध के दो अध्याय प्रकाशित हुए, तब पाठकों ने इतना हल्ला मचाया कि संपादक ने रस्किन से लेख बंद कर देने की प्रार्थना की। अब रस्किन के विचार सुनिए।

अर्थशास्त्र का पहला सिद्धांत है सबसे सस्ता ख़रीदना और सबसे महँगा बेचना। सभी व्यापारी इसे उचित समझेंगे। परंतु रस्किन ने लिखा है कि मनुष्य-जाति के इतिहास में इस सिद्धांत से अधिक निंदनीय कोई भी बात नहीं है कि जब बाज़ार का भाव ख़ूब सस्ता हो, तब ख़रीदना चाहिए। सोचो तो सही, चीज़ें सस्ती कब होती हैं? अगर तुम्हारा घर गिर जाय, और लकड़ियाँ बरबाद हो जायँ, तो तुम्हें उनको सस्ते भाव से बेचना पड़ेगा। इसी तरह अगर भूकंप हो जाय, और सब मकान गिर पड़ें, तो ईंटें सस्ती हो जायँगी। नाश के बाद अगर तुम चीज़ें सस्ती ख़रीद सके, तो क्या नाश को लाभदायक समझोगे? यह समझ रक्खो कि अगर कोई चीज़ कौड़ी-मोल बिक रही है, तो उसके पीछे विपत्ति का भूकंप ज़रूर हुआ है। किसी का घर नष्ट हो गया होगा, किसी का जीवन बरबाद हो गया होगा। ऐसे ही जब चीज़ें ख़ूब महँगी हों, तभी बेचना चाहिए यह सिद्धांत भी है। तुम अपनी चीज़ों के मनमाने दाम कब लोगे? अगर आदमी भूख के मारे मर रहा है, तो वह दो पैसे की रोटी के लिये एक रुपया देगा। जब भीषण दुर्भिक्ष में हज़ारों मरने लगते हैं, तब तुम अपने अन्न का भाव ख़ूब बढ़ा सकते हो। तुम कहते हो, हम धनवान् हैं, हमने अपने परिश्रम से धनोपार्जन किया है। पर यह समझ रक्खो कि अगर रात न होती, तो दिन न होता। सैकड़ों दरिद्र हैं, इसलिये तुम धनवान् हो। तुम्हारे पास दो रुपए हैं, तो समझ लो कि तुम्हारे किसी पड़ोसी की जेब दो रुपयों से ख़ाली है। उसे रुपयों की ज़रूरत है, इसीलिये तुम्हारे रुपयों का मूल्य है। बिना हज़ारों को दरिद्र बनाए तुम धनवान् नहीं हो सकते। अगर वे दरिद्र न हों, तो तुम धनवान् हो ही नहीं सकते। अतएव किसी राष्ट्र का धन उसके करोड़पतियों से न निश्चित किया जाना

चाहिए। संभव है, दस-पाँच धन-कुबेरों के रहने से राष्ट्र बिलकुल दरिद्र हो। सर्वसाधारण की अच्छी अथवा बुरी स्थिति देखकर हम किसी राष्ट्र को धनी अथवा दरिद्र कह सकते हैं। धन का अर्थ सुस्थिति है। अतएव वही राष्ट्र संपत्तिशाली है, जिसमें अधिकांश लोगों की स्थिति अच्छी है। जिन पर राष्ट्र के शासन का भार है, उनका यह कर्तव्य है कि वे अपनी जाति में उदार और उन्नत पुरुषों की वृद्धि करें। धन की उपयोगिता सिर्फ़ इतनी है कि उसके द्वारा मनुष्य अपने परिश्रम के लिये जीविका प्राप्त करता है। जीवन की हानि से धन का संग्रह होता है।

रस्किन के इन विचारों से बड़े-बड़े विद्वान् चकित हो गए। उन्होंने रस्किन से पूछा—आप क्या करना चाहते हैं? तब रस्किन ने एक व्यवस्था तैयार की, और अपने एक ग्रंथ में भूमिका के रूप में प्रकाशित की। उसमें सबसे पहली बात यह थी कि सरकार अपने ख़र्च से जगह-जगह ट्रेनिंग स्कूल खोले। वे स्कूल सरकार ही के संरक्षण में रहें; पर उनमें सभी बालकों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार रहे। उनमें ऊँच-नीच का ख़याल न रक्खा जाय, और तीन बातें सिखलाई जायँ। पहली, स्वास्थ्य के नियम, दूसरी, दया और न्याय; तीसरी, कोई ऐसा उद्योग-धंधा, जिसे सीखकर बालक अपना जीवन-निर्वाह अच्छी तरह कर सकें। रस्किन की व्यवस्था की दूसरी बात यह थी कि सरकार की ओर से कारख़ाने स्थापित हों, जहाँ सभी तरह की ज़रूरी चीज़ें तैयार की जायँ, और मज़दूरों को उचित वेतन दिया जाय। तीसरी बात यह कि जो लोग निठल्ले हैं, उनकी जाँच की जाय। अगर उन्हें कोई काम न मिलता हो, तो काम दिया जाय। अगर वे कोई काम करना न जानते हों, तो उन्हें काम सिखाया जाय। जो जिस काम के लिये उपयुक्त हो, उसे वही काम दिया जाय।

अगर कोई रोगी हो, तो उसकी चिकित्सा के लिये सुव्यवस्था की जाय। जो लोग शक्तिहीन हैं, जिनसे किसी तरह का काम हो ही नहीं सकता, उनको अच्छी सुविधा दी जाय, जिससे उनका जीवन और अधिक दुःखप्रद न हो।

रस्किन की यह व्यवस्था कैसी है, इस पर हम अपनी सम्मति नहीं दे सकते। नीचे हम उसके कुछ वाक्य उद्धृत करते हैं। ये वाक्य उसने इँगलैंड के मज़दूरों के लिये कहे थे; पर उसका यह कथन सब देशों के मज़दूरों के लिये भी बिलकुल सार्थक है—

'Meat! perhaps your right to that may be pleadable, but other rights have to be pleaded first Claim your crumbs from the table if you will, but claim them as children, not as dogs, claim your right to be fed, but claim more loudly, your right to be holy, perfect and pure'

अर्थात् तुम्हें रोटी पाने का हक़ है, पर तुम्हारे दूसरे भी हक़ हैं, जिन पर तुम्हें पहले ध्यान देना चाहिए। अगर तुम चाहते हो, तो रोटी के टुकड़े माँगो। पर कुत्ते की तरह मत माँगो। माँगो, तो बच्चे की तरह। तुम अपने उदर-भरण के हक़ के लिये लड़ो; पर उससे अधिक इस बात के लिये लड़ो कि सच्चरित्र और पवित्र जीवन व्यतीत करने का भी तुमको अधिकार है।

नाटक

नाटक-शब्द नट्-धातु से बना है। 'नट्' नाचने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अँगरेज़ी में नाटक को ड्रामा कहते हैं। ड्रामा के लिये संस्कृत में नाटक की अपेक्षा रूपक-शब्द अधिक उपयुक्त है। ड्रामा का मूल-शब्द इसी अर्थ का द्योतक है। ड्रामा उन रचनाओं को कहते हैं, जिनमें अन्य लोगों के क्रिया-कलापों का अनुकरण इस प्रकार किया जाता है कि मानो वे ही काम कर रहे हों। जूलियस सीज़र के नाटक में कोई व्यक्ति उसका इस प्रकार अनुकरण करता है, मानो वही जूलियस सीज़र है। दूसरों का अनुकरण करना मनुष्य-मात्र का स्वभाव है। बालक अपने माता-पिता का अनुकरण करता है। छोटे लोग बड़ों का अनुकरण करते हैं। नाटकों की उत्पत्ति मनुष्यों के स्वभाव ही से हुई है। एक बात और है। नाटक में सिर्फ़ क्रिया-कलापों का ही अनुकरण नहीं होता, मनुष्यों की हृद्गत भावनाओं का भी अनुकरण किया जाता है। यह तभी संभव है, जब हम दूसरों के सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझ लें। यही सहानुभूति है। यह भाव भी स्वाभाविक है। सच पूछा जाय, तो इसी के आधार पर मानव-समाज स्थित है। यदि यह न रहे, तो मानव-समाज छिन्न-भिन्न हो जाय। अस्तु। हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि नाटकों का मूल-रूप मनुष्यों के अंतर्जगत् में विद्यमान है। वाह्य जगत् में उसका विकास क्रमशः हुआ है।

नाटक में नट दूसरे के कार्यों का अनुकरण करता है।

इसी को अभिनय कहते हैं। यह कला है। भावों के आविष्करण को कला कहते हैं। किसी भी कला में नैपुण्य प्राप्त करने के लिये विशेष योग्यता की ज़रूरत है। इसीलिये, यद्यपि अनुकरण करने की प्रवृत्ति सभी में होती है, तथापि, नाट्य-कला में दक्ष होना सबके लिये संभव नहीं।

नाटक और नाट्य-कला में परस्पर संबंध है। नाटक के लिये नाट्य-कला आवश्यक है। परंतु नाटक स्वयं एक कला है, और उसकी उत्पत्ति मनुष्यों के अंतःकरण में होती है। बाह्य जगत् में उसको प्रत्यक्ष कर दिखाना नाट्य-कला का काम है। नाटकों की गणना काव्यों में की जाती है। उन्हें दृश्य-काव्य कहते हैं, अर्थात् वे ऐसे काव्य हैं, जिनमें हम कवि की कुशलता का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। यद्यपि रंग-भूमि में कवि नहीं आता, तथापि नटों के द्वारा हम उसी की वाणी सुनते हैं। नाट्यशाला शरीर है, और कवि उसकी आत्मा।

कुछ समय पहले लोगों की यह धारणा हो गई थी कि भारतीय नाटकों में ग्रीस-देश के नाटकों का अनुकरण किया गया है। इसकी पुष्टि के लिये हिंदू-नाटकों में प्रयुक्त यवनिका-शब्द का उल्लेख किया जाता था, यद्यपि अभी तक इसी का निश्चय नहीं हुआ कि ग्रीक लोग यवनिका का उपयोग करते भी थे, या नहीं।

लोगों का यह समझना ठीक नहीं कि भारत ने ग्रीक-नाटकों का अनुकरण किया है। इसमें संदेह नहीं कि ग्रीस और भारत ने परस्पर बहुत कुछ लिया-दिया है। पर इसका मतलब यह नहीं कि एक ने दूसरे का अनुकरण किया है। प्रतिभा कोरा अनुकरण नहीं करती। वह अभीष्ट वस्तु को ग्रहण कर उसे अपना लेती है। न तो ग्रीस ने भारत का अनुकरण किया है, और न भारत ने ग्रीस का। दोनो ने अपनी-अपनी प्रतिभा से अपने-अपने साहित्य

की वृद्धि की है। ग्रीक और भारतीय नाटकों में परस्पर समता ही नहीं है। हिंदू-नाटकों में ग्रीक-नाटकों की एकताओं की उपेक्षा की गई है। ग्रीक-भाषा में दुःखांत नाटक हैं; परंतु हिंदुओं के साहित्य में एक भी ऐसा नाटक नहीं। इतना हम ज़रूर कहेंगे कि हिंदू-नाटकों के विदूषक को इँगलैंड की रानी एलिज़ा बेथ के समय के नाटकों में, तथा रोमन नाटकों में भी, क्लाउन (Clown) का रूप प्राप्त हो गया है। क्लाउन कहते हैं भाँड़ को। पीशेल नाम के विद्वान् का भी यही कहना है कि विदूषक के ही आदर्श पर योरप के नाटकों में बफ़ून (Buffoon) अर्थात् भाँड़ की सृष्टि हुई है।

हिंदू-नाटकों की उन्नति प्राचीन काल ही में हो गई थी। मध्य एशिया में उपलब्ध एक ताड़-पत्र के ग्रंथ से विदित होता है कि कुशान-राजों के काल में ही—जब मध्य-एशिया भारतीय साम्राज्य के अंतर्गत था—हिंदू-नाटकों की श्री-वृद्धि हो गई थी। छठी शताब्दी में हिंदू लोग जावा-द्वीप में बस गए थे। वहाँ के छाया-नाटकों को देखकर हम जान सकते हैं कि हिंदू-नाटकों का कितना प्रभाव उन पर पड़ा है। बर्मा, श्याम और कंबोडिया में भी रंगमंच पर राम और बुद्ध के चरित्रों का अवलंबन करके लिखे गए नाटक खेले गए हैं। रामावतार का अभिनय मलाया-द्वीप-समूह में ही नहीं, चीन तक में किया गया था।

हिंदू-नाटकों की इस श्री-वृद्धि का कारण यह है कि हिंदू-मात्र की दृष्टि में नाटकों का धार्मिक महत्त्व है। योरप में नाट्यशालाओं के प्रति अनेक बार घृणा प्रदर्शित की गई। उनका प्रचार भी रोका गया। धार्मिक ईसाई का यह विश्वास था कि लोगों को पाप-पथ पर ले जाने के लिये ही शैतान ने इन आमोद-प्रमोदों की सृष्टि की है। रोम में नाटक खेलनेवालों का कुछ भी आदर नहीं होता था।

चीन में उनकी संतानों को यह अधिकार न था कि वे परीक्षाओं में बैठ सकें। पर हिंदू लोग नाट्य-शास्त्र को पंचम वेद मानते हैं। उनका विश्वास है कि भरत मुनि ने संसार के कल्याण के लिये उसका आविष्कार किया है।

सबसे प्राचीन नाट्य-शास्त्र भरत मुनि का ही है। पाणिनि के समय में भी नाट्य शास्त्र प्रचलित थे। उन्होंने दो आचार्यों का उल्लेख किया है—शिलालिन और कृशाश्व। पतंजलि के समय में भी नाटक खेले जाते थे। उनके महाभाष्य में कंस-वध और बलि-बंधन के खेले जाने का साफ़ साफ़ उल्लेख है।

हिंदू नाट्य-साहित्य का प्राचीनतम रूप देखने के लिये हमें वेदों की आलोचना करनी चाहिए। ऋग्वेद के कई सूक्तों में कुछ संवाद हैं—जैसे यम और यमी का संवाद, पुरूरवा और उर्वशी का संवाद इत्यादि। इनकी गणना हम नाटकों में कर सकते हैं। पुरूरवा और उर्वशी का संवाद ही पुराणों में, कथारूप में, विस्तार-पूर्वक वर्णित हुआ है; और उसे ही कालिदास ने नाटक का रूप दिया है। जान पड़ता है, पहले-पहल नाटकों में सिर्फ़ संगीत ही रहता था। पीछे से उनमें संवाद (अर्थात् भाषण या कथोपकथन) जोड़े गए हैं। फिर, इसके अनंतर, कदाचित् उनमें कृष्ण-चरित का समावेश किया गया है। कुछ भी हो, इसमें तो संदेह नहीं कि बहुत प्राचीन काल में ही नाटकों का अभिनय होने लगा था।

हिंदू-नाटककार कार्यों और विचारों की एकताओं का ख़ूब ख़याल रखते थे। उनके मर्मवाद ने सभी नाटकों की घटनाओं को कार्य-कारण की शृंखला में बाँध रक्खा है। हिंदू-साहित्य में संयोगांत और वियोगांत नाटक अलग-अलग नहीं हैं। उनमें हर्ष और शोक के भाव मिश्रित रहते हैं। रंगभूमि में अत्यंत शोकोत्पादक अथवा

विकार-वर्द्धक दृश्य नहीं दिखलाए जाते थे ; क्योंकि ऐसा करने से मन विकृत हो जाने का डर था। शोक की उपेक्षा नहीं की जाती थी ; पर ज़ोर इस बात पर दिया जाता था कि शोक का सहन त्याग से किया जाना चाहिए। संसार जिन नियमों से बँधा है, वे हम लोगों के लिये श्रेयस्कर हैं।

प्रत्येक नाटक के आरंभ और अंत में आशीर्वादात्मक श्लोक रहते हैं। उनका विषय प्रायः धार्मिक ग्रंथों से लिया जाता है। ग्रीक नाट्यकार, जर्मन कवि और अँगरेज़ शेक्सपियर आदि चरित्र-चित्रण में ही अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। उनका विषय है मनुष्य। हिंदू-नाटककारों का विषय है प्रकृति। उनके लिये प्रकृति ही यथार्थ में शिक्षा देनेवाली है। यही कारण है कि हिंदू-नाटक प्रकृति-संबंधी उत्सवों में खेले जाते थे। अधिकतर वसंत के उत्सव में, जब विश्व-प्रकृति का नव जीवन आरंभ होता है। बिना दुख के, बिना तपस्या के पवित्रता नहीं आती। बिना आत्म-त्याग के आत्मोन्नति नहीं होती। हिंदू-नाटकों में यही भाव स्पष्ट करके दिखाया गया है।

भारतीय नाटकों के समान चीन के नाटक भी बड़े प्राचीन हैं। जब नृत्य और संगीत का सम्मेलन हुआ, तब नाटकों का आविर्भाव हुआ। अँगरेज़ी में जिन्हें Ballets और Pantomimes कहते हैं, उन्हीं को हम चीन के नाटकों का प्राचीनतम रूप कह सकते हैं। उनमें फ़सल, युद्ध, शांति आदि विषयों का आलंकारिक रूप से वर्णन रहता था। वू-वैंग-द्वारा चीन-विजय पर एक ऐसे ही नाटक की रचना की गई थी। कुछ दंतकथाओं के अनुसार यह कहा जाता है कि सन् ५८० के लगभग सम्राट् वान-टी ने नाटकों का आविष्कार किया। पर अधिकांश लोगों की यह सम्मति है कि सन् ७२० में संगीत-कला-विशारद सम्राट्

ह्यूनसंग ने ही नाटकों का प्रचार किया। Pantomimes की अवहेलना और नाटकों की सृष्टि होने लगी। चीनी नाटकों का इतिहास चार कालों में विभक्त हो जाता है—

(१) प्रारंभिक काल—यह ७२० से ६०७ तक रहा। इस समय चीन में तुंग-वंश की प्रभुता थी। उसके शासन-काल में जितने नाटक बने, उन सबमें अलौकिक घटनाओं का ही समावेश किया जाता था। चीन में राज-विग्रह (बगावत) होने के कारण कुछ समय के लिये नाटकों का प्रचार रुक गया।

(२) विकास-काल—यह ९६० से ११११ तक रहा। उस समय सुंग वंश सिंहासनारूढ था। इस काल के नाटकों को हिखिस्रो कहते हैं। इन नाटकों की एक विशेषता यह है कि इनमें एक प्रधान पात्र रहता है। उसे आप चाहें, तो नाटक का नायक कह सकते हैं। पर उसका काम यह होता है कि वह रंग-मंच पर गाना गावे।

(३) अभ्युदय-काल—'किन' और 'यूएन'-वंशो के प्रभुत्व-काल में चीनी नाटकों की अच्छी उन्नति हुई। यह अभ्युदय-काल ११२५ से १३६७ तक रहा। यूएन-वश के आधिपत्य-काल में कोई ८४ नाटककार हुए। नाटकों की संख्या ५६४ से कम नहीं है। सन् १७३२ में एक पादरी ने योरप को पहले-पहल इस बात की सूचना दी कि चीन में भी एक वियोगांत नाटक है। उस नाटक का नाम है चाओ-वंश का अनाथ बालक। उसमें एक युवराज की विपत्ति का वर्णन है। फ्रांस के प्रसिद्ध नाटककार वाल्टेयर ने उसी के आधार पर एक नाटक की रचना की है। जूलियन नाम के एक विद्वान् ने उसका अनुवाद किया। उसके बाद सर डेविस और बेज़िन ने भी कई चीनी नाटकों के अनुवाद किए। सबसे प्रसिद्ध नाटक है 'पी-पा-की'। चौदहवीं शताब्दी

के अंत में उसकी रचना हुई है। उसके रचयिता का नाम है केओ-कांग-किया। मिंग-वंश के शासन-काल में, सन् १४०४ में, यह खेला गया था। यह एक सामाजिक नाटक है, बड़ा भाव-पूर्ण है। चीन में इसका प्रचार भी ख़ूब हुआ। अठारहवीं शताब्दी तक यह चीनी नाटकों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था।

(४) प्रहसन-काल—मिंग-वंश के शासन-काल में, सन् १३६८ से १६४४ तक, प्रहसनों की ही धूम रही। अच्छा नाटक एक भी नहीं लिखा गया। वर्तमान काल के चीनी-नाटकों में भी कुछ विशेषता नहीं है।

चीनी-नाटकों का आदर्श ख़ूब ऊँचा है। कहा जाता है, प्रत्येक नाटक शिक्षा-प्रद और भाव-पूर्ण होना चाहिए। जो नाटककार अश्लील अथवा अनाचार-द्योतक नाटकों की रचना करता है, वह दंडनीय है। लोगों का यह विश्वास है कि जब तक ऐसे नाटक पृथ्वी पर खेले जायँगे, तब तक मृत्यु के बाद भी नाटककार को नरक-यंत्रणा भोगनी पड़ेगी। चीनी-नाटकों में संयोगांत और वियोगांत नाटकों का भेद नहीं है। वहाँ नाटकों के बारह भेद बतलाए गए हैं। धार्मिक नाटकों का स्थान सबसे ऊँचा है। ऐतिहासिक नाटकों का भी अभाव नहीं है, यद्यपि वहाँ यह क़ानून बना दिया गया है कि सम्राट्, सम्राज्ञी, राजकुमार और सचिवों का समावेश नाटकों में नहीं किया जाना चाहिए।

चीनी-नाटक इतिहास, प्राचीन कथा और उपन्यासों से ही तैयार किए जाते हैं। आधुनिक नाटकों का प्रचार वहाँ अभी हाल ही में हुआ है। परंतु इन नाटकों को वहाँ वैसी सफलता नहीं प्राप्त हुई, जैसी कि प्राचीन नाटकों को। सच पूछो, तो आधुनिक नाटक प्राचीन नाटकों के समान न तो चित्ताकर्षक ही हैं, और न शिक्षा-प्रद ही। अमेरिका में जिन्होंने शेक्सपियर के नाटकों के

खेल देखे हैं, वे शायद आधुनिक नाटकों का खेल पसंद न करेंगे।

नाटकों का उद्देश सिर्फ़ मनोरंजन ही नहीं है। उनका लक्ष्य यह भी है कि समाज की दशा उन्नत की जाय। जिन नाटकों में यह बात नहीं है, वे व्यर्थ तो हैं ही, उनसे हानि होने की भी संभावना है। चीनवाले ऐसे नाटक देख ही नहीं सकते, जिनमें मानव-जीवन का बुरा चित्र हो। हाँ, यदि उन्हें यह मालूम हो जाय कि नाटककार का उद्देश अच्छा है, वह इनसे शिक्षा देना चाहता है, तो वे भले ही ऐसे नाटक देख लें। उन्हें दूसरों की दिल्लगी उड़ाना अथवा उन पर अन्याय-युक्त कटाक्ष करना ज़रा भी पसंद नहीं।

इसीलिये वहाँ निम्न श्रेणी के नाटकों का प्रचार नहीं है। चीन के नट और नटी भी ऐसे नाटकों में शामिल नहीं होते। इससे उनकी कीर्ति नष्ट हो जाती है। वहाँ के नटों में यह भाव इतना प्रबल है कि यदि किसी मैनेजर ने ऐसे नाटकों में अभिनय करने के लिये प्रार्थना की, तो वे उसे अपमान-सूचक समझते हैं। जितना उन्हें अपने कर्तव्य के गौरव का ख़याल है, उतना अन्य देश के किसी भी नट को नहीं।

आजकल चीन में लैंग फ़ांग नाम के नट की बड़ी प्रसिद्धि है। दस साल पहले उसका नाम भी कोई नहीं जानता था। परंतु आजकल उसकी उतनी ही ख्याति है, जितनी मेरी फ़िक्फ़ोर्ड की तारीफ़ है। लैंग-फ़ांग स्त्री नहीं, पुरुष है। तो भी वह स्त्री का अभिनय इस ख़ूबी से करता है कि लोग देखकर दंग हो जाते हैं। उसका स्वर बहुत ही मधुर है। उसके अभिनय में ज़रा भी कृत्रिमता नहीं जान पड़ती। सबसे बड़ी बात यह है कि वह जिस पात्र का अभिनय करता है, उसी में बिलकुल तल्लीन हो जाता है। वह बीस नाटकों में पार्ट लेता है। सभी

में वह स्त्री का ही अभिनय करता है। इन नाटकों में से उसे दो बहुत पसंद हैं एक का नाम है। 'पुष्पविसर्जन', और दूसरे का 'स्वयंसेवक'। 'पुष्पविसर्जन' एक उपन्यास से लिखा गया है। वह उपन्यास चौबीस जिल्दों में समाप्त हुआ है, और उसमें १२० अध्याय हैं। उसकी रचना २०० वर्ष पहले किसी लेखक ने की थी। लेखक का नाम अज्ञात है। चीन के श्रेष्ठ उपन्यासों में उसकी गणना है.। 'पुष्पविसर्जन' की कथा हृदयग्राही है। उसकी एक कविता का अँगरेज़ी-अनुवाद देखिए—

"Flower fade and fly.
And flying fill the sky
Their bloom departs their perfume gone
Yet who stands pitying by ?"

अर्थात् फूल मुरझाते और उड़ जाते हैं, और उड़ते हुए आकाश को व्याप्त कर लेते हैं। उनकी कली नष्ट और सुगंध-लुप्त हो जाती है; पर उनके लिये कौन शोक करता है?

स्वयं-सेवक की कथा यह है कि जब तातारों ने चीन पर आक्रमण किया, तब एक लड़की पुरुष का वेष धारण कर चीनी सेना में भर्ती हो गई। युद्ध-भूमि में उसने बड़ी वीरता दिखलाई। अंत में वह सेनापति बना दी गई। जब वह विजय प्राप्त करके लौटी, तब सम्राट् ने उसकी अभ्यर्थना करनी चाही। परंतु सम्राट् से प्रार्थना कर वह घर लौट गई, और वहीं अपने असली रूप में प्रकट हुई।

जापान के नाटकों के दो विभाग किए जा सकते हैं। एक नो और दूसरा काबुकी। नो-नाटकों को हम साहित्यिक नाटक कह सकते हैं, और काबुकी को लौकिक। इन दोनो तरह के नाटकों में जापानियों की विशेषता लक्षित होती है। पाश्चात्य विद्वानों

की राय है कि ग्रीक साहित्य के वियोगांत नाटकों के मूल-स्वरूप से जापान के साहित्यिक नाटकों का बहुत कुछ सादृश्य है। कुछ बातों में भिन्नता अवश्य है, तो भी इन दोनों की परस्पर समता देखकर आश्चर्य होता है। सम्भव है, यदि कोई भारतीय विद्वान् इन नाटकों के साथ संस्कृत के नाटकों की तुलना करे, तो वह और भी अधिक समता देखे, क्योंकि संस्कृत नाटकों की तरह इनमें भी गद्य पद्य का मिश्रण है, और यत्र तत्र कुछ गान भी हैं। नो नाटकों का संबंध जनता से उतना नहीं, जितना कि उच्च श्रेणी के लोगों से है। कदाचित् ऐसे नाटकों के लेखकों की यही धारणा थी कि "आपरितोषात् विदुषां" प्रयोग विज्ञान की सार्थकता नहीं है। कावुकी नाटक सर्वसाधारण के लिये है। विद्वानों की राय है कि नो नाटकों के अभिनय की व्यवस्था उच्च श्रेणी के ही लोग करते थे, परंतु उनका खेल सर्वसाधारण के ही सामने किया जाता था। इन नाटकों में धार्मिक भावों की प्रधानता है। बौद्ध धर्म ही इनका प्राण है। कुछ समय पहले लोगों का यह विश्वास था कि बौद्ध पुरोहितों ने ही इनकी रचना की है। परंतु यह बात नहीं है। एक तरह से अभिनेता ही इनके लेखक माने जा सकते हैं।

यह देखा गया है कि सभी देशों की प्रचलित प्राचीन गाथाओं में समता है। एक विद्वान् ने अभिज्ञान शाकुंतल की कथा से बिलकुल मिलती-जुलती एक कथा ग्रीक साहित्य से उद्धृत की थी। जापानी नाटकों में हम हेमलेट, मार्लन, एन्ड्रोमेडास, अथवा हारूँ रशीद को जापानी वेश में देख सकते हैं। उनकी बातें भी वे ही हैं, और काम भी वैसे ही। जो भिन्नता है, वह देश और काल के कारण। बात यह है कि देश और काल के व्यवधान से विभक्त हो जाने पर भी मानव जाति एक ही है, और उसकी मूल भाव-

नाएँ सर्वत्र एक ही रूप में विद्यमान रहती हैं। अतएव जिन कथाओं में मनुष्यत्व का सच्चा स्वरूप प्रदर्शित किया जाता है, उनमें परस्पर भिन्नता कैसे हो सकती है? हेमलेट शेक्सपियर के द्वारा डेनूमार्क का राजकुमार बनाए जाने पर भी मनुष्यत्व के कुछ विशेष गुणों से युक्त एक व्यक्ति-मात्र है, जिसका अस्तित्व सभी देशों और सभी कालों में संभव है। एक विशेष स्थिति में रहने से कोई भी मनुष्य हेमलेट हो सकता है।

काबुकी-नाटकों की अपेक्षा नो-नाटक अधिक प्राचीन हैं। कोई तीन सौ साल पहले काबुकी-नाटकों की सृष्टि हुई है। आरंभ से ही ये नाटक बड़े लोकप्रिय हुए, और अपनी लोकप्रियता के कारण ही विद्वानों की दृष्टि में हेय हो गए। विद्वानों ने नो-नाटकों को अपना लिया, और काबुकी-नाटक अशिक्षित जनता के ही उपयुक्त समझे गए। काबुकी-नाटकों का प्रचार बढ़ता ही गया। इधर विद्वानों की घृणा भी उन पर बढ़ती गई। इन नाटकों के अभिनय में पहले स्त्रियाँ भी सम्मिलित होती थीं। परंतु इससे अनाचार फैलने की संभावना देखकर यह आज्ञा प्रचलित की गई कि स्त्रियाँ अभिनय कर ही नहीं सकतीं। तब पुरुष ही स्त्रियों का अभिनय करने लगे। ऐसे नटों से भी काबुकी-नाटकों का प्रचार बढ़ता ही गया। तब उच्च श्रेणी के लोगों ने इन नाटकों को नष्ट करना ही उचित समझा। ये नट बड़े नीच समझे जाने लगे उनकी गणना दुराचारियों में की जाती थी। वे दंडनीय भी थे यह सब होने पर भी जनता इन नटों को आश्रय देती थी, औ ये अपनी कला की उन्नति ही करते थे। जब जापान का संपर्क पाश्चात्य देशों से हुआ, तब जापान के शासक-वर्ग ने देखा कि पाश्चात्य देशों में नाट्य-कला का बड़ा आदर है, और नट ब प्रतिष्ठित समझे जाते हैं। तब नाटकों पर से जापान के शासक

की घृणा कम होने लगी। स्वयं सम्राट् वेजी ने एक अभिनय देखा। उस समय अमेरिका और योरप के कितने ही विद्वान् उपस्थित थे। उन्होंने जापानी नाट्य-कला की बड़ी प्रशंसा की। तब से जापान के विद्वानों ने इन नाटकों की ओर ध्यान दिया है। नटों पर से अभी तक उनकी अश्रद्धा बिलकुल ही नहीं हट गई है। टोकियो का इंपीरियल थिएटर ख़ूब अच्छा बना है। यहाँ जापानी नाटक तो खेले ही जाते हैं, योरप और अमेरिका की भी कंपनियाँ आकर अपने खेल दिखलाती हैं। अभी तक जापान के वर्तमान सम्राट् और राजकुमार कभी किसी नाटक को देखने के लिये नहीं गए। जब जापान के राजकुमार लंदन गए थे, तब उन्होंने अवश्य वहाँ अभिनय देखे। पेरिस में उन्होंने एक अमेरिकन नट का आदर भी ख़ूब किया। परंतु जापान की किसी भी नाट्यशाला अथवा नट का आदर नहीं किया गया। प्रिंस ऑफ़् वेल्स के आगमन पर जापान के सम्राट् और राजकुमार नाटक देखने गए थे। इससे आशा की जा सकती है कि अब यहाँ नाटकों का अधिक आदर होने लगेगा, और नाट्य-कला की उन्नति भी अच्छी होगी।

इँगलैंड में नाटकों का प्राचीनतम रूप हमें वहाँ के मिस्ट्री (Mystery) और मिराकिल (Miracle)-नाटकों में मिलता है। इन नाटकों का विषय धार्मिक है। बाइबिल अथवा किसी महात्मा की दंत-कथाओं के आधार पर इनकी रचना होती थी। भारतवर्ष में इन्हीं के जोड़ के नाटक ताड़ पत्र पर लिखे हुए पाए गए हैं। इन नाटकों के रचयिता महाकवि अश्वघोष माने गए हैं। इनमें बुद्धि, धृति, कीर्ति आदि सद्गुणों को और बुद्ध, मौद्गलायन, कौंडिन्य आदि महात्माओं को रंगभूमि में अवतीर्ण होना पड़ा है। इँगलैंड में ऐसे नाटकों में हास्य रस का भी समा-

वेश किया गया है। इन्हीं के आधार पर आधुनिक नाटकों की रचना हुई है, अथवा यह कहना चाहिए कि इनसे ही आधुनिक नाटकों का विकास हुआ है। सन् १५६० से सन् १५८० तक नाटकों का शैशव काल था। इस समय जो नाटक बने, वे प्रायः एक ही साँचे में ढले रहते थे। सन् १५७६ से नाटक नाट्यशाला में खेले जाने लगे। सन् १५७४ में अर्ल ऑफ़् लिस्टर के नौकरों को इँगलैंड के सभी नगरों में नाटक खेलने का अधिकार मिल गया, और १५७६ में उन्होंने ब्लैक फ्रायर्स-थिएटर (Blackfriars Theatre) की स्थापना की। सन् १५८० से सन् १५९६ तक नाटक और नाट्यशालाओं की उन्नति बराबर होती रही। इस काल के नाटककारों में लिली, पनी, ग्रीन, लॉज, मारलो आदि थे। इँगलैंड के जगद्विख्यात नाटककार शेक्सपियर का भी आविर्भाव हो गया था। शेक्सपियर ने नाटकों को उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचा दिया। शेक्सपियर सिर्फ़ नाटककार ही न था, वह नट भी था। इसलिये नाट्यकला में भी अच्छी उन्नति हुई। सन् १५९९ में ग्लोब-थिएटर स्थापित हुआ। उस समय के थिएटरों और आजकल के थिएटरों में आकाश-पाताल का अंतर हो गया है। आजकल तो रंगभूमि में सभी तरह के दृश्य दिखलाए जा सकते हैं। पर तब कहाँ ऐसे दृस्य और ऐसे परदे थे। दर्शकों को नाटक के अधिकांश दृश्य अपनी कल्पना से ही देखने पड़ते थे। शेक्सपियर के बाद नाटकों की अवनति होने लगी। प्रथम चार्ल्स के समय में, इँगलैंड में, राजविप्लव हुआ। तब नाटक और नाट्यकला को बड़ा आघात पहुँचा। थिएटर तो सभी बंद हो गए। उस समय लोग ऐसे आमोद-प्रमोदों को चरित्र-दूषक समझते थे। इसके बाद चार्ल्स द्वितीय का ज़माना आया। नाटकों में तत्कालीन समाज के अनाचार ने प्रवेश किया।

इसी समय पहले-पहल रंगमंच पर नटियाँ आईं। इस समय इँगलैंड के नाट्य साहित्य पर फ्रांस के नाटककारों का ख़ूब प्रभाव पड़ा। कार्नील, रेशीन और मोलियर के नाटकों के अनुवाद, छायानुवाद, भावानुवाद आदि ख़ूब निकले। ड्राइडन नाम के कवि ने अँगरेज़ी-नाटकों में मौलिकता अवश्य पैदा की। इसके बाद जितने नाटककार हुए, उनमें गोल्डस्मिथ और शेरीडन ने ख्याति प्राप्ति की। इनके बाद अँगरेज़ी के आधुनिक नाट्य-साहित्य का आरंभ होता है।

उन्नीसवीं सदी के आरंभ में, नेपोलियन का पतन होने पर, इँगलैंड की प्रभुता अच्छी तरह स्थापित हो गई। इसके बाद उसने अपने व्यवसाय और वाणिज्य में बड़ी तरक़्क़ी की। व्यापार का केंद्र-स्थल हैं नगर। इसलिये नगरों की जन-संख्या ख़ूब बढ़ने लगी। नगरों में जन-संख्या की वृद्धि के साथ ही-साथ नाट्यशालाओं की भी वृद्धि होने लगी। अभी तक नाटक-घर सिर्फ़ मनोरंजन के स्थान थे। वहाँ प्रायः ऐसे ही धनिक जाया करते थे, जो निठल्ले बैठे समय बिताया करते थे; परंतु अब नगर में रहनेवाले साधारण स्थिति के लोग और मज़दूर भी नाटक-घर जाने लगे। दिन-भर काम करने के बाद आधी घड़ी यदि मनुष्य अपना मन न बहलावे, तो उसका शरीर कैसे टिक सकता है? मन बहलाने का सबसे अच्छा स्थान नगरों में नाटक-घर ही है। इसीलिये, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में, नाटक और नाट्य-कला की ख़ूब उन्नति हुई।

आधुनिक नाट्य-साहित्य के पहले मौलिक नाटककार टी० डब्लू० रॉबर्टसन (१८२९-१८७१) थे। उनके नाटक प्रिंस ऑफ़ वेल्स-थिएटर में खेले जाते थे। अँगरेज़ी में नाटकों के दो भेद हैं, कॉमेडी और ट्रेजिडी। रॉबर्टसन ने कॉमेडी-नाटकों के पुनरुत्थान की चेष्टा की। प्रिंस ऑफ़ वेल्स-थिएटर के अध्यक्ष थे बेनक्राफ़्ट साहब।

उन्होंने नाट्यशाला में स्वाभाविकता लाने का प्रयत्न किया। वेनक्राफ़्ट साहब का जन्म सन् १८४१ में हुआ था। सन् १८६५ में उन्होंने प्रिंस ऑफ़् वेल्स-थिएटर की स्थापना की। उन्होंने नाट्य-कला में परिवर्तन कर दिया। १८६७ में उन्हें 'सर' की उपाधि मिली।

इसी समय लीसियम (Lyceum) थिएटर में इँगलैंड का प्रसिद्ध नट हेनरी इरविंग रंगमंच पर आया। वह सन् १८७८ से १८९९ तक लीसियम का प्रबंध करता रहा। उसकी बड़ी कीर्ति हुई। हैमलेट का पार्ट उसने बहुत ख़ूबी से खेला। शेक्सपियर के प्रसिद्ध मर्चेंट ऑफ़् वेनिस-नाटक में वह शाइलाक का पार्ट लेता था। इसमें भी वह कमाल करता था। उसने नटों की अच्छी स्थिति कर दी। उसके पहले लोग नटों का सम्मान नहीं करते थे। उनका पेशा भी नीच समझा जाता था। पर इरविंग की सब लोगों ने इज़्ज़त की। सन् १८९५ में वह नाइट बनाया गया। नटों में उसको सबसे पहले यह उपाधि मिली।

इस समय इँगलैंड में अच्छे-अच्छे कवि हुए। उन्होंने नाटक भी लिखे। परंतु उनके नाटकों को रंगभूमि पर अच्छी सफलता नहीं हुई। मैकरेडी ने प्रसिद्ध कवि ब्राउनिंग के स्टेफ़ोर्ड-नामक नाटक के लिये बड़ी तैयारी की। पर वह पाँच रात से अधिक नहीं चला। टेनिसन के दी कप ऐंड ब्रैकट-नामक नाटकों को इरविंग ने खेला। पर उसे भी कुछ सफलता नहीं हुई। इसीलिये फ़्रेंच नाटकों के ही आधार पर अँगरेज़ी में नाटक खेले जाते थे। सन् १८८१ में ए० डब्ल्यू० फ़िनरो साहब का नाटक खेला गया। उसका कुछ आदर हुआ। फिर तो उनके कई नाटक खेले गए, और सभी में उसे सफलता प्राप्त हुई। नाट्य-साहित्य में उसका अच्छा स्थान हो गया।

अब हम एक बार तत्कालीन नाट्यशालाओं पर भी दृष्टि डालेंगे। यह तो हम कह आए हैं कि बेनक्राफ़्ट ने नाट्यशाला की अच्छी उन्नति की थी। उसने दर्शकों के लिये नाटक-घर को सभी तरह से मनोमोहक कर दिया था। हाफ़ गिनी स्टाल खोल देने से बड़े-बड़े लोग भी थिएटर में आने लगे। गत पचीस वर्षों से नाट्यशाला सभ्यता का एक प्रधान थंग हो गई है। जो लोग नाट्यशाला को अपनी जीविका का द्वार समझते हैं, वे तो अभिनय करते ही हैं, किंतु जो श्रीमान् हैं, प्रतिष्ठित हैं, कुलीन हैं, वे भी अपने मनोविनोद के लिये अभिनय किया करते हैं। कई अर्ल, काउंटेस, मार्कीस आदि संभ्रांत स्त्री-पुरुषों ने अभिनय-कला में अच्छी पारदर्शिता दिखलाई है। इँगलैंड के राजपरिवार में भी दो-एक ऐसे हैं, जो अभिनय-कला में निपुण हैं। प्रिंसेस लुई, डचेज़ ऑफ़् आरगाइल में उच्च कोटि की अभिनय-योग्यता है। अर्ल ऑफ़् यारमाउथ ने तो अमेरिका में जाकर अभिनय किया था। काउंटेस ऑफ़् वेस्ट मूरलैंड भी अच्छी अभिनेत्री हैं।

नाटकों में ऐसे-ऐसे लोगों के योग देने से वहाँ अब कुछ दूसरी ही छटा आ गई है। वहाँ भव्य भवन, विशाल रंगभूमि, आह्लादकारक संगीत, आश्चर्य-जनक दृश्य और चित्ताकर्षक अभिनय देख लीजिए। सच तो यह है कि योरप की विलासिता उसके नाटक-घरों में ही अच्छी तरह ज्ञात हो जाती है। दर्शकों के आराम के लिये सभी तरह की सुविधाएँ रहती हैं।

इधर नाट्य-कला का रूप पलटा, उधर नाटकों के आदर्श भी बदले। नाट्य-साहित्य में हलचल पैदा कर देनेवाले हेनरिक इब्सन का जन्म सन् १८२८ में हुआ था। उसने रंगभूमि पर मनुष्यों के अंधकारमय जीवन का दृश्य दिखलाया। जर्मनी और फ़्रांस में उसके नाटक पहले ही खेले जा चुके थे। पर इँगलैंड

में, सन् १८८६ में, उसका नाटक पहले-पहल खेला गया। तब उसके नाटकों की बड़ी तीव्र आलोचनाएँ हुईं। परंतु उसका सिक्का जम ही गया। इँगलैंड के वर्तमान नाटककार बर्नार्ड शा इब्सन के ही अनुयायी हैं।

शा की माता ने एक आइरिश नाट्यशाला में कुछ समय तक काम किया था। इसलिये शा को बाल्यकाल में ही संगीत और नाट्य-कला से प्रेम हो गया। २० वर्ष की अवस्था में वह लंदन आए थे। उस समय इँगलैंड के सामाजिक जीवन पर रस्किन और विलियम मारिस का खूब प्रभाव था। सभी कला-कोविद समाज-सुधारक हो गए थे। सर्वत्र 'सौंदर्य' और 'सरल जीवन' की चर्चा हो रही थी। शा ने भी समाज-सुधार को अपने जीवन का प्रधान उद्देश समझा। सबसे पहले उन्होंने व्याख्यान देने का अभ्यास किया। इससे उनको यह लाभ हुआ कि उनके गद्य की शैली निश्चित हो गई। सन् १८८५ में शा ने सामयिक पत्रों में लेख देना आरंभ किया। 'वर्ल्ड', 'स्टार' और 'सैटरडे-रिव्यू' में वह संगीत-कला और नाटकों की समालोचना किया करते थे। उनका कथन है—"नाट्यशाला का वही महत्त्व है, जो मध्य-युग में चर्च का था। वह विचारों को उत्पन्न करती, विवेक को स्फूर्ति देती, आचरण को विशद करती, निराशा और उत्साह-हीनता को दूर करती और मनुष्यों को उन्नति का पथ बतलाती है।" सन् १८७८ में उन्होंने नाटक लिखना आरंभ किया। उसी साल उनका 'Plays pleasant and unpleasant'-नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ। उससे लोगों में बड़ी उत्तेजना फैली। उनका एक नाटक ' 'Mrs. Warren's Profession' रंगस्थल पर अयोग्य ठहराया गया। शा को सभी दुर्गुणों से घृणा थी; परंतु वह यह चाहते थे कि समाज

अब हम एक बार तत्कालीन नाट्यशालाओं पर भी दृष्टि डालेंगे। यह तो हम कह आए हैं कि बेनक्राफ्ट ने नाट्यशाला की अच्छी उन्नति की थी। उसने दर्शकों के लिये नाटक घर को सभी तरह से मनोमोहक कर दिया था। हाफ़ गिनी स्टाल खोल देने से बड़े बड़े लोग भी थिएटर में आने लगे। गत पचीस वर्षों से नाट्यशाला सभ्यता का एक प्रधान अंग हो गई है। जो लोग नाट्यशाला को अपनी जीविका का द्वार समझते हैं, वे तो अभिनय करते ही हैं, किंतु जो श्रीमान् हैं, प्रतिष्ठित हैं, कुलीन हैं, वे भी अपने मनोविनोद के लिये अभिनय किया करते हैं। कई अर्ल, काउंटेस, मार्कीस आदि सभ्रांत स्त्री पुरुषों ने अभिनय कला में अच्छी पारदर्शिता दिखलाई है। इँगलैंड के राजपरिवार में भी दो एक ऐसे हैं, जो अभिनय कला में निपुण हैं। प्रिंसेस लुईं, डचेज़ ऑफ़् आरगाइल में उच्च कोटि की अभिनय योग्यता है। अर्ल ऑफ़् यारमाउथ ने तो अमेरिका में जाकर अभिनय किया था। काउंटेस ऑफ़् वेस्टमूरलैंड भी अच्छी अभिनेत्री है।

नाटकों में ऐसे ऐसे लोगों के योग देने से वहाँ अब कुछ दूसरी ही छटा आ गई है। वहाँ भव्य भवन, विशाल रंगभूमि, आह्लादकारक संगीत, आश्चर्यजनक दृश्य और चित्ताकर्षक अभिनय देख लीजिए। सच तो यह है कि योरप की विलासिता उसके नाटक घरों में ही अच्छी तरह ज्ञात हो जाती है। दर्शकों के आराम के लिये सभी तरह की सुविधाएँ रहती हैं।

इधर नाट्य कला का रूप पलटा, उधर नाटकों के आदर्श भी बदले। नाट्य-साहित्य में हलचल पैदा कर देनेवाले हेनरिक इब्सन का जन्म सन् १८२८ में हुआ था। उसने रंगभूमि पर मनुष्यों के अंधकारमय जीवन का दृश्य दिखलाया। जर्मनी और फ्रांस में उसके नाटक पहले ही खेले जा चुके थे। पर इँगलैंड

में, सन् १८८६ में, उसका नाटक पहले-पहल खेला गया। तब उसके नाटकों की बड़ी तीव्र आलोचनाएँ हुईं। परंतु उसका सिक्का जम ही गया। इँगलैंड के वर्तमान नाटककार बर्नार्ड शा इब्सन के ही अनुयायी हैं।

शा की माता ने एक आइरिश नाट्यशाला में कुछ समय तक काम किया था। इसलिये शा को बाल्यकाल में ही संगीत और नाट्य-कला से प्रेम हो गया। २० वर्ष की अवस्था में वह लंदन आए थे। उस समय इँगलैंड के सामाजिक जीवन पर रस्किन और विलियम मारिस का खूब प्रभाव था। सभी कला-कोविद समाज-सुधारक हो गए थे। सर्वत्र 'सौंदर्य' और 'सरल जीवन' की चर्चा हो रही थी। शा ने भी समाज-सुधार को अपने जीवन का प्रधान उद्देश समझा। सबसे पहले उन्होंने व्याख्यान देने का अभ्यास किया। इससे उनको यह लाभ हुआ कि उनके गद्य की शैली निश्चित हो गई। सन् १८८५ में शा ने सामयिक पत्रों में लेख देना आरंभ किया। 'वर्ल्ड', 'स्टार' और 'सैटरडे-रिव्यू' में वह संगीत-कला और नाटकों की समालोचना किया करते थे। उनका कथन है—"नाट्यशाला का वही महत्त्व है, जो मध्य-युग में चर्च का था। वह विचारों को उत्पन्न करती, विवेक को स्फूर्ति देती, आचरण को विशद करती, निराशा और उत्साह-हीनता को दूर करती और मनुष्यों को उन्नति का पथ बतलाती है।" सन् १८७८ में उन्होंने नाटक लिखना आरंभ किया। उसी साल उनका 'Plays pleasant and unpleasant'-नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ। उससे लोगों में बड़ी उत्तेजना फैली। उनका एक नाटक ' 'Mrs. Warren's Profession' रंगस्थल पर अयोग्य ठहराया गया। शा को सभी दुर्गुणों से घृणा थी; परंतु वह यह चाहते थे कि समाज

अपने दुर्गुण देख ले , तभी वह अपना सुधार कर सकता है। परंतु समाज अपने दुर्गुणों का प्रदर्शन नहीं चाहता था। वह चाहता था सिर्फ़ मनोविनोद । इसलिये शा ने अपने नाटकों में मनोरंजन की काफ़ी सामग्री रक्खी। 'Man and superman' में उन्होंने लिखा है—"मुझे अपने नाटक को चित्ताकर्षक बनाना होगा, पर सिर्फ़ मनोरंजन के लिये मैं एक भी वाक्य लिखने का श्रम नहीं उठाऊँगा।" आजकल तो बर्नार्ड शा की बड़ी ख्याति है।

आस्कर वाइल्ड को भी पहले-पहल अपने सभी नाटकों के लिये बड़ा दुख भोगना पड़ा । उनके सभी नाटकों की निंदा हुई। परंतु रंगभूमि पर सभी नाटक सफलता-पूर्वक खेले गए । उस समय लोगों को प्रशंसा करनी ही पड़ी। पर बाद को लोगों ने उन पर कठोर आक्षेप किए। सन् १८६२ में, पैलेस-थिएटर में, उनके एक नाटक (Salane) की रिहर्सल हो रही थी। तब सेंसर (Censor)ने उसे बंद करा दिया। जब वह सन् १८६३ में प्रकाशित हुआ, तब उसकी बड़ी कड़ी आलोचना हुई। सन् १८६६ में जब वाइल्ड क़ैद में थे, उनका सालोमे नामक नाटक बड़ी सफलता के साथ पेरिस में खेला गया। सन् १६०१ में, बर्लिन में, उसका अभिनय हुआ। तब से योरप की रंगभूमि में उनके नाटक बराबर खेले जा रहे हैं। अब तो अमेरिका और एशिया में भी उनका प्रचार हो रहा है। इँगलैंड में, सन् १६०५ में, न्यू स्टेज क्लब ने उनके इसी नाटक को खेला। तब दर्शकों ने उसे ध्यान से देखा।

योरप के नाट्य साहित्य पर बेल्जियम के विख्यात कवि मारिस मैटरलिंक के नाटकों का भी ख़ूब प्रभाव पड़ रहा है। इनका कुछ निराला ही रंग है। इन्होंने मनुष्यों की आध्यात्मिकता पर

अधिक ज़ोर दिया है। इनका जन्म सन् १८६२ में हुआ था। सन् १८९० से इनकी कीर्ति फैलने लगी। सन् १८९१ में इनका एक एकांकी नाटक खेला गया। सन् १८९३ में इनका पेलीयास और मेलीसौंडा नाम का नाटक अभिनीत हुआ।

आधुनिक नाटककारों में डब्ल्यू० बी० येट्स का भी अच्छा नाम है। सन् १८९२ में इनके The countess of Kathleen का अभिनय हुआ, और १८९४ में The Land of the Heart's Desire का। भारतवर्ष के कवि-सम्राट् रवींद्रनाथ ठाकुर के भी नाटकों का अभिनय इँगलैंड में होने लगा है। गत ४ मई, सन् १९२० को, प्रिंस ऑफ़् वेल्स-थिएटर में उनके चित्र और (Sacrifice) सक्रीफ़ाइस-नामक नाटकों का अभिनय हुआ था। नाटक दृश्य काव्य है, अतएव उत्तम वही कहा जा सकता है, जो रंगभूमि पर अच्छी तरह खेला जा सके। परंतु अब आधुनिक साहित्य में नाटकों के दो भेद कर दिए गए हैं। कुछ नाटक तो खेले जाने ही के लिये लिखे जाते हैं, परंतु कुछ ऐसे भी नाटक होते हैं, जो श्रव्य काव्य कहे जाते हैं। अँगरेज़ी में उन्हें Poetic Drama कहते हैं। परंतु उनमें वह विशेषता नहीं रहती, जिससे नाटक रंगमंच पर सफलता-पूर्वक खेला जा सकता है। टेनिसन के नाटक इसी कोटि के हैं। भवभूति के नाटकों में भी कवित्व की छटा अधिक है। उन्हें पढ़ने से जो आनंद आता है, वह देखने से नहीं। यहाँ हम काव्य की दृष्टि से भी नाटकों पर कुछ विचार करना चाहते हैं।

नाटक का प्रधान अंग है चरित्र-चित्रण और व्यक्तित्व-प्रदर्शन। नाटकों में कवि का मुख्य उद्देश यह रहता है कि वह मानव-जीवन के रहस्य का उद्घाटन कर उसे शब्दों द्वारा स्पष्ट कर दे। परंतु यह विशेषता सिर्फ़ नाटकों में ही नहीं पाई जाती।

महाकाव्य, नाटक और उपन्यास, तीनो में ही मानव-चरित्र का

चित्रण रहता है। पर इनमें परस्पर बड़ा भेद है। महाकाव्य में एक अथवा एक से अधिक मनुष्यों के चरित्र वर्णित होते हैं। परंतु उनमें चरित्र-चित्रण गौण रहता है। वर्णन ही कवि का मुख्य लक्ष्य होता है। अज-विलाप में इंदुमती की मृत्यु उपलक्ष्य-मात्र है। यह विलाप जैसे अज के लिये है, वैसे ही अन्य किसी भी प्रेमिक के लिये उपयुक्त हो सकता है। प्रिय जन के वियोग से जो व्यथा होती है, उसी का वर्णन करना कवि का उद्देश था। इंदुमती की मृत्यु के उपलक्ष्य में कवि ने उसी का वर्णन कर दिया। उपन्यास में मनोहर कथा की रचना पर कवि का ध्यान अधिक रहता है। कहानी की मनोहरता उसकी विचित्रता पर निर्भर रहती है। नाटक में महाकाव्य और उपन्यास, दोनो की विशेषताएँ रहती हैं। उसमें कवित्व भी होना चाहिए, और मनोहरता भी। इसके लिये कुछ नियम बनाए गए हैं। सबसे पहला नियम यह है कि उसमें आख्यान-वस्तु की एकता हो। नाटक का वर्णनीय विषय एक होना चाहिए। उसी को परिस्फुट करने के लिये उसमें अन्य घटनाओं का समावेश किया जाना चाहिए। यदि नाटक का मुख्य विषय प्रेम है, तो प्रेम के परिणाम में ही उसका अंत होना चाहिए। दूसरा नियम यह है कि उसकी प्रत्येक घटना सार्थक रहे। वे घटनाएँ नाटक की मुख्य घटना के चाहे प्रतिकूल हों, चाहे अनुकूल, परंतु उससे उनका संबंध अवश्य रहना चाहिए।

नाटकों में अलौकिक घनाटओं का भी वर्णन रहता है। जो लोग नाटकों में स्वाभाविकता देखना चाहते हैं, उन्हें कदाचित् अलौकिक :घटनाओं का समावेश रुचिकर न होगा। आधुनिक नाटककार इब्सन ने अपने नाटकों में अलौकिक घटनाओं को स्थान नहीं दिया। पर प्राचीन हिंदू-नाटकों में अलौकिक घटनाएँ

वर्णित हैं। उदाहरण के लिये कालिदास के अभिज्ञान-शाकुंतलम् को ही ले लीजिए। उसमें दुर्वासा के शाप से दुष्यंत का स्मृति-भ्रम, शकुंतला का अंतर्धान होना, दुष्यंत का स्वर्गारोहण, ये सभी घटनाएँ अलौकिक हैं। शेक्सपियर के नाटकों में भी प्रेतात्मा का दर्शन कराया जाता है। हिंदू-मात्र का यह विश्वास है कि मानव-जीवन में एक अदृष्ट शक्ति काम कर रही है। उसी शक्ति का महत्त्व बतलाने के लिये अलौकिक घटनाओं का समावेश किया जाता है। शेक्सपियर भी इस अदृष्ट शक्ति को मानता था। उसने भी कहा है—"There is a tide in the affairs of men", अर्थात् मनुष्यों के जीवन में कभी एक ऐसी लहर उठती है, जो उन्हें सफलता के सिरे पर पहुँचाती है, और फिर निष्फलता के ख़ंदक में गिरा देती है। दूसरी बात यह है कि नाटकों में तत्कालीन समाज का चित्र अंकित रहता है। लोगों का जो प्रचलित विश्वास है, उसका समावेश नाटकों में करना अनुचित नहीं। शेक्सपियर के समय में लोग प्रेतों के अस्तित्व पर विश्वास करते थे। उसी प्रकार कालिदास के समय में मुनियों के शाप पर लोगों का विश्वास था। अतएव जो नाटकों में यथार्थ चित्रण के पक्षपाती हैं, उनकी दृष्टि में भी ऐसी घटनाओं का समावेश अस्वाभाविक नहीं हो सकता।

नाटक की एक विशेषता और है। उसमें घटनाओं का घात-प्रतिघात सदैव होता रहता है। नाटकीय मुख्य चरित्र की गति सदैव वक्र रहती है। जीवन-स्रोत एक ओर बहता है। धक्का खाते ही उसकी गति दूसरी ओर पलट जाती है। फिर धक्का लगने पर वह तीसरी ओर बहने लगता है। नाटक में मानव-जीवन का एक रूप दिखलाना पड़ता है।

उच्च श्रेणी के नाटकों में अंतर्द्वंद्व दिखलाया जाता है।

मनुष्यों के अंतःकरण में सदा दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के बीच युद्ध छिड़ा रहता है। यह बात नहीं कि सदा धर्म और अधर्म अथवा पाप और पुण्य में ही युद्ध होता हो, कभी-कभी सत्प्रवृत्तियाँ भी एक दूसरे का विरोध करने लगती हैं। भवभूति के उत्तर-रामचरित में, रामचंद्र के हृदय में, दो सत्प्रवृत्तियों का ही अंतर्द्वंद्व प्रदर्शित किया गया है। एक ओर राजा का कर्तव्य है, और दूसरी ओर पति का कर्तव्य। आधुनिक नाट्य-साहित्य में इब्सन के एक नाटक—An Enemy of the people—में एक मनुष्य संसार की कल्याण-कामना से संसार के ही विरुद्ध लड़ा है। पाश्चात्य नाटकों के दो विभाग किए गए हैं। ट्रेजिडी और कॉमेडी। ट्रेजिडी दुःखांत नाटक को कहते हैं, और कॉमेडी सुखांत को। प्राचीन हिंदू-साहित्य में दुःखांत नाटक एक भी नहीं है। हिंदू-नाट्य-शास्त्र के आचार्यों की आज्ञा थी कि नाटकों का अंत दुःख में न होना चाहिए। यदि नायक पुण्यात्मा है, तो पुण्य का परिणाम दुःख नहीं हो सकता। पुण्य की जय और पाप की पराजय ही दिखलानी चाहिए। अधर्म की जय दिखलाने से डर रहता है कि लोगों पर कहीं उसका बुरा प्रभाव न पड़े, वे अधार्मिक न हो जायँ। हम इस नियम को अच्छा नहीं समझते ; क्योंकि जीवन में प्रायः अधर्म की ही जय देखी जाती है। यदि यह बात न होती, तो संसार में इतनी क्षुद्रता और स्वार्थ न रहता। यदि धर्म की अंतिम जय देखने से लोग धार्मिक हो जायँ, तो धार्मिक होना कोई प्रशंसा की बात नहीं। हम तो यह देखते हैं कि संसार में जो धर्म का अनुसरण करते हैं, सत्पथ से विचलित नहीं होते, वे मृत्यु का आलिंगन करते हैं, और असत्पथ पर विचरण करनेवाले सुख से रहते हैं। बात यह है कि धर्म का पथ श्रेयस्कर होता है, सुखकर नहीं। जो पार्थिव सुख और समृद्धि के

इच्छुक हैं, उनके लिये धर्म का पथ अनुसरण करने योग्य नहीं; क्योंकि यह पथ सुख की ओर नहीं, कल्याण की ओर जाता है। नाटकों में धर्म की पराजय बतलाने से उसकी हीनता नहीं सूचित हो सकती। धर्म धर्म ही रहता है। दुःख और दारिद्र्य की छाया में रहकर भी पुरुष गौरवान्वित होता है। पृथ्वी में पराजित होने पर भी वह अजेय रहता है। कुछ भी हो, भारत-वर्ष के आधुनिक साहित्य में दुःखांत नाटकों की रचना होने लगी है। इसमें संदेह नहीं कि कामेडी की अपेक्षा ट्रेजेडी का प्रभाव अधिक स्थायी होता है। इसलिये नाट्यशालाओं में इनका अभि-नय अधिक सफलता-पूर्वक हो सकता है। परंतु आजकल दुःखांत नाटकों का प्रचार कम हो गया है। कुछ समय पहले इँगलैंड में म्यूज़िकल कॉमेडी का, जिसमें हँसी-दिल्लगी और नाच-गान की प्रधानता रहती है, ख़ूब दौरदौरा रहा। अब भी उसका अच्छा स्थान ही है।

हिंदू-साहित्य-शास्त्रकारों ने यह नियम बना दिया है कि नाटक के नायक को सब गुणों से युक्त और निर्दोष अंकित करना चाहिए। कुछ विद्वानों की राय है कि यह नियम बड़ा कठोर है। इससे नाटककार का कार्य-क्षेत्र बड़ा संकुचित हो जाता है। किंतु हिंदू-साहित्य-शास्त्र में नाटक के नायकों को दोष-शून्य अंकित करने का जो विधान है, उसका एक-मात्र उद्देश यही है कि नाटकों का विषय महत् हो। यही कारण है कि प्राचीन संस्कृत-नाटकों में राजा अथवा राजपुत्र ही नाटक के नायक बनाए गए हैं। नायकों के चार भेद किए गए हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीर-ललित और धीर-प्रशांत। इन नायकों में भिन्न-भिन्न गुणों का प्रदर्शन कराया जाता है। आधुनिक नाट्य-साहित्य में इस नियम की उपेक्षा की गई है। अब तो मज़दूर, क़ैदी और पागल तक नायक के पद

र अधिष्ठित हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि अब नाटकों
में व्यक्तित्व-प्रदर्शन पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

आधुनिक नाट्य-साहित्य की एक विशेषता उसका आदर्श भी
है। वर्तमान साहित्य के आदर्श से उन सामाजिक और राजनीतिक
समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया जा रहा है, जिनके
कारण सर्वत्र अशांति फैली हुई है। कुछ विद्वानों का कथन है कि
आधुनिक पाश्चात्य साहित्य में रोमेंटिक युग का अंत हो गया,
और अब रियलिस्टिक साहित्य का आरंभ हुआ है। योरप के
आधुनिक साहित्य में तीन आदर्श स्वीकृत हुए हैं—रियलिस्ट,
आइडियलिस्ट और रोमेंटिसिस्ट। पहले हम इनका मतलब बतला
देना चाहते हैं। संसार में जो घटनाएँ प्रतिदिन होती हैं, उनका
यथार्थ चित्रण करना रियलिस्ट कला-कोविदों का काम है। ऐसे
लेखकों की रचना पढ़ते समय यही जान पड़ता है, मानो हमने
यह दृश्य स्वयं कहीं देखा है। यही नहीं, किंतु उसके पात्रों के
चरित्र में हम अपने परिचित व्यक्तियों के जीवन का सादृश्य देख
पाते है। ऐसे लेखकों में ज़ोला-नामक एक फ्रेंच लेखक का स्थान
सर्वोच माना गया है। आइडियलिस्ट लेखक एक आदर्श चरित्र
के उद्भावन की चेष्टा करते हैं। संसार की घटनाओं में वे भाव
का ऐसा समावेश करते हैं कि उससे एक अपूर्व चित्र खिल उठता
है। वह चित्र पाठकों की कल्पना पर प्रभाव डालता है। वे
अपने अनुभव द्वारा कवि के आदर्श की उच्चता स्वीकार कर लेते
हैं। ऐसे लेखक सत्य का बहिष्कार नहीं करते। वे संसार की
दैनिक घटनाओं से ही अपनी कथा के लिये सामग्री का संग्रह
करते हैं। परंतु उनकी कृति में घटनाओं का ऐसा विन्यास किया
जाता है कि पाठक उसे प्रत्यक्ष देखने की इच्छा करें। पाठकों के मन
में यही बात उदित होती है कि हमने ऐसा देखा नहीं है, परंतु

देखना अवश्य चाहते हैं। विक्टर ह्यूगो इसी श्रेणी के लेखक हैं। रोमेंटिक साहित्य कल्पना की सृष्टि है। वह प्रकृति से अतीत है। वैलजक की रचना में कल्पना की ऐसी ही लीला दृष्टिगोचर होती है। आधुनिक नाट्य-साहित्य में समाज के यथार्थ चित्रण का खूब ख़याल रक्खा जाता है। ऐसे नाटकों का आरंभ इब्सन ने किया है। उनमें सामाजिक जीवन का यथेष्ट परिपाक हुआ है। तो भी उनमें समाज के भविष्य-विकास का आभास पाया जाता है। अतः जो लोग यह कहते हैं कि आधुनिक साहित्य में रियलिज़्म की प्रधानता है, उनकी बात स्वीकार नहीं की जा सकती। बात यह है कि जिस प्रकार वर्तमान युग में राष्ट्रीय जीवन भूत, भविष्य और वर्तमान को एकत्र कर अग्रसर हो रहा है, जिस प्रकार वह अतीत को वर्तमान में संजीवित करके उसको भविष्य की ओर ठेल रहा है, उसी प्रकार साहित्य में भी सभी आदर्शों को एकत्र करने की चेष्टा की जा रही है। आधुनिक साहित्य का मुख्य उद्देश्य यही जान पड़ता है कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य की रक्षा करके समाज के साथ उसका संबंध स्थापित कर दें। वर्तमान काल की सभ्यता के अंधकारमय भाग पर परदा डालने की चेष्टा अवश्य नहीं की जाती; पर उसी के साथ यह बात भी प्रकट कर दी जाती है कि वह ज्योतिर्मय किस प्रकार हो सकता है।

आजकल मनुष्यों के मानसिक भावों में एक बड़ा परिवर्तन हो गया है। पहले की तरह देश-काल में आबद्ध होकर वे संकीर्ण विचारों के नहीं हो गए हैं। उनमें यथेष्ट स्वतंत्रता आ गई है। पहले मनुष्यों की जैसी प्रवृत्ति थी, उनमें प्रेम, घृणा आदि भावों का जैसा संघर्षण होता था, वही लीला हम शेक्सपियर आदि नाटककारों की रचनाओं में देखते हैं। परंतु अब यह बात नहीं है। आजकल युवावस्था की उद्दाम वासना और प्रेम व्यक्त करने

के लिये हमें 'रोमियो-जूलियट' अथवा एंटोनी-क्लियापेट्रा' की सृष्टि नहीं करनी होगी। उनसे हमारा काम भी नहीं चलेगा। आजकल मनुष्य की भोग-लालसा के साथ ही एक सौंदर्य वृत्ति है, जिसमें समाज-बोध और अध्यात्म-बोध का मिश्रण हो गया है। उनके हृदय का आवेग रोमियो अथवा ओथेलो के समान सरल नहीं है; वह बड़ा जटिल हो गया है। क्राइम एँड पनिशमेंट-नामक उपन्यास में एक ख़ूनी का चरित्र अंकित किया गया है। अंत तक यह नहीं जान पड़ता कि वह ख़ूनी दानव है कि देवता। उसमें विपरीत भावों की अभिव्यक्ति इस तरह हुई है कि यदि उसे हम हत्याकारी मानें, तो भी उसमें हमें दिव्य भावों की प्रधानता मालूम पड़ेगी। जॉर्ज मेरेडिथ के 'दी इगोइस्ट'-नामक उपन्यास का नायक सचमुच कैसा था, यह न तो वह जान सका, और न उसके साथी ही। उपन्यास-भर में उसके चरित्र की इसी जटिलता का विश्लेषण किया गया है। रवींद्र बाबू के 'घरे-बाहिरे'-नामक उपन्यास में संदीप जैसा इंद्रिय-परायण है, वैसा ही स्वदेश-वत्सल और वीर भी। इब्सन, मेटर-लिंक अथवा रवींद्रनाथ की कुछ प्रधान नायिकाओं के चरित्र ऐसे अंकित हुए हैं कि जब हम अपने संस्कारों के अनुसार उन पर दृष्टिपात करते हैं, तो उनके चरित्र में हीनता देखते हैं; परंतु सत्य की ओर लक्ष्य रखने से यही कहना पड़ता है कि हम उन पर अपनी कोई सम्मति नहीं दे सकते।

वर्तमान युग को विद्वान् लोग 'डिमाक्रेटिक' लोक तंत्र का युग कहते हैं। सर्वत्र सभी विषयों की नाना प्रकार से परीक्षा हो रही है। आजकल जैसे सामाजिक और राष्ट्रीय तत्त्व साहित्य में स्थान पा रहे हैं, वैसे ही वैज्ञानिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक तत्त्व भी साहित्य के अंगीभूत हो रहे हैं। अब रस और तत्त्व का

सम्मिलन हो गया है। गेटी और शिलर ने अपने समय में तत्वों को कला के रस-रूप में परिणत किया था। अन्य युगों की अपेक्षा वर्तमान युग में साहित्य का अधिकार-क्षेत्र बढ़ गया है। आधुनिक साहित्य में आध्यात्मिक काव्य, नाटक और उपन्यासों की रचना से यही बात प्रकट होती है।

आजकल इँगलैंड के नाट्य-साहित्य की जैसी गति है, उसे भली भाँति समझने के लिये हमें महायुद्ध के कुछ समय के पहले के साहित्य पर ध्यान देना चाहिए। युद्ध आरंभ होने के ठीक पहले, चार-पाँच वर्ष तक, इँगलैंड का साहित्य और कला-कौशल स्थगित हो गया था। सन् १९१४ में अँगरेज़ी नाट्यकारों में ऐसे भी साहित्य-सेवी थे, जिन्होंने साहित्य के सभी भागों को आयत्त कर लिया था। उनमें सबसे अधिक ख्याति बर्नार्ड शा (Bernard Shaw) की थी। इसका मतलब यह नहीं कि बर्नार्ड की व्यंग्योक्ति में हम तत्कालीन अँगरेज़ों की रुचि देख सकते हैं, तो भी हम इतना अवश्य कहेंगे कि युद्ध के पहले यदि कभी कोई भी छ नाटककारों का उल्लेख किया जाता, तो उनमें बर्नार्ड शा का नाम अवश्य लिया जाता।

इसमें संदेह नहीं कि सर जेम्स बेरी, सर आर्थर पेनेरो, हेनरी आर्थर जोंस, अल्फ्रेड सट्रो और जेरोम आदि का भी अच्छा नाम था। पर यह भी सच है कि बर्नार्ड शा ने भावात्मक नाटकों की सृष्टि करके इन लोगों की कीर्ति-कौमुदी को निष्प्रभ कर दिया। यह सब स्वीकार करते हैं कि शा में 'पीटर पैन' के लेखक से अधिक निपुणता नहीं है। पर बात तो यह है कि नैपुण्य-प्रदर्शन न करने से ही बर्नार्ड शा इतने लोक-प्रिय हो गए। शा यथार्थ-चित्रण (Realism) के पक्षपाती हैं। उनमें 'रोमांस' अर्थात् भावावेश की प्रधानता नहीं।

बर्नार्ड शा के आते ही इँगलैंड की रंगभूमि पर मनोविज्ञान की छाया पड़ने लगी। समालोचक तो ऐसे नाटक चाहते हैं, जिनमें कठिन समस्याएँ हों, जिनका अंतर्गत भाव देखने के लिये उन्हें छिन्न भिन्न करना पड़े। शा ने उन्हें वैसे ही नाटक दिए, और उन समालोचकों ने उनकी कीर्ति खूब फैलाई। बर्नार्ड शा का नाम पहलेपहल उनके श्रव्य काव्यों से हुआ। पीछे उन्होंने दृश्य काव्यों की रचना में मन लगाया। युद्ध के पहले कुछ नाटककार यह समझने लगे थे कि अब नाटकों को अधिक आधुनिक रूप देने की आवश्यकता है। इसलिये, १९१४ में, इँगलैंड में, एक ऐसी नाट्यशाला स्थापित हुई, जिसमें मानव-जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय। उसका अभी शैशव काल है, तो भी अन्य प्रचलित नाट्यशालाओं की अपेक्षा उसमें अधिक सजीवता आ गई है। युद्ध के पहले नाट्य-साहित्य का यही हाल था।

युद्ध का आरंभ होते ही पहले तो कितनी ही नाट्यशालाएँ बंद हो गईं। पर जब लोगों ने देखा, युद्ध का अंत अभी होनेवाला नहीं, तब फिर धड़ाधड़ नाटक-गृह खुलने लगे। लंदन में जर्मनी के हवाई जहाज़ों का डर रहने पर भी चहल पहल होने लगी। पर नाटकों का रूप बदल गया। युद्ध का पहला वर्ष भी समाप्त नहीं हुआ था कि प्रसिद्ध नाटककारों की कृतियों पर लोगों की श्रद्धा नहीं रही। रंगमंच पर उनके नाटकों का खेलना बंद हो गया। तब ऐसे नाटकों की सृष्टि हुई, जिनमें दूषित विनोद की मात्रा अत्यधिक और सदाचार और सुरुचि का प्राय अभाव था। इन खेलों को देखकर कुछ लोगों को अवश्य क्षोभ हुआ। पर उस समय इँगलैंड की जनता में खाकी की प्रधानता थी, और खाकी पोशाक पहननेवाले ये सैनिक ऐसे ही नाटक पसंद करते थे। इसका कारण भी था। उस समय युद्ध का रूप अत्यंत भयंकर हो गया

ा। सबके हृदयों में आशंका थी। इसी से अपनी चिंता दूर करने के लिये लोग नाटक देखने जाया करते थे। इसलिये रंगभूमि पर किसी प्रकार की गंभीरता अथवा चिंताशीलता उनके लिये असह्य थी। वे तो चाहते थे हँसी-मज़ाक़, जिसमें लिप्त होकर घड़ी-भर वे अपनी-अपनी चिंता भूल जायँ।

अब युद्ध का अंत हो गया है। पर अब भी शृंगार-रसात्मक नाटकों का प्रचार है। यदि यह सच है कि जनता की रुचि का प्रभाव नाट्यशालाओं पर पड़ता है, तो अभी कुछ समय तक अँगरेज़ी में अच्छे नाटक निकलने की आशा नहीं। युद्ध की भीषणता का अनुभव करके जन-साधारण की रुचि ऐसी हो गई है कि सभी लोग कौतुकावह नाटक देखना पसंद करते हैं।

नाटक सभी काल और सभी देशों में लोक-प्रिय होते हैं। कालिदास का कथन है—"नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।" अब तो नाटक, जीवन की आवश्यक सामग्री बन जाने के कारण, और भी अधिक लोक-प्रिय हो गए हैं। लंदन आधुनिक-सभ्यता का एक केंद्र-स्थान है। वहाँ सैकड़ों नाट्यशालाएँ हैं। हज़ारों लोगों का जीवन-निर्वाह उन्हीं से होता है। सभी नाटक-घर सभी समय भरे रहते हैं। कुछ ऐसी नाट्यशालाएँ हैं, जहाँ दिन और रात में दो बार एक ही नाटक खेला जाता है। कहीं-कहीं तो एक ही नाटक दो-दो वर्ष तक खेला जाता है।

कभी हमारे देश में नाटकों का बड़ा आदर था। नाटक खेलने-वाले नटों और नटियों की अच्छी प्रतिष्ठा की जाती थी। इतना ही नहीं, उच्च कुल के स्त्री-पुरुष भी नाट्य-कला में प्रवीणता प्राप्त करने के लिये चेष्टा करते थे। उन्हें अभिनय-कला की शिक्षा देने के लिये योग्य शिक्षक नियुक्त किए जाते थे। कालिदास के मालविकाग्नि-मित्र-नाटक से ये सब बातें विदित होती हैं। अब नाटक-कला

का पुनरुद्धार हो रहा है। महाराष्ट्र और बंगाल में अच्छी-अच्छी नाटक-मंडलियाँ हैं, और उनमें अच्छे-अच्छे नाटक खेले जाते हैं।

जिन्होंने दूसरे देशों में नाटकों का अभिनय देखा है, वे जब भारतीय नाट्यशालाओं में प्रवेश करते हैं, तब यहाँ की भद्दी सजावट देखकर विस्मित हो जाते हैं। यहाँ विदेशी दृश्यों की नक़ल तो ज़रूर की जाती है, पर सारा सामान इतना बेढंगा रहता है कि योरप की छोटी-छोटी नाट्यशालाओं में भी इतनी बेढंगी चीज़ें नहीं रहतीं। जो लोग भारतवर्ष में नाटकों के लिये परदे रँगते हैं, वे विदेशी नाटकों का अनुसरण करते हैं। परंतु विदेशी समाज से अनभिज्ञ रहने के कारण वे उनका रूप बिलकुल विकृत कर डालते हैं। अपनी अज्ञता के कारण जनता उन्हीं से संतुष्ट हो जाती है। इनसे भी भद्दी होती है भारतीय नटों की वेश-भूषा। जो लोग राजा, सामंत, राजसेवक आदि का अभिनय करते हैं, उनकी पोशाक विलक्षण होती है। हम नहीं समझते कि भारतीयों में कभी वैसे परिच्छद काम में लाए गए होंगे। हमें आशा है, भविष्य में भी कोई वैसी भद्दी पोशाक नहीं पहनेगा। ग़नीमत यही है कि स्त्री-पात्रों में भारतीयता की रक्षा की जाती है। अपना वेष बदलने के लिये भारतीय नट चेहरे पर पाउडर लगाकर निकलते हैं। हम नहीं समझ सकते कि अपने चेहरे पर सफ़ेदी लाने की यह विफल चेष्टा क्यों की जाती है।

भारतीय रंगमंच के ये दोष बिलकुल स्पष्ट हैं। इनसे नाटकों का महत्त्व घट जाता और उनका उद्देश निष्फल हो जाता है। इन दोषों के दूर करने की चेष्टा की जानी चाहिए। नाटकों में जिस युग का वर्णन है, उसी के अनुरूप दृश्य दिखलाए जायँ। भारतीय रंगभूमि में जब किसी सड़क अथवा महल का दृश्य दिखलाया जाय, तब वेनिस के स्थान में जयपुर का दृश्य दिखलाना

उचित होगा। भारतवर्ष के नाटककार भी अपने नाटकों
की बिलकुल उपेक्षा करते हैं। कैसा भी दृश्य हो, काम
जाता है। हमारी समझ में इससे तो बेहतर यही होगा
ों का कोई झमेला ही न रहे। दर्शक कथा-भाग सुनकर
मन ही में दृश्यों की कल्पना कर लें। प्राचीन काल में जब
ा प्रचार न था, तब ऐसा ही होता था।
ीय नाटकों में पात्रों के लिये उचित वेष-भूषा तैयार करने
विशेष योग्यता की ज़रूरत नहीं। ज़रा भी बुद्धि से काम
यह बात समझ में आ सकती है कि किसके लिये कौन-
च्छद उपयुक्त है। परंतु आजकल तो सभी नाटक-मंड-
अपने नटों को घुटनों तक ब्रीचेस पहनाकर, भड़कीला कोट
निकालना चाहती हैं। नक़ली दाढ़ी और मूछ से चेहरे को
करना इसलिये आवश्यक समझा जाता है कि दर्शक नटों
ान न सकें। परंतु सर स्कायर बैनक्राफ़्ट के समान प्रसिद्ध
अपने यथार्थ रूप में रंगमंच पर आने में नहीं हिचकते।
ीय नाटकों की कई विशेषताएँ हैं। यदि नाटककार और
ने अभिनय में भारतीयता का ख़याल रक्खें, तो उससे
ाभ हो। रवींद्रनाथ का एक नाटक 'डाकघर' कलकत्ते में
या था। उसमें भारतीयता का ख़याल रक्खा गया था।
से सफलता भी अच्छी हुई।
ा के कुछ नाटककार संगीत के ऐसे प्रेमी हैं कि वे मौक़े-
अपने पात्रों से गाना ही गवाया करते हैं। राजा की कौन
ाजमहिषी तक अपने पद का गौरव भूलकर नाचने-गाने लग
। राजसभा तो बिलकुल संगीतालय ही हो जाती है। यह
की बात है।

तीर्थ-सलिल

कलाधर अनंत के वक्षःस्थल पर विहार करता है। वहाँ जरा और मृत्यु का भय नहीं, मर्त्यलोक की भावना नहीं। परंतु कलाधार की ज्योत्स्ना मर्त्यलोक को ही आप्लावित करती है। महिमा-मंडित राजप्रासादों और पापमय कारागारों में वह एक ही भाव से क्रीड़ा करती है। कलाधर के समान कवि भी संकीर्णता से विमुक्त रहते हैं। उनकी कला देश और काल के व्यवधान को दूर कर देती है। कवि अपनी कला के द्वारा विश्व-भाव को ही खोजते और उसी को व्यक्त करते हैं। उनके भाव का अनुभव सभी जातियों के मनुष्य कर सकते हैं। उनकी वाणी सभी के मुख में, भाषा-रूप में, परिस्फुट हो सकती है। यह सच है कि कवि मनुष्य ही है, और प्रत्येक मनुष्य में उसका व्यक्तिगत और जातिगत विशेषत्व होता है। भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न कालों के भिन्न-भिन्न आचार-व्यवहार होते हैं। प्रत्येक भाषा की भी एक विशेषता होती है। कवि इन्हीं से अपने काव्य की रचना करता है। इन्हीं से अपनी कला के लिये उपकरण-संग्रह करता है। देश और काल से पृथक् विश्व-मानव-नामक किसी भी पदार्थ की कल्पना हम नहीं कर सकते। कवि की कला यही है कि वह विशेष में भी निर्विशेष विश्व को प्रकट करता है। जो देश और काल से परिमित है, उसी के भीतर वह शाश्वत का रूप अभिव्यक्त करता है। वह हमें सीमा में असीम का दर्शन कराता है, अनंत सत्य को मूर्तिमान् कर इंद्रिय-ग्राह्य बना देता है। कला की यही कुशलता है। होमर और वर्जिल के

काव्यों अथवा रैफल और एंजलो के चित्रों में हम योरप का ही वेश-विन्यास पाते हैं। परंतु उस वेश-विन्यास के द्वारा आत्मा का जो रूप लक्षित हो रहा है, वह योरप का उल्लंघन कर अखिल विश्व में दृश्यमान है। डायना, जूनो या ईसामसीह के चित्रों में जो सत्य निहित है, उसकी अभिव्यक्ति के वे केवल उपलक्ष-मात्र हैं। हिंदू दांते और मिल्टन के महाकाव्यों में अपनी रुचि और विश्वास के विरुद्ध ऐसी बातें पा सकता है, जो उसके लिये ग्लानिकर हैं। परंतु जब वह कथा को छोड़कर भाव को ग्रहण करेगा, उपकरण को छोड़कर कवि के अंतर्जगत् में प्रवेश करेगा, तब अपनी ही वस्तु पावेगा। कवि भले ही विदेशी नाम और रूप का वर्णन करे, वह भले ही विजातीय दृश्य को अंकित करे, परंतु हम कवि के उसी अनुभव को ग्रहण करते हैं, जो नाम और रूप से परे है। वही कवि की मर्मवाणी है; वही कला का ध्येय है। अस्तु।

प्रकृति के अनंत सौंदर्य-भांडार से कला की सृष्टि होती है। परंतु कला प्रकृति-सौंदर्य की प्रतिच्छाया नहीं, वह मनुष्य के अंतःसौंदर्य का बाह्य रूप है। वाल्टह्विट्मैन ने अपनी कृति के विषय में लिखा है—

"Comerado, this is no book.
Who touches this touches a man."

अर्थात्, बंधुवर, यह ग्रंथ नहीं है। जो इसे छूता है, वह एक मनुष्य को स्पर्श करता है। वाल्टह्विट्मैन का यह कथन सभी कला-कोविदों के लिये उपयुक्त है। जिस प्रकार कवि की कृति में उसकी आत्मा निवास करती है, उसी प्रकार प्रत्येक चित्र में चित्रकार की आत्मा लीन रहती है। प्रत्येक कला-कोविद के अंतर्जगत् में दैवी प्रकृति की जो आनंददायिनी मूर्ति है, वही

उसकी कला में प्रकट होती है। काव्य उसी की भाषा, संगीत उसी की ध्वनि, और चित्र उसी की छाया है। जो शिल्पकार अपने अंतर्जगत् में उस मूर्ति का दर्शन कर लेता है, उसी के शिल्प में यथार्थ सौंदर्य रहता है। जिसका अंतःकरण मलिन है, उसकी कला में भी सौंदर्य का विशद रूप नहीं प्रकट होगा। कला में व्यक्तित्व की यही प्रधानता है, और इसी से विभिन्नता आती है। परंतु इस विभिन्नता में भी एकता है। वह है उसका मनुष्यत्व। सभी देशों और सभी कालों में मनुष्य मनुष्य ही रहेगा। सम्राट् अपने वैभव के कारण एक दरिद्र कृषक से अवश्य बड़ा है, परंतु मनुष्यत्व के संबंध में दोनो बराबर हैं। एक पुण्यात्मा अपने चरित्र-बल से किसी भी पतित मनुष्य से उच्च स्थान प्राप्त कर सकता है; परंतु मनुष्य के रूप में दोनो एक ही स्थान ग्रहण करेंगे। यही मनुष्यत्व कला का आदर्श है। वह क्या है, सो हम आगे बतलाने की चेष्टा करते हैं।

मनुष्यत्व का यथार्थ रूप देखने के लिये हमें उस मानस सरोवर का पता लगाना चाहिए, जहाँ से सभी देशों की कलाएँ धारा में निरसृत होती हैं। साधारणतः कला के पाँच विभाग किए जा सकते हैं—स्थापत्य, भास्कर्य, चित्र-कला, संगीत और कविता। इन पाँचों में हम सौंदर्य के दो रूप पाते हैं। एक विराट् रूप, और दूसरा कोमल रूप। एक हिमाचल है, तो दूसरा मंदाकिनी। सौंदर्य के विराट् रूप में हम विराट् वासना, विराट् प्रतिहिंसा, विराट् क्षमता और विराट् आत्मत्याग देखते हैं। और, उसके कोमल रूप में हम स्नेह, दया, करुणा, ममता आदि भावों की प्रधानता पाते हैं। सभी देशों और कालों की कला में हम यही बात देखेंगे। अतएव हम यह कह सकते हैं कि मनुष्यत्व में महत्ता और कोमलता, इन्हीं दो गुणों का

सम्मिश्रण हुआ है। किंतु कला की सार्थकता इन गुणों को श्रेयस्कर पथ पर ले जाना है।

अब हम यह देखना चाहते हैं कि कला-कोविदों ने सौंदर्य का आदर्श कहाँ देखा, मनुष्यों को पवित्र करने के लिये तीर्थ-सलिल कहाँ एकत्र किया। जब उन्होंने करुणा और स्नेह को मूर्तिमान् कर देखना चाहा, तब उसको अन्नपूर्णा के ही रूप में देखा। जब उन्होंने प्रकाश को प्रत्यक्ष करना चाहा, तब उसे डायना के ही आकार में देखा। जब उन्होंने शक्ति को साकार सिद्ध किया, तब दुर्गा प्रकट हुई। जब उन्होंने संसार की ऋद्धि-सिद्धि, विद्या-विज्ञान और प्रेम-रूप को कहीं एकत्र किया, तब उनको लक्ष्मी और सरस्वती, वीनस और एथेना के ही स्त्री-रूप में देखा। उसी प्रकार उन्होंने शांति को शिव, शौर्य को विष्णु और मृत्यु को यम-पुरुष के रूप में पाया। दयामयी पृथ्वी को उन्होंने स्त्री का रूप दिया, और अनंत ऐश्वर्य को इंद्र का पुरुष-रूप प्रदान किया। यह प्राचीन युग की कल्पना-मात्र नहीं। इसमें सत्य का गूढ़ तत्त्व विद्यमान है। वह तत्त्व क्या है, यह जानने के लिये हम विश्व-साहित्य के उच्च आदर्शों पर एक बार दृष्टिपात करते हैं। रामायण में एक ओर प्रेम है, तो दूसरी ओर आशंका। एक ओर शौर्य है, तो दूसरी ओर प्रतिहिंसा। होमर के 'इलियड' में, पुरुषों की उत्कट लालसा और स्त्रियों का विषाद, पुरुषों का दर्प और स्त्रियों का बलिदान, ये ही दो भाव एक साथ अंकित हुए हैं। महाभारत में जिस प्रकार शौर्य, सत्य और धर्म की प्रधानता है, उसी प्रकार दर्प, विद्वेष और क्रूरता के भी निदर्शन हैं। शेक्सपियर के नाटकों में मानव-चरित्र का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। उसके 'किंग लियर' में जहाँ बंधुत्व और पितृस्नेह है, वहाँ अज्ञान और क्रूरता भी। 'हेमलेट' में यदि पितृभक्ति और प्रेम है, तो स्वेच्छाचारिता और उपेक्षा का भाव

भी। 'ओथेलो' में सरलता और शौर्य है, तो जिघासा और असूया भी। इससे पुरुषों की महिमा का अनुमान किया जा सकता है। पुरुष विराट् भावों की ओर ही अग्रसर होता है। भगवान् बुद्धदेव की शांति, ईसामसीह का प्रेम, अर्जुन की शक्ति, धर्मराज का धैर्य, एकलिस का पराक्रम, ये सब विराट् रूप के ही द्योतक हैं। भव-सागर के तट पर, अथवा संसार के रण-क्षेत्र में, इनकी शक्ति उद्दीप्त होती है। ये दिनकर के प्रकाश के समान मनुष्यों की अंतर्निहित शक्तियों को, जाग्रत् करके, कार्य-क्षेत्र मे अग्रसर करते हैं। परंतु स्त्रियों की कोमलता, चंद्र कला की ज्योत्स्ना के समान, मनुष्यों के अंत करण में सुधा-वर्षा करती है। यदि हम लोग पृथ्वी पर स्वर्ग का दृश्य देखना चाहते हैं, तो मातृस्नेह में स्वर्गीय शोभा का अनुभव कर सकते है। दरिद्रो की कुटियों और श्रीमानों के राज-प्रासादो में वही सबसे अधिक मूल्यवान् रत्न है। यदि मनुष्य को उसका गर्व है, तो पशु को भी। मातृस्नेह ने समस्त पृथ्वी को आप्लावित कर रक्खा है। वहाँ जाति भेद या वर्ण भेद नहीं है। देश और काल उसको मर्यादित नही कर सकते। अतएव मातृरूप को अंकित करने में सभी कला कोविदो ने अपनी कला की सार्थकता समझी है।

मातृस्नेह के साथ ही अपत्य स्नेह है। अपत्य पर पिता का उतना ही अधिकार है, जितना माता का। तो भी शिशु माता ही की गोद में शोभा देता है। शिशु मे जो सरलता है, वह माता ही की सरलता की प्रतिच्छाया है। सरलता पवित्रता से पृथक् नहीं। हम गौरव देखकर चकित होते है, पर सरलता देखकर उसमें तन्मय हो जाते हैं। अपत्य के रूप में यह अमूल्य धन हमें स्त्रियों ही से मिला है। जिस प्रकार क्षुद्र शीत बिंदु में सूर्य की अनंत आभा स्पष्ट हो जाती है, उसी प्रकार शिशु के सौंदर्य में

स्वर्ग की प्रतिमा परिस्फुट होती है। शिशु को हम पृथ्वी पर स्वर्ग का पारिजात कहेंगे, जिसने अच्छे और बुरे का ख़याल न करके सभी को अपने आमोद से प्रमुदित कर रक्खा है। जिस प्रकार वधिक के हृदय में भी 'आर्थर' पवित्र स्नेह का संचार कर देता है, उसी प्रकार दुष्यंत के हृदय में 'सर्वदमन' आशा का प्रकाश फैला देता है। मनुष्यत्व का रूप दोनो में एक ही भाव से व्यक्त होता है। अतएव कला में शिशु ने अपना एक पृथक् राज्य स्थापित कर लिया है।

कवियों के लिये शैशव की लीला सचमुच वर्णनीय विषय है। महात्मा ईसा ने एक बार कहा था—"Suffer little children to come unto me for such is the Kingdom of Heaven."

अर्थात् छोटे-छोटे बच्चों को हमारे पास आने दो, क्योंकि स्वर्ग का राज्य ऐसा ही है। महात्मा ईसा की उक्तियों में यह उक्ति सबसे अधिक मधुर है। पृथ्वी में यदि कहीं सरलता और पवित्रता है, तो शिशु में ही। यही कारण है, कवियों और चित्रकारों ने बाल्यकाल का चित्र अंकित कर पृथ्वी पर स्वर्ग-राज्य की सृष्टि की है। पाश्चात्य चित्रकारों ने ईसामसीह के बाल्यकाल का चित्रांकण किया है, और भारतीय चित्रकारों ने बाल-गोपाल का। किसी कवि ने कहा है कि आकाश की उज्ज्वल नक्षत्रावली जिस प्रकार आकाश का काव्य है, उसी प्रकार पृथ्वी का विचित्र कुसुम-संभार। परंतु हमारी दृष्टि में तो पृथ्वी के शिशु-रूपी सचेतन पुष्प में ही सबसे अधिक सौंदर्य है। तभी तो अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि लाँगफ़ेलो ने कहा है—

"You are better than all ballads
That ever were sung or said;
For ye are the living poems,
And all the rest are dead."

महाकवि होमर ने अपने आडेसी-नामक काव्य में शिशु यूलि यस का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है। कवि-कुल-गुरु कालिदास का शिशु-वर्णन भी बड़ा ही हृदयग्राही है—

"क्वचित् स्खलद्भिः क्वचिदस्खलद्भिः
क्वचित् प्रकम्पैः क्वचिदप्रकम्पैः;
बालः स लीलाचलनप्रयोगै-
स्तयोर्मुदं वर्द्धयति स्म पित्रोः।
अहेतुहासच्छुरिताननेंदु-
र्गृहांगनक्रीडनधूलिधूम्रः;
मुहुर्वदन् किंचिदलक्षितार्थं
मुदं तयोरंकगतस्ततान।"

इसी भाव पर तुलसीदासजी ने भी लिखा है—

"तन की दुति स्याम सरोरुह-लोचन, कंज की मंजुलताई हरैं;
अति सुंदर सोहत धूरि-भरे, छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं।
चमकैं दतियाँ दुति दामिनि-सी, मिलिकै कल बाल-बिनोद करैं;
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी-मन-मंदिर मैं बिहरैं।
कबहूँ ससि माँगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं;
कबहूँ करताल बजाइकै नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं।
कबहूँ रिसिआय कहैं हठि कै, पुनि लेत सोई, जेहि लागि अरैं;
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी-मन-मंदिर में बिहरैं।"

उन्हीं के रामचरित-मानस की भी दो-चार चौपाइयाँ देखिए—

"कौसल्या जब बोलन जाई, ठुमकि-ठुमकि प्रभु चलहिं पराई।
धूसर धूरि-भरे तनु आए, भूपति बिहँसि गोद बैठाए।
भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाइ;
भाजि चलैं किलकात मुख दधि-ओदन लपटाइ।"

कराया है ; परंतु सूरदास ने शिशु-जीवन का रहस्य खोल दिया है। इस विषय में यदि उनकी तुलना किसी से हो सकती है, तो रवींद्र-नाथ ठाकुर से। रवींद्र बाबू ने अपने शिशु-नामक काव्य में शैशव-काल का सजीव चित्र खींच दिया है। सूरसागर के दशम स्कंध में कृष्ण की बाललीला का वर्णन है। पहले श्याम की शोभा देख लीजिए—

"स्याम-कर मुरली अतिहि बिराजत ;
परसत अधर सुधा-रस प्रगटत, मधुर-मधुर सुर बाजत।
लटकत मुकुट, भौंह छबि मटकत, नैन-सैन अति छाजत ;
ग्रीव नवाइ अटकि बंसी पर, कोटि मदन-छबि लाजत।
लोल कपोल झलक कुंडल की, यह उपमा कछु लागत—
मानहुँ मकर सुधा-सर क्रीड़त, आपु-आपु अनुरागत।
बृंदावन बिहरत नँद-नंदन ग्वाल सखन सँग सोहत ;
'सूरदास' प्रभु की छबि निरखत, सुर-नर-मुनि-मन मोहत।"

सचमुच यह छवि किसे न मुग्ध कर देगी ?

बाल-सरलता का एक बड़ा अच्छा उदाहरण लीजिए। माता ने कहा—

"कजरी को पय पियहु लाल तेरी चोटी बढ़ै ;
सब लरिकन मैं सुनु सुंदर सुत तो श्री अधिक चढ़ै।
पुनि पीवत ही कच टकटोवै, झूठे जननि रढ़ै ;
'सूर' निरखि मुख हँसत जसोदा, सो सुख उर न कढ़ै।"

तब कृष्ण ने पूछा—

"मैया कबहि बढ़ैगी चोटी।
किती बेर मोंहि दूध पियत भइ, यह अजहूँ है छोटी ;
तू जु कहति बल की बेनी-ज्यों ह्वै है लाँबी, मोटी।"

निम्न-लिखित पद्य बाल-विनोद का एक बहुत बढ़िया उदाहरण है—

महाकवि होमर ने अपने ओडेसी-नामक काव्य में शिशु यूलि यस का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है। कवि-कुल-गुरु कालिदा का शिशु वर्णन भी बड़ा ही हृदयग्राही है—

"क्वचित् स्खलद्भिः क्वचिदस्खलद्भिः
क्वचित् प्रकंपैः क्वचिदप्रकंपैः;
बालः स लीलाचलनप्रयोगै-
स्तयोर्मुदं वर्द्धयति स्म पित्रोः।
अहेतुहासच्छुरिताननेंदु-
र्गृहागनक्रीडनधूलिधूम्रः;
मुहुर्वदन् किंचिदलक्षितार्थं
मुदं तयोरंकगतस्ततान।"

इसी भाव पर तुलसीदासजी ने भी लिखा है—

"तन की दुति स्याम सरोरुह-लोचन, कंज की मंजुलताई हरैं;
अति सुंदर सोहत धूरि-भरे, छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं।
चमकैं दंतियाँ दुति दामिनि-सी, मिलिकै कल बाल-बिनोद करैं;
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी-मन-मंदिर मे विहरैं।
कबहूँ ससि माँगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं;
कबहूँ करताल बजाइकै नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं।
कबहूँ रिसिआय कहैं हठि कै, पुनि लेत सोई, जेहि लागि अरैं;
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी-मन मंदिर में विहरैं।"

उन्हीं के रामचरित-मानस की भी दो-चार चौपाइयाँ देखिए—

"कौसल्या जब बोलन जाई, ठुमकि-ठुमकि प्रभु चलहिं पराई।
धूसर धूरि-भरे तनु आए, भूपति बिहँसि गोद बैठाए।
भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाइ;
भाजि चले किलकात मुख दधि-ओदन लपटाइ।"

कराया है ; परंतु सूरदास ने शिशु-जीवन का रहस्य खोल दिया है। इस विषय में यदि उनकी तुलना किसी से हो सकती है, तो रवींद्र-नाथ ठाकुर से। रवींद्र बाबू ने अपने शिशु-नामक काव्य में शैशव-काल का सजीव चित्र खींच दिया है। सूरसागर के दशम स्कंध में कृष्ण की बाललीला का वर्णन है। पहले श्याम की शोभा देख लीजिए—

"स्याम-कर मुरली अतिहि विराजत ;
परसत अधर सुधा-रस प्रगटत, मधुर-मधुर सुर बाजत।
लटकत मुकुट, भौंह छवि मटकत, नैन-सैन अति छाजत ;
ग्रीव नवाइ अटकि बंसी पर, कोटि मदन-छवि लाजत।
लोल कपोल झलक कुंडल की, यह उपमा कछु लागत—
मानहुँ मकर सुधा-सर क्रीड़त, आपु-आपु अनुरागत।
वृंदावन विहरत नँद-नंदन ग्वाल सखन सँग सोहत ;
'सूरदास' प्रभु की छवि निरखत, सुर-नर-मुनि-मन मोहत।"

सचमुच यह छवि किसे न मुग्ध कर देगी ?

बाल-सरलता का एक बड़ा अच्छा उदाहरण लीजिए। माता ने कहा—

"कजरी को पय पियहु लाल तेरी चोटी बढ़ै ;
सब लरिकन मैं सुनु सुंदर सुत तो श्री अधिक चढ़ै।
पुनि पीवत ही कच टकटोवै, झूठे जननि रढ़ै ;
'सूर' निरखि मुख हँसत जसोदा, सो सुख उर न कढ़ै।"

तब कृष्ण ने पूछा—

"मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बेर मोहिं दूध पियत भइ, यह अजहूँ है छोटी ;
तू जु कहति बल की बेनी-ज्यों ह्वैहै लाँबी, मोटी।"

निम्न-लिखित पद्य बाल-विनोद का एक बहुत बढ़िया उदाहरण है—

"हरि अपने आगे कछु गावत ;
तनक-तनक चरनन सो नाचत, मन-ही-मनहि रिझावत।
बाँह उचाइ काजरी, धौरी गैयन टेरि बुलावत ;
कबहुँक बाबा नंद बुलावत, कबहुँक घर मैं आवत।
माखन तनक आपने कर लै, तनक बदन मैं नावत ;
कबहुँ चितै प्रतिबिंब खम मैं, लवनी लिए खवावत।"

जब कृष्ण कुछ बड़े हो गए, तब अपने सखाओं के साथ खेलने लगे। बालकों में अपनी शक्ति का जो स्वाभाविक अभिमान होता है, उसका चित्र इस पद्य मे अच्छी तरह खींचा गया है—

"खेलत स्याम ग्वालन संग ;
सुबल, हलधर अरु सुदामा करत नाना रग।
हाथ-तारी देत भाजत सबै करि-करि होड़ ;
बरज हलधर स्याम, तुम जिनि, चोट लगि है गोड़।
तब कह्यो मैं दौरि . जानत बहुत बल मो तात ;
मेरी जोरी है सुदामा हाथ मारे जात।
बोलि तबै उठै सुदामा धरयो स्याम हँकारि ;
जानि कै मैं रह्यो ठाढ़ो, छुवत कहा जु मोहि ;
'सूर' हरि खीझत सखा सों मनहि कीनो कोहि।"

कृष्ण का यह उलहना भी बड़ा सुंदर है। सुनिए—

"मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो ;
मोसों कहत 'मोल को लीनो' तोहिं जसुमति कब जायो ?
कहा कहौं यहि रिसि के मारे हौं खेलन नहिं जात ;
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, कौन तिहारो तात ?
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम-सरीर ;
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलवीर।
तू मोहीं को मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै ;

मोहन को मुख रिस-समेत लखि जसुमति मन अति रीझै।
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत ;
'सूरस्याम' मा गोधन की सौं हौं माता, तू पूत।"
निम्न-लिखित पद भी कितना स्वाभाविक है—

"मैया, हौं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसों, मेरे पाँइ पिराइ ;
जौं न पत्याहि, पूछ बलदाउहि, अपनी सौंह दिवाइ।"

एक बार कृष्ण अपना पीतांबर छोड़कर राधा की सारी उठा लाए। माता ने पूछा—"अरे, यह क्या किया ? किसकी सारी उठा लाया ?"—

"पीत उढ़निया कहाँ बिसारी।
यह तो लाल ढिगनि की औरै है. काहू की सारी।"

कृष्ण का उत्तर सुनिए—

"हौं गोधन लै गयो जमुन-तट, तहाँ हुती पनिहारी।
भीर भई, सुरभी सब बिडरीं, मुरली भली सँभारी ;
हौं लै गयो और काहू की, सो लै गई हमारी।"

जब यशोदा ने सुना कि कृष्ण दूसरों के घर जाकर मक्खन खाते फिरते हैं, तब वह रुष्ट होकर बोलीं—"तेरे घर में कमी किस बात की है, जो दूसरे के घर जाकर मक्खन की चोरी करता है ?" इस पर, देखिए, कृष्ण ने कैसी अच्छी अपनी सफ़ाई दी है—

"मैया, मैं नाहीं दधि खायो ;
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो।"

सूरदास ने कृष्णलील का बड़ा ही विशद वर्णन किया है। इतने ही उदाहरणों से हमें उनकी निपुणता का परिचय मिल जाता है।

मनुष्यत्व का तीसरा रूप उसके दुःख और दारिद्र्य में प्रकट

"हरि अपने आगे कछु गावत ;
तनक-तनक चरनन सो नाचत, मन-ही-मनहि रिझावत।
बाँह उचाइ काजरी, धौरी गैयन टेरि बुलावत ;
कबहुँक बाबा नंद बुलावत, कबहुँक घर मैं आवत।
माखन तनक आपने कर लै, तनक बदन मैं नावत ;
कबहुँ चितै प्रतिबिंब खंभ मैं, लवनी लिए खवावत।"

जब कृष्ण कुछ बड़े हो गए, तब अपने सखाओं के साथ खेलने लगे। बालकों में अपनी शक्ति का जो स्वाभाविक अभिमान होता है, उसका चित्र इस पद्य में अच्छी तरह खींचा गया है—

"खेलत स्याम ग्वालन संग ;
सुबल, हलधर अरु सुदामा करत नाना रंग।
हाथ-तारी देत भाजत सबै करि-करि होड़ ;
बरज हलधर स्याम, तुम जिनि, चोट लगि है गोड़।
तब कह्यो मैं दौरि. जानत बहुत बल मो गात ;
मेरी जोरी है सुदामा हाथ मारे जात।
बोलि तबै उठै सुदामा धरयो स्याम हँकारि ;
जानि कै मैं रह्यो ठाढो, छुवत कहा जु मोहि ;
'सूर' हरि खीझत सखा सों मनहि कीनो कोहि।"

कृष्ण का यह उलहना भी बड़ा सुंदर है। सुनिए—

"मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो ;
मोसों कहत 'मोल को लीनो' तोहि जसुमति कब जायो ?
कहा कहौं यहि रिसि के मारे हौं खेलन नहिं जात ;
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, कौन तिहारो तात ?
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम-सरीर ;
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर।
तू मोहीं को मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै ;

मोहन को मुख रिस-समेत लखि जसुमति मन अति रीझै।
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत ;
'सूरस्याम' मा गोधन की सौं हौं माता, तू पूत।"

निम्न-लिखित पद भी कितना स्वाभाविक है—

"मैया, हौं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसों, मेरे पाँइ पिराइ ;
जौ न पत्याहि, पूछ बलदाउहि, अपनी सौंह दिवाइ।"

एक बार कृष्ण अपना पीतांबर छोड़कर राधा की सारी उठा लाए। माता ने पूछा—"अरे, यह क्या किया ? किसकी सारी उठा लाया ?"—

"पीत उढ़निया कहाँ बिसारी।
यह तो लाल ढिगनि की औरै है, काहू की सारी।"

कृष्ण का उत्तर सुनिए—

"हौं गोधन लै गयो जमुन-तट, तहाँ हुती पनिहारी।
भीर भई, सुरभी सब बिडरीं, मुरली भली सँभारी ;
हौं लै गयो और काहू की, सो लै गई हमारी।"

जब यशोदा ने सुना कि कृष्ण दूसरों के घर जाकर मक्खन खाते फिरते हैं, तब वह रुष्ट होकर बोलीं—"तेरे घर में कमी किस बात की है, जो दूसरे के घर जाकर मक्खन की चोरी करता है ?" इस पर, देखिए, कृष्ण ने कैसी अच्छी अपनी सफ़ाई दी है—

"मैया, मैं नाहीं दधि खायो ;
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो।"

सूरदास ने कृष्णलील का बड़ा ही विशद वर्णन किया है। इतने ही उदाहरणों से हमें उनकी निपुणता का परिचय मिल जाता है।

मनुष्यत्व का तीसरा रूप उसके दुःख और दारिद्र्य में प्रकट

"हरि अपने आगे कछु गावत ;
तनक-तनक चरनन सों नाचत, मन-ही-मनहि रिझावत।
बाँह उचाइ काजरी, धौरी गैयन टेरि बुलावत ;
कबहुँक बाबा नंद बुलावत, कबहुँक घर मैं आवत।
माखन तनक आपने कर लै, तनक बदन मैं नावत ;
कबहुँ चितै प्रतिबिंब खंभ मैं, लवनी लिए खवावत।"

जब कृष्ण कुछ बड़े हो गए, तब अपने सखाओं के साथ खेलने लगे। बालकों में अपनी शक्ति का जो स्वाभाविक अभिमान होता है, उसका चित्र इस पद्य में अच्छी तरह खींचा गया है—

"खेलत स्याम ग्वालन संग ;
सुबल, हलधर अरु सुदामा करत नाना रंग।
हाथ-तारी देत भाजत सबै करि-करि होड़ ;
बरज हलधर स्याम, तुम जिनि, चोट लगि है गोड़।
तब कह्यो मैं दौरि जानत बहुत बल मो तात ;
मेरी जोरी है सुदामा हाथ मारे जात।
बोलि तबै उठै सुदामा धरयो स्याम हँकारि ;
जानि कै मैं रह्यो ठाढ़ो, छुवत कहा जु मोहि ;
'सूर' हरि खीझत सखा सों मनहि कीनो कोहि।"

कृष्ण का यह उलहना भी बड़ा सुंदर है। सुनिए—

"मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो ;
मोसों कहत 'मोल को लीनो' तोहिं जसुमति कब जायो ?
कहा कहौं यहि रिसि के मारे हौं खेलन नहिं जात ;
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, कौन तिहारो तात ?
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम-सरीर ;
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर।
तू मोहीं को मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै ;

मोहन को मुख रिस-समेत लखि जसुमति मन अति रीझै।
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत ;
'सूरस्याम' मा गोधन की सौं हौं माता, तू पूत।"

निम्न-लिखित पद भी कितना स्वाभाविक है—

"मैया, हौं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसों, मेरे पाँइ पिराइ ;
जौ न पत्याहि, पूछ बलदाउहि, अपनी सौंह दिवाइ।"

एक बार कृष्ण अपना पीतांबर छोड़कर राधा की सारी उठा लाए। माता ने पूछा—"अरे, यह क्या किया ? किसकी सारी उठा लाया ?"—

"पीत उढ़निया कहाँ बिसारी।
यह तो लाल ढिगनि की औरै है, काहू की सारी।"

कृष्ण का उत्तर सुनिए—

"हौं गोधन लै गयो जमुन-तट, तहाँ हुती पनिहारी।
भीर भई, सुरभी सब बिडरीं, मुरली भली सँभारी ;
हौं लै गयो और काहू की; सो लै गई हमारी।"

जब यशोदा ने सुना कि कृष्ण दूसरों के घर जाकर मक्खन खाते फिरते हैं, तब वह रुष्ट होकर बोलीं—"तेरे घर में कमी किस बात की है, जो दूसरे के घर जाकर मक्खन की चोरी करता है ?" इस पर, देखिए, कृष्ण ने कैसी अच्छी अपनी सफ़ाई दी है—

"मैया, मैं नाहीं दधि खायो ;
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो।"

सूरदास ने कृष्णलील का बड़ा ही विशद वर्णन किया है। इतने ही उदाहरणों से हमें उनकी निपुणता का परिचय मिल जाता है।

मनुष्यत्व का तीसरा रूप उसके दुःख और दारिद्र्य में प्रकट

होता है। यदि कोई भावना मनुष्य-जाति को एक करती या कर सकती है, तो वह दुःख की भावना है। जैसे निशा के अंधकार में मनुष्यों का व्यक्तिगत भेद नष्ट हो जाता है, वैसे ही दुःख की छाया पड़ने पर सभी अपना भेद-भाव भूल जाते हैं। सुख और समृद्धि में मनुष्य मनुष्य से दूर हो सकता है; पर दुःख और दारिद्र्य में वह अपना हाथ बढ़ाकर शत्रु को भी गले लगाता है। मनुष्यों में सहानुभूति का होना स्वाभाविक है। इसका उदय दुःख में ही होता है। साहित्य और कला में वेदना का इतना प्रबल भाव होने का कारण यही है।

अनादि काल से मनुष्य एक चिरंतन आदर्श की खोज कर रहा है। अपने जीवन की एक अवस्था में जिसे वह, सत्य का पूर्ण रूप समझकर, ग्रहण करता है, उसी को जीवन की दूसरी अवस्था में त्याज्य समझता है। जीवन की अपूर्णावस्था में सत्य का पूर्ण रूप कैसे उपलब्ध हो सकता है? फिर मनुष्य-जीवन की सार्थकता किसमें है? योरप के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता रूसो का कथन है कि "मनुष्य को सदा मनुष्य ही होना चाहिए। यही उसका पहला कर्तव्य है। सभी अवस्थाओं में संसार के साथ मनुष्य को मनुष्योचित व्यवहार करना चाहिए। स्वभाव से मनुष्य न तो धनी है, न कुलीन। जन्म के समय सभी निःस्व, निःसहाय होते हैं। अपने जीवन में सभी को सुख-दुःख और आशा-निराशा का अनुभव करना पड़ता है। सभी मृत्यु के वश हैं। यही मनुष्य की अवस्था है। इस नियम का व्यत्यय नहीं होता। यही मनुष्य का मनुष्यत्व है। मनुष्य स्वभाव से दुर्बल है। इसी से वह समाज का संगठन करता है। अभाव के कष्ट और अपूर्णता की वेदना ने हमें मनुष्य बनाया है। जिसने कभी दुःख का अनुभव नहीं किया, वह कभी दूसरों के दुःख को नहीं समझ सकता। हमारी अपूर्णता ही हमारे

आनंद का एक बड़ा कारण है। जब हम कभी अपनी अपूर्णता का अनुभव करते हैं, तभी हमें चाह होती है। जिसे किसी की चाह नहीं है, जो किसी अभाव का अनुभव नहीं करता, वह प्रेम नहीं कर सकता। जिसके हृदय में प्रेम नहीं है, वह क्या कभी सुखी हो सकता है?

साहित्य और कला में जब मनुष्यत्व का आदर्श प्रदर्शित होता है, तब हम वहाँ इसी अपूर्णता का दर्शन करना चाहते हैं। गौरव के पूर्ण रूप में भी हमें जब कोमलता का आभास मिलता है, तब हमारा चित्त उसकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट होता है। साहित्य में आदर्श रूप से जिन पात्रों की सृष्टि हुई है, उनके चरित्र में मानव-स्वभाव की दुर्बलता का चित्र अवश्य अंकित होता है, और तभी वे हमारे हृदय में स्थान प्राप्त कर लेते हैं। यदि उनकी क्षमता की ओर ध्यान दें, तो हम उनका वह विराट् रूप देखेंगे, जो हमारे लिये अनधिगम्य है। परंतु, मनुष्य की सभी दुर्बलताओं से मुक्त होने पर, उनमें हम अपने जीवन का प्रतिरूप देख लेते हैं। मनुष्यों के स्वभाव में दुर्बलता अवश्य है; परंतु दुर्बलता नीचता नहीं है। अन्याय से किसी की नीचता नहीं सिद्ध होती। जो दुराचारी हैं, वे भी अन्याय का—यदि उस अन्याय से उनका कोई स्वार्थ नहीं है—समर्थन नहीं करते। जहाँ अपनी हानि या लाभ नहीं है, वहाँ दुष्ट भी दूसरों की दुष्टता का सुफल नहीं देखना चाहते। इच्छा अपनी वस्तु है। परंतु उसके अनुसार कर्म करने की क्षमता सभी में नहीं रहती। जब हम किसी प्रलोभन में पड़कर कोई काम करते हैं, तब दूसरों से अभिभूत होते हैं। तब उसके लिये हमें जो अनुताप होता है, उससे हमारी प्रकृत इच्छा का स्वरूप प्रकट होता है। जब तक हम अपने अवगुणों के अधीन हैं, तब तक दासत्व-बंधन में पड़े रहते हैं।

जब हम अनुतप्त होते हैं, तब मुक्त हो जाते हैं। अतएव मनुष्य के लिये जिस प्रकार किसी भी इच्छा के वशीभूत होकर प्रलोभन में पड़ना स्वाभाविक है, उसी प्रकार उसका अनुतप्त होना भी उसके स्वभाव के अनुकूल है। साहित्य में लेडी मैकबेथ के समान नृशंस 'चरित्रों' के हृदय में कोमलता का जो अंश है, वह इसी का सूचक है। सभी श्रेष्ठ कला-कोविदों की सृष्टि में हम वेदना और अनुताप का प्राधान्य अवश्य पावेंगे।

कविता की उत्पत्ति के विषय में, भारतवर्ष में, जो कथा प्रसिद्ध है, उससे यह भली भाँति सिद्ध होता है कि वेदना की अनुभूति से ही मनुष्य के हृदय में स्वर्गीय भाव का उद्रेक होता है। क्रौंच का वध देखकर आदि-कवि के हृदय में जो शोक हुआ था, वही श्लोक के रूप में व्यक्त हुआ। विश्व की वेदना से सहानुभूति रखकर कवि ने चरम सौंदर्य की सृष्टि की। उनकी कृति में धर्म की विजय और पाप की पराजय ही की कथा नहीं है, दुःख की विजय और त्याग की महत्ता भी वर्णित है। रामचंद्र का गौरव लंका-विजय अथवा रावण-वध पर प्रतिष्ठित नहीं है; उनका यथार्थ गौरव तपस्वी के रूप में है, जिसने सदैव कर्तव्य के लिये दुःख का आलिंगन किया। दुःख की यह महत्ता साहित्य के सभी श्रेष्ठ ग्रंथों में प्रदर्शित हुई है। वियोगांत नाटकों की सृष्टि भी इसी महत्ता को दिखाने के लिये हुई है। इन नाटकों में हम प्रायः धर्म की विजय नहीं देखते। इसके विपरीत पाप ही की विजय देख पाते हैं। परंतु धर्म का पथ सुखमय नहीं होता। यदि वह सुखमय होता, तो कदाचित् उसका गौरव ही नष्ट हो जाता। यही कारण है कि वियोगांत नाटकों में पराजित व्यक्ति ही के प्रति हमारी सहानुभूति अधिक होती है। दुःखानुभूति की विशेषता यही है कि उससे सहानुभूति व्यक्त होती है। संसार दुःख-पूर्ण

है, मनुष्यों का जीवन दुःखमय है। इसीलिये इस संसार में प्रेम और सहानुभूति की प्राप्ति हो सकती है। यही कारण है कि साहित्य और कला में करुण-रस सबसे श्रेष्ठ माना गया है। इस मर्त्यलोक में जीवन और मृत्यु की जो लीला हो रही है, मनुष्यों के हास्य में भी करुण वेदना की जो ध्वनि उठ रही है, क्षणिक संयोग के बाद अनंत वियोग की जो दारुण निशा आती है, उसी से मर्माहत होकर कवि के हृदय से विरह-वेदना का उद्गार निकलता है, जिसके स्वर से व्यथित हृदय में भी शांति आ जाती है।

कला में अश्रु अप्रिय-दर्शन नहीं है। शेक्सपियर ने एक स्थान पर लिखा है—"A beauty's tears are lovelier than her smiles." कवि की यह उक्ति काल्पनिक नहीं है। यथार्थ में कितने ही चित्रों में, अश्रु से अधिक सौंदर्य का विकास होता है। किंतु अश्रु ही शोक और दुख का एक-मात्र लक्षण नहीं है। साधारण चित्रकार करुण-रसात्मक चित्र अंकित करने में प्रायः अश्रु की सहायता लेते हैं। किसी चित्र में अश्रु-पूर्ण नेत्र अंकित किए जाते हैं, और किसी में पतनोन्मुख अश्रु-जल। किंतु सभी अवस्थाओं में शोक का परिणाम अश्रु-जल नहीं होता। जब दुःख अधिक रहता है, तब छाती फट जाती है; परंतु आँखों से आँसुओं की एक भी बूँद नहीं टपकती, और न मुँह से कोई शब्द ही निकलता है। अगाध दुःख का वर्णन करते समय कवि 'हाय हाय!' की धूम नहीं मचाते। वे कभी-कभी विरह-व्यथा के वर्णन में आँसुओं की झड़ी और हिचकियों का ताँता लगा देते हैं—

"तच्यो आँच अति विरह की, रह्यो प्रेम-रस-भीजि;
नैननि के मग जल बहै, हियो पसीजि-पसीजि।"

परंतु जब यही व्यथा अत्यंत गंभीर रूप धारण कर लेती है, तब कवि अश्रुओं का वर्णन नहीं करते। यथा—

"परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं
दधती विलोलकवरीकमाननम्;
करुणस्य मूर्तिरिव वा शरीरिणी
विरहव्यथैव वनमेति जानकी।"

शोक का यह कारण मृत्यु है। अतएव करुण-रस में मृत्यु का दृश्य प्रदर्शित किया जाता है। मृत्यु के संबंध में मनुष्यों की जैसी भावनाएँ हैं, वे ही कला में व्यक्त होती हैं। जिनके लिये मृत्यु अनंत वियोग की निशा है, वे मृत्यु को आलिंगन नहीं कर सकते। मृत्यु उनको असह्य है। परंतु जो यह मानते हैं कि मृत्यु के भीतर अनंत जीवन निहित है, वे मृत्यु का भी स्वागत करते हैं। मृत्यु उनके लिये आशा का संदेश लाती है।

दुःख की भावनाएँ सदैव मर्मस्पर्शी होती हैं। कहा जाता है, मनुष्य स्वभाव से ही आनंद का इच्छुक है। तो फिर दुःख की भावना से उसको कौन-सा आनंद प्राप्त होता है? वह किसके लिये दुःख का स्वागत करता है? महात्मा ईसा का कथन है—"Blessed are they that weap, for they shall be comforted" इसी बात को अनेक कवियों ने पुष्ट किया है। वर्ड्स्वर्थ का कथन प्रसिद्ध है—"The comforter comes upon the lonely road" हिंदी के वर्तमान कवि बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त ने भी यही बात कही है—

"प्रभो, तुम्हें हम कब पाते हैं;
जब इस जनाकीर्ण जगती पर एकाकी रह जाते हैं।"

इसी भाव को दादू ने इस प्रकार कहा है—

"दादू पीड़ न ऊपजी, ना हम करी पुकार;
तातैं साहिब ना मिल्या, दादू बीती बार।"

क्योंकि—

> "चोट बिना तन प्रीति न उपजै, औषद अंग रहंत;
> जनम लगै जिव पलक न परसै, बूटी अमर, अनंत।"
> "अंदर पीड़ न ऊभरै, बाहर करै पुकार ;
> 'दादू' सो क्योंकरि लहै, साहिब का दीदार।"

मनुष्य-जीवन में सर्वत्र प्रकाश नहीं है, अंधकार भी है। मनुष्य में जैसे क्षमता है, वैसे ही दुर्बलता भी। मनुष्य का पतन हो सकता है, इसीलिये उसके उत्थान की भी महत्ता है। अतएव इन आदर्श-चरित्रों में भी जीवन का उत्थान-पतन दृग्गोचर होता है। हिंदी के कितने ही विद्वान् मनुष्य-जीवन के अंधकारमय भाग को साहित्य में देखना ही नहीं चाहते। पाप की वीभत्स लीलाओं को वे साहित्य से दूर ही रखना चाहते हैं। परंतु जीवन की पूर्णावस्था प्राप्त करने के लिये हमें अपूर्णावस्था के भीतर होकर ही जाना पड़ेगा। मनुष्य की क्षमता यही है कि वह पतितावस्था से ही उच्चतम अवस्था को पहुँच सकता है। उसकी दुर्बलता यह है कि वह उच्चतम अवस्था प्राप्त करके भी भ्रष्ट हो सकता है। दुराचारियों की जिन वीभत्स कृतियों से हमारा चित्त उद्विग्न हो उठता है, वे भी जीवन की एक अवस्था की सूचना देने के लिये आवश्यक हैं। मनुष्य के लिये अधः-पतन की परा काष्ठा जितनी सच्ची है, उतना ही सच्चा उसका अभ्युत्थान भी। यही कारण है कि जिन विश्व-कवियों ने हमें जीवन की उच्चतम अवस्था दिखलाई है, उन्होंने जीवन की निम्नतम अवस्था की भी उपेक्षा नहीं की। यही नहीं, उन्होंने श्रेष्ठ चरित्रों में भी मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता प्रदर्शित कर दी है।

मनुष्य-संसार में पुरुष भी हैं, और स्त्रियाँ भी। पुरुषों की क्षमता और दुर्बलता स्त्रियों की क्षमता और दुर्बलता से भिन्न है। पुरुष जिसे दुर्बलता समझता है, वही स्त्रियों की [illegible]

ऐश्वर्य में है, और स्त्रियों की क्षमता दारिद्र्य में। जहाँ पुरुष दुर्बल है, वहीं स्त्री की शक्ति प्रकट होती है। पुरुष सर्वस्व प्राप्त कर सकता है, और स्त्री सर्वस्व दे सकती है। पुरुष के लिये अप्राप्य कुछ भी नहीं है, और स्त्री के लिये अदेय। पुरुष स्त्री को गिराकर खड़ा रहता है, और स्त्री गिरकर भी पुरुष की रक्षा करती है। अपने धर्म की रक्षा के लिये पुरुष स्त्री का परित्याग कर सकता है, और स्त्री परित्यक्त होकर भी पुरुष के कर्म की रक्षा करती है। हमारी समझ में स्त्री ही पृथ्वी की कल्पलता है। कल्पलता की आवश्यकता समृद्धि में नहीं, अभाव में है। जब पुरुष अकिंचन हो जाता है, तभी वह स्त्री से सर्वस्व प्राप्त करता है। साहित्य में स्त्रियों के चरित्र का विकास जैसा अंकित किया गया है, उसी की चर्चा आगे की जाती है।

स्त्रियों के चरित्र-विकास के संबंध में सबसे पहले यही प्रश्न उठता है कि नारी-प्रकृति के मूल-उपादान क्या हैं? जब दुष्यंत ने राजसभा में शकुंतला पर कपट का दोष लगाया, तब गौतमी ने कहा—"राजन्, यह दोषारोपण अन्याय है। शकुंतला प्रकृति की गोद में पली है। वह छल करना जानती ही नहीं।" परंतु दुष्यंत ने यह निश्चय-पूर्वक कहा कि कपटाचरण नारी-प्रकृति के मूल-उपादानों में से एक है। दुष्यंत के इस कथन की परीक्षा के लिये यह आवश्यक है कि नारी-प्रकृति पर विचार किया जाय। यदि स्त्री मानव-समाज से पृथक् रहे, सभ्यता के संपर्क से बिलकुल दूर रहे, तो उसके चरित्र में कौन-सी विशेषता रहेगी? यह तो संभव नहीं कि मनुष्य-संसर्ग से कोई भी स्त्री बिलकुल पृथक् रह सकती है। वर्डस्वर्थ ने 'प्रकृति की शिक्षा' नाम की एक कविता में एक ऐसी स्त्री की कल्पना की है, जिसका चरित्र प्रकृति के प्रभाव से गठित हुआ था। परंतु वह स्त्री आकाश-संभव तो थी नहीं, मनुष्य-कन्या ही थी। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि उस पर मनुष्य का कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ा।

इसलिये नारी-चरित्र की आलोचना में हमें केवल इसी बात पर ध्यान देना चाहिए कि समाज और सभ्यता का प्रत्यक्ष प्रभाव न रहने पर नारी-चरित्र का विकास किस प्रकार होता है।

रूसो और उसके अनुयायियों का यह कथन है कि सभ्यता के प्रभाव से मनुष्य का चरित्र कलुषित हो जाता है। आधुनिक संसार की दृष्टि में जो असभ्यावस्था है, उसी में मानव-प्रकृति विशुद्ध रहती है। अतएव उसके अनुयायियों ने अपने पात्रों को सभ्यता के प्रभाव से दूर रखकर उनमें सरलता, कोमलता, पवित्रता, उदारता आदि स्पृहणीय गुणों को प्रदर्शित किया है। बँगला के प्रसिद्ध लेखक बाबू ललितकुमार बंद्योपाध्याय ने बंकिम बाबू की कपालकुंडला की चरित्र-समीक्षा करते समय इसी प्रश्न को उठाया था। आपने लिखा था—"यदि काव्य में ऐसी स्त्री का चरित्र अंकित किया जाय, जो प्रकृति की गोद में पली है, तो उसके स्वभाव में कौतूहल-परायणता, स्वाधीन-प्रियता, साहस आदि स्वभावज गुण रहेंगे। ये गुण स्त्री और पुरुष, दोनो ही में समान रूप से पाए जायँगे। परंतु स्त्री के चरित्र में हम देह के सौंदर्य के साथ-साथ हृदय की कोमलता और पवित्रता की भी आशा करते हैं। लज्जा और सरलता स्त्री के भूषण हैं। बंकिम बाबू ने लज्जा को 'स्त्री-स्वभाव-सुलभ' बतलाया है। परंतु सरलता और लज्जा में एक प्रकार का वैपरीत्य है। लज्जा समाज की मर्यादा का फल है। अतएव प्रकृति की गोद में पली हुई स्त्री में सरलता तो रहेगी, परंतु उसमें लज्जा की अपेक्षा लज्जा का अभाव अधिक स्वाभाविक है।" यह बात सच होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि सभ्यता के संपर्क-मात्र से स्त्रियों में इन गुणों का लोप हो जाता है। यथार्थ बात यह है कि मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियाँ उनमें संयत हो जाती हैं। परंतु जब वे अपना स्वाभाविक रूप धारण करती

हैं, तब समाज की मर्यादा का उल्लंघन भी कर डालती हैं। हमारी समझ में, जिन स्त्रियों के चरित्र का संगठन सभ्यता के संपर्क से पृथक्, निर्जन स्थान में, हुआ है, उनके मानसिक भावों में तीव्रता होनी चाहिए। उनका प्रेम निर्मल रहेगा; किंतु वह वन-नदी के प्रवाह के समान तीव्र होगा। उनमें सरलता रहेगी, परंतु उसके साथ स्वच्छंदता भी होगी। उनकी वासना निर्बाध और प्रखर होगी। अस्तु।

साहित्य में नारी-चरित्र की आलोचना करते समय हमारे आगे एक बात स्पष्ट हो जाती है। वह यह की स्त्रियों का जीवन ही प्रेम-मय होता है; प्रेम से ही उनके जीवन की सार्थकता है। पतिता-वस्था में भी उनका यह प्रेम-भाव उज्ज्वल बना रहता है। स्त्रियों की अदम्य वासनाओं में भी उसका रूप विकृत नहीं होता। स्त्रियों के उत्थान और पतन में प्रेम का ही प्रभाव दिखलाई पड़ता है। अब हम यह विचार करना चाहते हैं कि श्रेष्ठ कवियों ने स्त्रियों के चरित्र-विकास में इस भाव की कैसे और कहाँ तक रक्षा की है।

हिंदू-साहित्य में जिन स्त्रियों के नाम अमर हैं, उनमें सीता अग्रगण्य हैं। सीता का जन्म उस स्थान में हुआ था, जो उस समय आर्य-सभ्यता का केंद्र था। वह राजनंदिनी थीं, अतएव आर्य-सभ्यता का जितना प्रभाव किसी पर पड़ सकता है, उतना उन पर अवश्य पड़ा होगा। आदि कवि ने सीता के स्वभाव में उन सभी गुणों का प्रदर्शन किया है, जो स्त्री-जाति-मात्र के लिये श्लाघनीय हैं। परंतु इसके साथ ही सतीत्व के तेज और आत्माभिमान की स्फूर्ति ने उनके चरित्र में वह गरिमा ला दी है, जो अतुल है। हिंदू-समाज में भगवती सीता का जो पद है, वह अन्य स्त्रियों को दुर्लभ है। सीता के चरित्र में प्रेम का विशुद्ध रूप अंकित किया गया है। उसमें लालसा नहीं है, किंतु संयम है। शकुंतला, मिरांडा अथवा

ज़ुलेखा के प्रेम में जो व्याकुलता है, जो निर्बाध लालसा है, उसका सीता के स्वभाव में होना असंभव है। जब कोई रामायण पढ़ता है, तब सीता का पति-प्रेम देखकर अपने को भूल जाता है। परंतु रामायण में वह कहीं भी ऐसा स्थल नहीं देखता, जहाँ सीता की प्रेम-विह्वलता का संवाद अथवा उनके प्रेमाश्रुओं की धाराओं से श्रीरामचंद्रजी के वक्षःस्थल के भीगने का दृश्य हो। किंतु शकुंतला और मिरांडा के जीवन में ऐसे दृश्यों का अभाव नहीं है। इसका कारण यही है कि सीताजी का पति-प्रेम उग्र, उत्कट और उत्तप्त नहीं है। उस प्रेम की लहरें क्षण-भर में ही क्षुब्ध नहीं हो उठतीं। वह प्रेम अथाह समुद्र के जल की तरह गंभीर रहता है। अपने जीवन में सीताजी को कई बार प्रेम की परीक्षा देनी पड़ी। परंतु उनके सतीत्व का तेज हम उस समय देख पाते हैं, जब लंका-विजय कर लेने पर रामचंद्र ने उनके सतीत्व की परीक्षा लेनी चाही। उस समय सीताजी ने जो उत्तर दिया है, उसकी दीप्ति से समस्त रामायण उद्भासित हो रही है—

"किं मामसदृशं वाक्यमीदृशं श्रोत्रदारुणम् ;
रूक्षं श्रावयसे वीर प्राकृतः प्राकृतामिव।
न तथास्मि महाबाहो यथा मामवगच्छसि ;
प्रत्ययं गच्छ मे स्वेन चारित्रेणैव ते शपे!
पृथक् स्त्रीणां प्रचारेण जातिं त्वं परिशंकसे ;
परित्यजैनां शंकां तु यदि तेऽहं परीक्षिता।
यदहं गात्रसंस्पर्शं गताऽस्मि विवशा प्रभो ;
कामकारो न मे तत्र दैवं तत्रापराध्यति।"

पाश्चात्य साहित्य में मिल्टन ने ईव के चरित्र में एक अपूर्व रमणी-मूर्ति का दर्शन कराया है। यहूदियों और ईसाइयों के मतानुसार ईव मानव-जाति की जननी है। प्रकृति की गोद में उसका

हैं, तब समाज की मर्यादा का उल्लंघन भी कर डालती हैं। हमारी समझ में, जिन स्त्रियों के चरित्र का संगठन सभ्यता के संपर्क से पृथक्, निर्जन स्थान में, हुआ है, उनके मानसिक भावों में तीव्रता होनी चाहिए। उनका प्रेम निर्मल रहेगा; किंतु वह वन-नदी के प्रवाह के समान तीव्र होगा। उनमें सरलता रहेगी, परंतु उसके साथ स्वच्छंदता भी होगी। उनकी वासना निर्बाध और प्रखर होगी। अस्तु।

साहित्य में नारी-चरित्र की आलोचना करते समय हमारे आगे एक बात स्पष्ट हो जाती है। वह यह की स्त्रियों का जीवन ही प्रेम-मय होता है; प्रेम में ही उनके जीवन की सार्थकता है। पतितावस्था में भी उनका यह प्रेम-भाव उज्ज्वल बना रहता है। स्त्रियों की अदम्य वासनाओं में भी उसका रूप विकृत नहीं होता। स्त्रियों के उत्थान और पतन में प्रेम का ही प्रभाव दिखलाई पड़ता है। अब हम यह विचार करना चाहते हैं कि श्रेष्ठ कवियों ने स्त्रियों के चरित्र-विकास में इस भाव की कैसे और कहाँ तक रक्षा की है।

हिंदू-साहित्य में जिन स्त्रियों के नाम अमर हैं, उनमें सीता अग्रगण्य हैं। सीता का जन्म उस स्थान में हुआ था, जो उस समय आर्य-सभ्यता का केंद्र था। वह राजनंदिनी थीं, अतएव आर्य-सभ्यता का जितना प्रभाव किसी पर पड़ सकता है, उतना उन पर अवश्य पड़ा होगा। आदि कवि ने सीता के स्वभाव में उन सभी गुणों का प्रदर्शन किया है, जो स्त्री-जाति-मात्र के लिये श्लाघनीय हैं। परंतु इसके साथ ही सतीत्व के तेज और आत्माभिमान की स्फूर्ति ने उनके चरित्र में वह गरिमा ला दी है, जो अतुल है। हिंदू-समाज में भगवती सीता का जो पद है, वह अन्य स्त्रियों को दुर्लभ है। सीता के चरित्र में प्रेम का विशुद्ध रूप अंकित किया गया है। उसमें लालसा नहीं है, किंतु संयम है। शकुंतला, मिरांडा अथवा

ज़ुलेखा के प्रेम में जो व्याकुलता है, जो निर्बाध लालसा है, उसका सीता के स्वभाव में होना असंभव है। जब कोई रामायण पढ़ता है, तब सीता का पति-प्रेम देखकर अपने को भूल जाता है। परंतु रामायण में वह कहीं भी ऐसा स्थल नहीं देखता, जहाँ सीता की प्रेम-विह्वलता का संवाद अथवा उनके प्रेमाश्रुओं की धाराओं से श्रीरामचंद्रजी के वक्षःस्थल के भीगने का दृश्य हो। किंतु शकुंतला और मिरांडा के जीवन में ऐसे दृश्यों का अभाव नहीं है। इसका कारण यही है कि सीताजी का पति-प्रेम उग्र, उत्कट और उत्तप्त नहीं है। उस प्रेम की लहरें क्षण-भर में ही क्षुब्ध नहीं हो उठतीं। वह प्रेम अथाह समुद्र के जल की तरह गंभीर रहता है। अपने जीवन में सीताजी को कई बार प्रेम की परीक्षा देनी पड़ी। परंतु उनके सतीत्व का तेज हम उस समय देख पाते हैं, जब लंका-विजय कर लेने पर रामचंद्र ने उनके सतीत्व की परीक्षा लेनी चाही। उस समय सीताजी ने जो उत्तर दिया है, उसकी दीप्ति से समस्त रामायण उद्भासित हो रही है—

"किं मामसदृशं वाक्यमीदृशं श्रोत्रदारुणम्;
रूक्षं श्रावयसे वीर प्राकृतः प्राकृतामिव।
न तथास्मि महाबाहो यथा मामवगच्छसि;
प्रत्ययं गच्छ मे स्वेन चारित्रेणैव ते शपे!
पृथक् स्त्रीणां प्रचारेण जातिं त्वं परिशंकसे;
परित्यजैनां शंकां तु यदि तेऽहं परीक्षिता।
यदहं गात्रसंस्पर्शं गताऽस्मि विवशा प्रभो;
कामकारो न मे तत्र दैवं तत्रापराध्यति।"

पाश्चात्य साहित्य में मिल्टन ने ईव के चरित्र में एक अपूर्व रमणी-मूर्ति का दर्शन कराया है। यहूदियों और ईसाइयों के मतानुसार ईव मानव-जाति की जननी है। प्रकृति की गोद में उसका

लालन पालन हुआ था। उसका सौंदर्य, उसकी सरलता, उसकी कोमल प्रकृति और उसका धर्म भाव, सभी कुछ मनोमोहक है। वह प्रेममयी, लज्जाशीला और पति की आज्ञानुवर्तिनी है। एक ही बार उसने सैटन (शैतान) के कहने से प्रलोभन में पड़कर अपने स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन किया था। परंतु इसके लिये उसने अनुताप भी खूब किया। मिल्टन ने उसके संबंध में लिखा है—

"For softness she and sweet attractive grace,
He for God only, she for God in him

एक स्थान में ईव ने कहा है—

What thou bidd st
Unargued I obey so God ordains
God is thy law thou mine

यह मानो एक हिंदू पत्नी का कथन है, जिसके लिये—

"पतिर्हि देवता नार्या पतिर्बन्धु पतिर्गुरु ।"

जब ईव आदम से बातचीत करती है, तब उसके शब्दों से ही प्रकट होता है कि वह पति प्रेम से गद्गद हो रही है। जब उसने आदम से अपने जीवन की प्रथम स्मृति का वर्णन किया, तब उसके कथन से मालूम हो जाता है कि उसका प्रेम कितना प्रबल और कितना अकृत्रिम है। जब उसे मालूम हुआ कि उसके पाप के कारण उसके स्वामी को भी दंड भोगना पड़ेगा, तब वह सारा दोष, सारा दंड अपने ऊपर लेने के लिये अधीर हो उठी। अंत में जब उसे नंदन कानन छोड़ना पड़ा, तब उसने कहा कि जहाँ उसके स्वामी रहेंगे, वहीं उसके लिये स्वर्ग और सुख है—

Thou to me art all things under heaven
All places thou,

मिल्टन ने इन गुणों के साथ ही ईव में कुछ दोष भी दिखलाए हैं। प्रबल कौतूहल, गर्व, क्षमता, उच्छृंखलता आदि दोष ऐसे हैं, जिनसे स्त्रियों की कोमलता और दुर्बलता प्रकट होती है। इन्हीं दोषों के कारण ईव का स्वर्ग से पतन हुआ। परंतु स्वर्ग से पतन होने पर उसका जो पति-प्रेम प्रकट हुआ, वह प्रेम की परा काष्ठा है।

ईव की तुलना शकुंतला से की जा सकती है। ईव की तरह शकुंतला के चरित्र का विकास भी शांत कानन में हुआ है। ईव की तरह शकुंतला भी प्रकृति की दुहिता थी। प्रकृति से उसकी बड़ी घनिष्ठता थी। जब शकुंतला के हृदय में प्रेम का संचार हुआ, तब वह अधीर हो उठी। लोक-लज्जा का भय उसे अवश्य था। वह संसार से नितांत अपरिचित नहीं थी। पर वह अपनी लालसा का दमन नहीं कर सकी। कालिदास ने अभिज्ञान-शकुंतल के *तृतीय अंक में, शकुंतला में, प्रेम की असंयतावस्था दिखलाई* है। शकुंतला ने जिस प्रेम के लिये लोक-मर्यादा का उल्लंघन किया, वह प्रेम वासना से विहीन नहीं था। यही उसका यथार्थ पतन हुआ। जब दुष्यंत ने राजसभा में उसका प्रत्याख्यान किया, तब तो संसार की भी दृष्टि में उसका पराभव हुआ। परंतु इस पराभव के बाद उसके प्रेम का निर्मल रूप प्रकट हुआ। तपोवन में दुष्यंत ने जिस शकुंतला को देखा था, वह अपने शारीरिक सौंदर्य से राजभवन की स्त्रियों को लज्जित करती थी। परंतु कश्यप के आश्रम में वह सुंदरी नहीं, पतिपरायणा, साध्वी शकुंतला थी। उसकी वासना निर्मूल हो चुकी थी। उस समय दुष्यंत ने उसको दूसरे ही रूप में देखा—

"वसने परिधूसरे वासना नियमक्षामसुखी धृतैकवेणिः ;
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घे विरहव्रतं बिभर्ति।"

शकुंतला के साथ कई विद्वानों ने शेक्सपियर की मिराडा की ना की है। मिराडा अपने पिता के साथ निर्जन द्वीप में रहती । यद्यपि उसे ससार का प्रत्यक्ष अनुभव न था, परतु पिता से ा प्राप्त करके उसने ससार की बातें जान ली थीं। वह मयी सरलता थी। उसमें कृत्रिम लज्जा नही थी। करुणा कोमलता उसकी स्वाभाविक वृत्तियाँ थीं। परंतु उसे प्रेम कठोर परीक्षा नहीं देनी पड़ी। दैव अनुकूल था। फ़र्डिनेंड त् वहाँ आ पहुँचा। दोनो परस्पर चाहने लगे। हम ाडा के सरल और निष्कपट व्यवहार पर मुग्ध और उसके । में सुखी होते हैं। हम मिराडा और शकुतला के प्रेम में वैध प्रेम की परा काष्ठा देख सकते हैं। परतु हिंदू साहित्य प्रेम का और एक आदर्श है। राधा का प्रेम अन्य साहित्य में भ है। उनमें लालसा अवश्य है, पर वह उस अवस्था को पहुँच है, जहाँ इहलोक को तिलांजलि दे दी गई है। एक प्रेम रूप होता है। उसकी उत्पत्ति बाह्य सौंदर्य से होती है। फिर अत सौंदर्य की ओर अग्रसर होता है। पार्वती के चरित्र कालिदास ने बाह्य सौंदर्य का पराभव और अत सौंदर्य की य अकित कर प्रेम की महत्ता दिखलाई है।

मुसलमानों के साहित्य में स्त्रियों के प्रेम की जो कथाएँ वर्णित उनमें पहले लालसा का दुर्दमनीय रूप दिखलाया गया है, र फिर त्याग की परा काष्ठा। प्रेम म जब तक लालसा भाव रहता है, तब तक उसका लक्ष्य रहता है 'प्राप्ति'। परतु यह लालसा नष्ट हो जाती है, जब प्रेम का निर्मल रूप ट होता है, तब उसमें त्याग की प्रधानता रहती है। सभी ों के साहित्य में, स्त्रियों के चरित्र में, यही बात दिखलाई है।

होमर के काव्यों में पुरुषों की विराट् वासना के अनेक चित्र हैं। सच पूछो, तो इलियड की सृष्टि विराट् प्रतिहिंसा और वासना से हुई, और उसी में उसका अंत भी हुआ। पेरिस की वासना और ग्रीस के योद्धाओं की प्रतिहिंसा से ट्रॉय का युद्ध हुआ, और एकीलस की कामना और प्रतिहिंसा से उसकी समाप्ति हुई। परंतु वासना और प्रतिहिंसा के इस भीषण दृश्य में हमें स्त्री-रूप की कोमलता का भी चित्र देखने को मिलता है। जिन्होंने इलियड पढ़ा है, उन्होंने एंड्रोमैट्री की मूर्ति को प्रेम से देखा होगा। वह ट्रॉय के प्रसिद्ध वीर हेक्टर की पत्नी थी। वह दृश्य कभी नहीं भूला जा सकता, जब हेक्टर के युद्ध-गमन के समय एंड्रोमैट्री अपने पति से बिछुड़ी है। हम एंड्रोमैट्री के हृदय में सरल मातृ-स्नेह और पवित्र पति-प्रेम देखकर मुग्ध हो जाते हैं। इलियड में ऐसी कितनी ही स्त्रियाँ हैं, जिनके चित्र हमारे हृदय-पटल पर चिरकाल के लिये अंकित हो जाते हैं। साहित्य और कला में स्त्री के रूप का क्यों इतना गौरव है, यह हम दांते के महाकाव्य से समझ पाते हैं। दांते के महाकाव्य में बीट्रिस ने ही उसको स्वर्ग का दर्शन कराया। दांते ने स्त्री के निस्स्वार्थ जीवन और पवित्र प्रेम का यह प्रभाव बतलाया है कि उसी के द्वारा मनुष्य स्वर्ग-भूमि में प्रविष्ट हो सकता है। स्त्री ही पथ-भ्रष्ट मनुष्य को सत्पथ पर लाकर देव-तुल्य बना सकती है। शेक्सपियर के नाटकीय पात्रों के विषय में रस्किन ने यह बिलकुल ठीक कहा है कि उसमें नायक कोई नहीं है, नायिकाएँ ही हैं। उसकी कार्डीलिया, डेस्डेमोना, रोज़ालिंड, हेलेना, वर्जीलिया आदि स्त्रियों का चरित्र दिव्य है। 'मर्चेंट ऑफ़् वेनिस' के समान किसी नाटक का अंत यदि सुखमय हुआ है, तो पोर्शिया के समान स्त्रियों की बुद्धि और दया से, और यदि 'रोमियो और जूलियट' के समान कोई नाटक दुःखांत हुआ है,

तो उसका कारण पुरुष ही है। अपत्य-स्नेह, सरलता और दुःख के विषय में सभी कवियों ने एक ही भाव के उद्गार प्रकट किए हैं। अतएव यही विश्व-भाव है। इसी का संकेत करके एक कवि ने कहा है—

"Above the olympian hill I soar!
Above the flight of Pegasian wing!
The meaning not the name I call"

जो सच्चे कवि हैं, वे देश और काल के घेरे से परे हैं। देश और काल का आश्रय ग्रहण कर, उनमें रहकर, उन्हीं के उपकरणों का संग्रह कर, वे सभी देशों और सभी कालों के लिये उपयुक्त आदर्श की सृष्टि करते हैं।

कला

सभ्यता आवश्यकताओं की जननी है, और आवश्यकता आविष्कारों की। सभ्यता के आदि काल में मनुष्यों की आवश्यकताएँ परिमित होती थीं, अतएव उनकी पूर्ति के लिये उन्हें विशेष परिश्रम भी करना पड़ा। प्रकृति से ही उन्हें अपने जीवन की सभी सामग्री मिल जाती थी। तब प्रकृति के साथ उनका घनिष्ट संबंध था। जब प्रकृति से मनुष्यों का संपर्क छूट जाता है, तब वे सभ्यता के पथ पर अग्रसर होते हैं। जब सभ्यता की उन्नति होती है, तब मनुष्यों की आवश्यकताएँ भी बढ़ती हैं, और तभी उनकी पूर्ति में उनकी बुद्धि का विकास होता है। कला सभ्यता का निदर्शन है। कला कृत्रिम है। वह मनुष्यों की सृष्टि है। जब तक मनुष्य प्रकृति के वशीभूत रहता है, तब तक कला की ज़रूरत नहीं रहती; और इसीलिये उसकी सृष्टि भी नहीं होती। जब मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब वह प्रकृति के विरुद्ध अपनी सृष्टि करता है। कला मानव-शक्ति की महत्ता सूचित करती है। वह मनुष्यों की प्रकृति-विजय का चिह्न है। कुछ लोगों का ख़याल है कि कला में मनुष्य प्रकृति का अनुकरण करता है। परंतु यह भ्रम है। अनुकरण करने में सजीवता नहीं आ सकती। यदि कला प्रकृति का अनुकरण-मात्र है, तो कहना चाहिए, वह उसकी प्राण-हीन छाया है। उसका कुछ भी महत्त्व नहीं है। जब हम सजीव प्रकृति का दर्शन कर सकते हैं, तब उसकी निर्जीव छाया के लिये उद्योग क्यों करें? सच बात तो यह है कि कला प्रकृति का

जब हम किसी चित्र में वन का दृश्य देखकर मुग्ध होते है, तब प्रकृति के कौशल पर ध्यान नहीं देते। उस समय हम चित्रकार के कला-नैपुण्य की प्रशंसा करते हैं। चित्र में चित्रकार की अंतर्निहित शक्ति लीन रहती है। मनुष्यों के हृदय में बाह्य जगत् प्रविष्ट होकर नवीन रूप धारण कर लेता है। चित्र मनुष्य के अतर्जगत् का दृश्य है, बाह्य जगत् की प्रतिच्छाया नहीं।

मानव जाति भिन्न भिन्न खडों मे विभक्त हो गई है। देश और काल ने उनमें बड़ा विभेद उत्पन्न कर दिया है। परतु इस विभिन्नता में भी एक समता है। सभी में मनुष्यत्व का गुण वर्तमान है। वह मनुष्यत्व क्या है? मनुष्यों की वह विशेषता क्या है, जो उन्हें अन्य पशुओं से पृथक् कर देती और सब मनुष्यों को एक सूत्र में गूँथ देती है? वह है ज्ञान लिप्सा। सभी मनुष्यों में यह गुण विद्यमान है। साहित्य और विज्ञान उसी के फल हैं, और कला तथा सगीत उसी के परिणाम।

कला किस जिज्ञासा का फल है? मनुष्य चित्रों पर अपने अंतःकरण की छाया अकित करके क्या देखना चाहता है? वह ध्वनियों की गति निश्चित करके सगीत के द्वारा अपनी किस अव्यक्त भावना को व्यक्त करना चाहता है? वह पत्थर और मिट्टी के मेल से एक विशाल भवन निर्मित करके अपने हृदय की किस उच्च अभिलाषा को पूर्ण देखना चाहता है? वह प्रकृति की स्वच्छंदता नष्ट करके, उसकी लीला को एक क्षुद्र सीमा में परिमित करके, उद्यान में अपनी किस शक्ति को प्रत्यक्ष करना चाहता है?

जब मनुष्य ने ससार का पहले पहल दर्शन किया होगा, तब उसने प्रकृति की अनत शक्ति का अनुभव किया होगा। तब क्या उसने यह नहीं सोचा होगा कि यह सब किसके लिये है? कहा जाता है, अनत विश्व के सामने मनुष्य अपनी क्षुद्रता का अनुभव

करता है। परंतु क्या क्षुद्र मानव-जाति ही के लिये प्रकृति ने अपना यह अनंत अंचल फैला रक्खा है? क्या क्षुद्र मनुष्यों ही के लिये सूर्य और चंद्र बनाए गए हैं? यह निःसीम अरण्य-माला, यह गगनस्पर्शी गिरि-समूह, यह समुद्र का अनंत वक्षःस्थल, यह प्रकृति का विराट् रूप क्या क्षुद्र मनुष्यों के उपभोग के लिये है? नहीं, मनुष्य क्षुद्र नहीं है। क्षुद्र के लिये इतना आयोजन नहीं हो सकता। वह भी अनंत का प्रतिबिंब है। अनंत प्रकृति को देखकर उसने अपने अनंत अंतर्जगत् का अनुभव किया, और उसी अनंत की भावना को स्पष्ट करने के लिये कला की सृष्टि हुई। कला मनुष्य की अनंत शक्ति का परिचय देनेवाली है।

कला की उत्पत्ति मनुष्यों के सौंदर्य-बोध से हुई है। मनुष्यों में सौंदर्य-बोध स्वाभाविक है। शिशु भी सुंदर वस्तु देखकर उसकी ओर आकृष्ट होता है। पर सौंदर्य है क्या? यह बतलाना सहज नहीं। प्रायः देखा जाता है कि जो वस्तु एक की दृष्टि में सुंदर है, वही दूसरे की दृष्टि में कुत्सित। व्यक्तिगत रुचि को छोड़ देने पर भी, हम यह देखते हैं कि एक जाति जिसे सुंदर समझती है, उसे दूसरी जाति कुरूप कहती है। एक जाति का भी सौंदर्य-बोध कालानुसार विभिन्न हो जाता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि सौंदर्य काल और देश से मर्यादित है। इसका कारण यह है कि सौंदर्य एक मानसिक अवस्था है। वह किसी वस्तु में नहीं, मनुष्यों के मन में है।

एक विद्वान् का कथन है कि धर्म ही सब ललित कलाओं का मूल-स्रोत है। मनुष्यों ने आज तक कलाओं में जो उन्नति की है, वह उनके धार्मिक भावों की प्रेरणा से ही हुई है। अब विचारणीय यह है कि धर्म की उद्भावना से सौंदर्य का क्या संबंध है। यह संबंध जान लेने पर प्रकट हो जायगा कि जिस सौंदर्य की

अनुभूति के लिये भिन्न भिन्न कलाओं की सृष्टि हुई है, वह केवल मनुष्यों की एक धार्मिक अवस्था सूचित करता है।

लोकोक्ति प्रसिद्ध है—'सत्य शिव सुदरम्'। अँगरेज़ी में कवि कीट्स की यह उक्ति खूब प्रसिद्ध है—'Truth is beauty' अर्थात् सत्य ही सौंदर्य है। जो असत्य है, वह सुंदर नहीं। पर क्या यह सच है? संसार में क्या सभी सत्य सौंदर्यमय होते हैं? इसके विपरीत हम यह देखते हैं कि जो मिथ्या है, वही अधिक सुंदर है। जब तक पहाड़ों का सत्य रूप नहीं देखते, तभी तक वे हमें रमणीय और सुंदर प्रतीत होते हैं। ज्यों ही हम उनके पास पहुँच कर उनका यथार्थ रूप देख लेते हैं, त्यों ही हमारा पहले का भाव नष्ट हो जाता है। इसीलिये कुछ लोगों की यह धारणा हो गई है कि सौंदर्य केवल काल्पनिक है, मिथ्या है, वह जीवन की मरीचिका है, उसका अस्तित्व नहीं।

यह तो हम कह आए हैं कि सौंदर्य केवल मानसिक अवस्था है। मन को जिसकी चाह होती है, वही उसे सुंदर जान पड़ता है। मनुष्य अनंत समुद्र की नीलिमा, सध्याकालीन आकाश की लालिमा और अभ्रभेदी पर्वतों की उत्तुंग शृंगमाला देखकर उन्हें तभी सौंदर्यमय कहता है, जब उसे संसार के वैभव से विरक्ति अथवा अरुचि हो जाती है, मूक प्रकृति की निश्चल शोभा तभी उसके मन में एक ऐसी भावना उत्पन्न कर देती है, जिसके लिये वह सदा लालायित रहता है।

प्रकृति सत्य ही का एक दूसरा रूप समझी जाती है; अर्थात् प्रकृति के राज्य में जो कुछ इंद्रिय गोचर होता है, वह सत्य कहलाता है। जो इंद्रिय से अनुभूति नहीं, उसे सत्य कहने का साधारण लोग साहस नहीं करते। परंतु हमें स्मरण रखना चाहिए कि प्रकृति का अंत इंद्रिय गोचरों ही में नहीं हो जाता। कुछ तो प्रत्यक्ष रूप

से हम पर प्रभाव डालते हैं, और कुछ अप्रत्यक्ष रीति से। सामने एक जरा-जीर्ण, कुष्ठ-रोग से पीड़ित मनुष्य को देखकर कुछ लोग घृणा से मुँह फेर लेते हैं। पर कुछ ऐसे भी होते हैं, जिनके हृदय में ऐसे दृश्यों से दया-भाव का संचार होता है, और वे उसकी सेवा में तत्पर हो जाते हैं। ऐसे ही लोग जब इन असहाय और दयनीय मनुष्यों की अवस्था का चित्र खींच देते हैं, तब संसार मुग्ध हो जाता है। वीभत्स वस्तु के दर्शन से साधारण मनुष्यों के हृदय में घृणा और भय के भाव उदित होते हैं। पर, तो भी, वह कविता का एक प्रधान विषय समझा गया है। जिस किसी को वीभत्स-रस की अवतारणा में सफलता हुई है, उसे कला-कोविदों में अच्छा स्थान मिला है। वीभत्स में सौंदर्य का दर्शन करना कला की कुशलता है। तात्पर्य यह कि सौंदर्य वस्तुगत नहीं है। वह केवल मन की एक अवस्था है। अतएव सौंदर्य के इस स्पष्टीकरण से कला-कोविदों का उद्देश मनुष्यों की मानसिक अवस्था को उन्नत करना है। सभी धर्मों का यही उद्देश है। ग्रीक-जाति में कभी धर्म का दूसरा नाम सौंदर्य था।

योरप में प्रागैतिहासिक काल के चित्र पाए गए हैं। स्पेन के उत्तर में अल्टा मीरा नाम की पुरानी गुफाएँ हैं। उनकी छतों पर कितने ही रंगीन चित्र अंकित हैं। विद्वानों की राय है कि इन चित्रों को बने हज़ारों वर्ष हो गए। अब विचारणीय यह है कि इन चित्रों के लिये उस गुफा के आदिम निवासियों ने इतना परिश्रम क्यों किया? क्या यह उनके अंध-विश्वास का फल है? कुछ लोगों की राय में प्राचीन काल के मनुष्यों की यह धारणा थी कि जिन जंतुओं का चित्र वे खींच रक्खेंगे, वे उनके वशीभूत हो जायँगे। कदाचित् चित्र-रचना, मूर्ति-पूजा की तरह, उनके धार्मिक विश्वास का परिणाम हो। अथवा यह भी संभव है कि ललित कलाओं की

सृष्टि से जो आनंद होता है, उसी की उपलब्धि के लिये उन्होंने यह चित्रांकण किया हो। कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि जिन जंतुओं के चित्र उन्होंने खींचे हैं, उनसे उनका घनिष्ठ—रक्त-मांस का—संबंध था। उन्हीं से उनके प्राणों की रक्षा होती थी, और उन्हीं से वे अपने शरीर की रक्षा करते थे। अतएव जिनसे उनका यह संबंध था, उनको कल्पना द्वारा; रेखांकित कर, पुनर्जन्म देना उनके लिये सर्वथा स्वाभाविक था। यही तो कला का एकमात्र उद्देश है। विश्व से मनुष्य का जो संबंध है, विश्व मनुष्य के पास जिस रूप में प्रकट होता है, विश्व की सामग्री से मनुष्य जो आनंद, संतोष और सुख-दुःख का अनुभव करता है, उसी को वह प्रकाशित करने की चेष्टा करता है। एक ओर अनंत विश्व-प्रकृति नित्य नवीन रूप धारण कर उपस्थित होती है, और दूसरी ओर मनुष्य विश्व *की ज्ञेय और अज्ञेय शक्ति के आवर्त में पड़कर उसके रहस्य खोलने* की चेष्टा कर रहा है। वह सदैव यह जानने के लिये उत्सुक रहता है कि विश्व क्या है? हमसे उसका क्या संबंध है? जीवन की सार्थकता क्या है? मानव-जीवन की इन्हीं भावनाओं को व्यक्त करने के लिये कला की सृष्टि होती है। जीवन के संबंध में कला-कोविद की जितनी अभिज्ञता रहती है, जो विश्वास रहता है, उसे ही वह अपने चित्रों में प्रकट करता है।

चीन की सभ्यता बड़ी प्राचीन है। प्राचीन काल में भी वह अपने कला-कौशल के लिये विख्यात था। चीन की चित्र-कला में क विशेषता है, जो उसी की संपत्ति है। आगे हम उसी विशेषता का उल्लेख करते हैं।

योरप में लोगों की यह धारणा हो गई है कि कला का जन्म मनुष्यों की स्वाभाविक अनुकरण-प्रवृत्ति का फल है। परंतु यह म है। इसमें संदेह नहीं कि अनुकरण में भी एक विशेष सुख

है। परंतु जो सुख सृष्टि करने में है, वह अनुकरण करने में नहीं। जो है, उसकी नक़ल करने से मनुष्य तृप्त नहीं हो सकता। वह यह सोचता है कि यह तो है ही, इसमें हमारा कर्तृत्व कहाँ? हम तो जगत् को वह देना चाहते हैं, जो हमारा हो।

योरप के चित्र देखने से यह ज्ञात होता है कि वहाँ के चित्रकार अपने विषय पर कितना दख़ल रखते थे। परंतु इससे क्या हम यह कह सकते हैं कि माइकेल एंजलो ने शरीर-विद्या का रहस्य जानने के लिये अपने चित्रों की रचना की है? चित्र का प्राण आकृति नहीं। हाँ, आकृति में उसका प्राण रहता है। आकृति केवल एक उपाय-मात्र है, जिसके द्वारा चित्रकार अपने उद्देश को व्यक्त करता है।

पाश्चात्य चित्रों में पूर्णता की ओर चित्रकारों की प्रवृत्ति ख़ूब देख पड़ती है। यही कारण है कि चित्र की सभी बातें चित्र में ही ख़तम हो जाती हैं। फिर कुछ शेष नहीं रह जाता। परंतु चीनी चित्रकारों में ऐसी पूर्णता का आदर नहीं है। उनका कथन है कि जहाँ पूर्णता है, वहीं अंत है, वहीं मृत्यु है। इसीलिये वे ससीम को स्वीकार नहीं करते। यही कारण है कि चीन के चित्रों में इतना शून्य स्थान रहता है कि उसमें हमारी कल्पना निर्बाध विचरण कर सकती है। चीन के चित्रकारों ने विश्व की जीवनी-शक्ति को मनुष्य की प्रकृति में व्यक्त करने की आवश्यकता कभी नहीं समझी। उन्होंने गति अथवा शक्ति के रूप में भगवान् की कल्पना की है। जीवन की अपरिवर्तनीय गति के भीतर जो नित्य नियत परिवर्तन हो रहा है, उसे उन लोगों ने ग्रहण किया है। चीनी चित्रों में यह दृश्य प्रायः ख़ूब अंकित किया जाता है कि कोई कवि जल-प्रपात की शोभा देख रहा है। जल-प्रपात ही जीवन का स्वरूप है। उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहते हैं। परंतु देखने से यही प्रतीत होता है कि जल-धारा में

कोई परिवर्तन नहीं हुआ। आकाश में जिस प्रकार हंसों का दल उड़ता चला जाता है, उसी प्रकार हम लोग भी घूमते रहते हैं। पर हम लोग श्रांत नहीं होते, अपनी यात्रा के अवसान के लिये अधीर नहीं होते। जिस गति का शेष नहीं, जो अनंत और शाश्वत है, उसी के अंतर्गत होकर हम लोग परमानंद प्राप्त करते हैं।

चीन की दृश्यांकन-कला पर स्वीडन के एक विद्वान् ने यह सम्मति दी थी—

'If one wished to describe in one word the essential character and ultimate aim of Chinese landscape-painting, that word should be infinity All that to the artist is implied in that word of freedom from the fetters of the material world, of visionary suggestion, of contemplation of the hidden mysteries of nature reflected in his soul flows as an under current through the whole wealth of landscapes in monochrome produced during the Sung period These landscapes are no mere representations of nature in the sense commonly attributed to this term, but impressionistic renderings of inner moods rather than of outward appearances. In them the objective, motive seems to sink completely into the peaceful depths of the creative soul and to reissue brighter and stronger, replete with an inner life that is suggested by means of tone and rhythm'

अर्थात् यदि एक ही शब्द में कोई चीन की दृश्यांकन-कला की विशेषता कहना चाहे, तो उसके लिये वह शब्द 'अनंत भावना' है। चीन के दृश्य चित्रों में इसी भावना का स्रोत बह रहा है,

जिससे सांसारिक बंधनों से मुक्ति, कल्पना की अभिव्यक्ति और अंतरात्मा की विश्व-चिंता सूचित होती है। इन चित्रों में प्रकृति का बाह्य दृश्य अंकित नहीं है, किंतु अंतःकरण पर उसका जो चित्र उदित होता है, वही इनमें परिस्फुटित होता है। इनमें वस्तु-विशेष का उद्देश आत्मा में लीन हो जाता और फिर अंतर्जीवन से युक्त हो, विशेष प्रभावान्वित होकर, प्रकट होता है।

मनुष्य वर्तमान में व्यस्त रहता है, और भविष्य की उसे चिंता रहती है। परंतु अतीत से उसका कोई संपर्क नहीं। तो भी वह अतीत से अपना संबंध नहीं छोड़ना चाहता। मनुष्य का ज्ञान-क्षेत्र परिमित है। अतीत में कुछ ही दूर तक उसका ज्ञान पहुँचता है। परंतु वह उतने ही से संतुष्ट नहीं होता। वह कल्पना के बल से अनादि और अनंत अतीत के गह्वर में प्रवेश करता है। जो विद्वान् हैं, सत्य-ज्ञान के उपासक हैं, वे मनुष्य की इस चेष्टा का उपहास करते हैं। उन विज्ञों की राय है कि ऐसी कल्पनाओं से कोई लाभ नहीं। जब मनुष्य अतीत काल के किसी अज्ञात राक्षस-नरेश की कथा कहता है, तब ऐतिहासिक उसके अस्तित्व का प्रमाण जानना चाहते हैं। जब मनुष्य किसी दस सिर और बीस हाथवाले एक वीर की कल्पना करता है, तब कृतविद्य पुरुष उसकी मूर्खता पर आश्चर्य करते हैं। तो भी मनुष्य इन काल्पनिक कथाओं को छोड़ना नहीं चाहता। इन कथाओं में असंभव बात कोई नहीं है। नदी में डालते ही घोड़ा मनुष्य हो जाता है, मृत मनुष्य जीवित हो जाता है, जीवित मनुष्य तोता हो जाता है। मनुष्य अतीत के रहस्यागार से ऐसी ही घटनाओं से पूर्ण कथाओं का संचय करता है। मनुष्य ऐसा क्यों करता है? ऐसा करने का कारण यह है कि वह अनंत अतीत की संतान होने के कारण अतीत की अक्षय निधि का अधिकारी है। अतीत काल के गह्वर में कितनी जीवन-

धाराएँ आकर लुप्त हो गई हैं, इसका क्या कोई पता पा सकता है? अतीत के अंतस्तल पर जितने रत्न बिखरे पड़े हैं, उतने क्या वर्तमान में उपलब्ध हो सकते हैं? यदि नहीं, तो मनुष्य उन पर से अपना अधिकार क्यों छोड़ दे? अतीत में उसका गौरव है; अतीत में उसके जीवन का मूल है; अतीत में उसके जीवन का अधिकांश भाग है। वर्तमान में तो उसका जीवन बड़ा क्षुद्र है। तब वह अनंत जीवन पर अपना अधिकार क्यों न रक्खे? यही कारण है कि 'अतीत' कला का प्रधान विषय है। अब भी कल्पना के बल से मनुष्य उसमें सौंदर्य देखता और उससे एक अनिर्वचनीय आनंद का अनुभव करता है। राम और सीता को क्या कोई हिंदू प्रत्यक्ष नहीं देखना चाहता? उसकी यह इच्छा स्वाभाविक है। इसीलिये वह अपनी कल्पना से उनके चित्र अंकित करता है। इसी प्रकार वह अपने उन अज्ञेय पूर्वजों की स्मृति में अपनी कल्पना का प्रयोग करता है, जो विस्मृति के गर्भ में लीन हो गए हैं।

मनुष्य अतीत की जो कल्पना करता है, उसमें एक चिरंतन सत्य निहित है। वह सत्य यह है कि मनुष्य सभी देशों और सभी समयों में मनुष्य ही बना रहता है। इसी मनुष्यत्व के ज्ञान पर धर्म प्रतिष्ठित है। जो लोग काल्पनिक साहित्य की उपेक्षा करते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि हममें सदाचार का जो ज्ञान है, वह इसी काल्पनिक साहित्य की बदौलत। विज्ञान की ऐसी कोई शाखा नहीं, जो हमें यह बतला सके कि हमारे दैनिक जीवन में सत् कौन है, और असत् कौन। संसार में हम जो कुछ सत् और महत् देखते हैं, उसे मनुष्य ने अपने अंतर्जगत् में ही प्राप्त किया है। कहा जाता है, ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि की है। यदि हम चाहें, तो यह भी कह सकते हैं कि संसार में ईश्वर की सृष्टि मनुष्य ने

की है। ईश्वर के विषय में जो ज्ञान प्रचलित है, वह किसी बाह्य प्रेरणा—धर्मशास्त्र अथवा दर्शन-शास्त्र—का फल नहीं। ये धर्म-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र स्वयं उस ज्ञान के फल हैं। धर्म के जितने मूल-सिद्धांत हैं, वे सर्वत्र एक हैं। इसका कारण यह है कि वे मनुष्य के मनुष्यत्व से संबंध रखते हैं। अतएव देश और काल के कारण उनमें विरोध नहीं हो सकता। अतीत काल की जो कथाएँ आज तक बराबर चली आई हैं, उनमें उसी मनुष्यत्व का वर्णन है। बाल्यकाल में मनुष्य उन्हीं से मनुष्यत्व का आभास पाता है। सत् और असत् का जो ज्ञानांकुर उसके हृदय में जड़ जमा लेता है, उसका बीज उन्हीं में है।

अच्छा, यह मनुष्यत्व है क्या? इसे एक शब्द में 'प्रेम' कह सकते हैं। किसी कवि का कथन है कि प्रेम ही स्वर्ग है, और स्वर्ग ही प्रेम। प्रेम ही के कारण हमें असत्य से घृणा है; क्योंकि असत्य से प्रेम की रक्षा नहीं होती। ईश्वर का ज्ञान इसी प्रेम-भाव पर अवलंबित है। समाज का संगठन भी इसी प्रेम के आधार पर हुआ है। मतलब यह कि मनुष्य जो कुछ है, सो प्रेम ही के कारण। अतीत के रहस्यागार से मनुष्य उसी प्रेम को निकालता है। जितनी पौराणिक कहानियाँ प्रचलित हैं, उनमें हम प्रेम का परिणाम देखते हैं।

स्त्री और पुरुष में परस्पर जो आकर्षण है, उसका भी कारण प्रेम है। जब यह प्रेम-भाव संकुचित हो जाता है, तब उसकी महत्ता नष्ट हो जाती है। प्रेम पर अनंत अवलंबित है, अतएव वह स्वयं सीमा-बद्ध कैसे हो सकता है? इसी कारण अनंत प्रेम के लिये सीमा-बद्ध प्रेम का परित्याग किया जाता है। इसी कारण भगवान् बुद्ध ने राज्य का परित्याग किया, और भगवान् रामचंद्र ने सती सीता का। ग्रीस-देश में एक पौराणिक कथा प्रचलित है।

उसमें थिसीयस ने अपनी परिणीता स्त्री का परित्याग किया है परंतु उसने एक क्षुद्र प्रेम के लिये महत् प्रेम का परित्याग किया इसीलिये उसका यह कृत्य नीच समझा जाता है। त्याग क भाव महत् है। 'अवदान-शतक' में 'श्रेष्ठ भिक्षा' नाम की जो कथ है, उसमें त्याग का एक दूसरा रूप दिखलाया गया है। उसकी कथ यों है—

कोई भिक्षु भगवान् बुद्ध के लिये सर्व-श्रेष्ठ भिक्षा प्राप्त करने के विचार से निकला। वह नगर में ख़ूब घूमता रहा। किसी ने वस्त्र दिए, किसी ने भूषण, किसी ने कनक और किसी ने रत्न। परंतु भिक्षु को किसी से संतोष न हुआ। अंत को एक दरिद्र स्त्री मिली। उसके पास कुछ न था। वह केवल एक कपड़ा पहने थी। उसने वृक्ष की आड़ से अपना एक-मात्र वस्त्र उतारकर भिक्षु को दे दिया। भिक्षु कृतकृत्य हो गया। यह है सर्वस्व-समर्पण। ईसाई-धर्म के साहित्य में भी एक ऐसी ही कथा प्रसिद्ध है। ईसाई भक्तों में एलिज़बेथ का चरित्र प्रातःस्मरणीय है। यह आजन्म तपस्विनी रही। उसने सर्वस्व त्यागकर, यहाँ तक कि वस्त्र छोड़कर, सन्यास ग्रहण किया। एक चित्रकार ने उसके इस आत्मोत्सर्ग का चित्र अंकित किया है। वह जितना ही हृदय-द्रावक है, उतना ही पवित्र।

प्रेम ही में सेवा का भाव विद्यमान रहता है। स्वयं कष्ट सह-कर दूसरे का साथ देना प्रेम का परिचायक है। हिंदू स्त्री पति के लिये सभी कष्ट सहने को सदैव प्रस्तुत रहती है। हिंदुओं की पौराणिक कथाओं में ऐसी अनेक स्त्रियों के चरित्र वर्णित हैं। दमयंती की कथा प्रसिद्ध है। यहूदी-धर्मशास्त्र में रूथ नाम की एक स्त्री का चरित्र आदर्श वधू के रूप में अंकित किया गया है। पति की मृत्यु होने पर वह पुत्र-शोक से आतुर सास को छोड़कर वहाँ

गई। उसने खेतों में जाकर और दाने बीनकर अपनी वृद्धा की प्राण-रक्षा की।

प्रेम मनुष्य को सदैव महत् भाव की ओर आकृष्ट करत अब विचारणीय यह है कि जब मनुष्य के स्वभाव में प्रेम विद्यमान है, तब उसका पतन क्यों होता है? उत्तर यह जब प्रेम संकुचित हो जाता है, तब उसमें त्याग का भाव रहता। तब वह लालसा का रूप धारण कर लेता है। ल में केवल आकर्षण होता है। इस आकर्षण का कार इंद्रिय-वृत्ति। प्रेम मनुष्य की स्वाभाविक उद्दाम वृत्तियें संयत रखता है; परंतु लालसा उनको और भी उत्तेजि देती है। उसका अंत सदैव दुःखमय होता है। अतएव वैपरीत्य से मनुष्य को असत् का ज्ञान हो जाता है। जं प्रेम के विपरीत है, वही पाप है।

प्रेम मनुष्यत्व का मूल है, और मनुष्यत्व में कला का मूल है। कला के आदर्श के संबंध में विद्वानों में बड़ा मत-भेद है विद्वानों की राय में कला का आधार नैतिक आदर्श चाहिए। कुछ लोग यह समझते हैं कि कला का आदर्श होनी चाहिए। सभी देशों में ऐसे विशुद्ध कला-निदर्शक पाए जाते हैं। उदाहरण के लिये कोई चित्र लीजिए एक पाश्चात्य चित्रकार कैलडेरन का 'प्रोवेंस-देश का गुलाब का एक चित्र लेते हैं। इसमें नारी-सौंदर्य का एक रूप व्यक्त है। प्रोवेंस दक्षिण-फ्रांस में है। प्राचीन कवियों ने सुरा, और रमणी के कारण इसकी प्रसिद्धि कर दी है। इस चित्र में नैतिक आदर्श नहीं। इसमें विशुद्ध सौंदर्य है। इसी प्रक दूसरा चित्र वासंती है। उसमें उसी चित्रकार ने वसंत-क

है। वह है सौंदर्य का विकास। विचारणीय यह है कि इस सौंदर्य-विकास में मनुष्य का कौन-सा भाव प्रकट हुआ है?

मनुष्य, चाहे उसकी आत्मा कहिए या शरीर, किसी बाह्य शक्ति के द्वारा संसार में ठेल नहीं दिया गया; वह स्वयं विकसित हुआ है। "एकोऽहं बहु स्याम्"—वह एक रूप से ही भिन्नता को प्राप्त हुआ है। अतएव समस्त विश्व से उसका घनिष्ट—रक्त-मांस का—संबंध है। यदि मूक प्रकृति की शोभा देखकर हमारा हृदय प्रफुल्लित हो जाता है, तो उसका कारण यह है कि उसके साथ हमारी सहानुभूति है। इसी संबंध को प्रकट करने के लिये प्राचीन काल के विद्वानों ने प्रकृति में मनुष्यत्व का भाव आरोपित किया था। वह सत्य-युग था, जब मनुष्य वृक्षों से बात-चीत करते, नदियों से वैवाहिक संबंध तक जोड़ते, और पशु-पक्षियों को अपना कुटुंबी समझते थे। कला में हम विशुद्ध सौंदर्य के द्वारा मनुष्य की इसी स्वाभाविक सहानुभूति को जाग्रत् करते हैं। मनुष्य के साथ मनुष्य का स्वाभाविक संबंध है, चाहे वह उच्च हो, अथवा नीच, महात्मा हो अथवा दुराचारी। एक दुराचारी का जीवन—उसका सुख-दुःख, आशा-निराशा और उत्थान-पतन—हमारे लिये उतना ही घनिष्ट है, जितना एक महापुरुष का जीवन। हमारी समझ में कला की दृष्टि यही है। विश्व से मनुष्य का जो संबंध है, विश्व की सामग्री से वह जिस आनंद और संतोष, सुख और दुःख का अनुभव करता है, उसी को कला के द्वारा प्रकाशित करता है। यदि कला में इस संबंध की उपेक्षा की गई है, तो वह श्रेष्ठ कला नहीं। ऐसी कला से मनुष्य में सहानुभूति की उत्पत्ति होनी चाहिए। किसी कामुक के दुराचार का वर्णन अथवा कामोद्दीपक सौंदर्य का प्रदर्शन कला का उद्देश नहीं हो सकता; क्योंकि इससे मनुष्यत्व का

भाव नष्ट हो जाता है, मनुष्य पशु हो जाता है। यदि इस दृष्टि से कला के आदर्श पर विचार किया जाय, तो कोई भी मत-भेद नहीं हो सकता। सत् और असत् का संबंध मनुष्य के जीवन से है। नीति-शास्त्र का उद्देश मनुष्य की सत् की ओर प्रवृत्ति कराना है। सत् वही है, जिसमें मनुष्य का यथार्थ रूप प्रकट होता है। कला का भी उद्देश यही है। कुत्सित, असत्य और असत्, इनमें कोई भेद नहीं। असत्य से कभी कल्याण नहीं हो सकता, और न सत्य से कभी हानि। अतएव जो कला सत्य का अनुसरण करेगी, उससे मानव-जाति का कल्याण ही होगा।

कुछ विद्वानों की राय है कि आधुनिक कला अपने आदर्श से च्युत हो गई है। आधुनिक सभ्यता ने उसको जीवन का एक आडंबर बना दिया है। प्रश्न यह है कि क्या कला का यही रूप बना रहेगा? क्या उससे मनुष्य कुछ भी प्राप्त न कर सकेगा? सभ्यता से कला का संबंध अवश्य होना चाहिए; क्योंकि सभ्यता के केंद्र-स्थान नगरों में ही कला का विकास होता है। सभ्यता में विलासिता का ऐसा समावेश हो गया है कि कला भी विलासिता की एक वस्तु समझी जाती है। दुर्भिक्ष-पीड़ित देशों में रैफ़ल के चित्रों से लोगों को संतोष नहीं हो सकता। मतलब यह कि देश की समृद्धावस्था में ही कला आदरणीय हो सकती है। कला जीवन की वस्तु नहीं, वह सभ्यता का अलंकार है। साधारण लोगों की यही धारणा है। अतएव आज हम यह विचार करना चाहते हैं कि कला के द्वारा मानव-समाज का कुछ कल्याण होता है या नहीं?

मनुष्यों के समुदाय का नाम समाज है। एक संबंध-सूत्र रहने से ही भिन्न-भिन्न मनुष्य, अपने भेद-भाव को भूलकर, एकत्र रहते हैं। समाज का कल्याण इसी में है कि मनुष्यों का यह संबंध-सूत्र

दृढ़ बना रहे । जब यह संबंध-सूत्र शिथिल हो जाता है, तभी मनुष्यों में वैमनस्य और शत्रुता का भाव प्रबल हो उठता है। अतएव जीवन की वही अवस्था समाज के लिये श्रेयस्कर है, जिसमें मनुष्य अपने पड़ोसियों के साथ मिलकर रह सके। समाज का मूल सहयोगिता है, और वह सहयोगिता मनुष्य की स्वाभाविक सहानुभूति पर निर्भर है। यदि मनुष्य दूसरों के सुख-दुःख का अनुभव न कर सके, तो उसका जीवन सारहीन हो जाय। संसार की सर्वश्रेष्ठ वस्तु को पाकर भी मनुष्य संतुष्ट नहीं हो सकता, यदि वह केवल उसी की भोग्य वस्तु है। अतएव जब किसी आनंद पर मनुष्य का अधिकार हो जाता है, तब वह दूसरों को भी उस आनंद का अधिकारी बनाता है। वह आनंद स्वास्थ्य और चरित्र पर निर्भर है। समाज में उसी को सदाचार कहते हैं, जिससे उस आनंद की वृद्धि होती है। सत् और आनंद में कोई भेद नहीं। जो सत् है, वही आनंददायक है। यदि असत् की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति होती है, तो हमें जान लेना चाहिए कि मनुष्य में नीति-परायणता का अभाव है। कला मनुष्य की इसी नीति परायणता को उद्बोधित करती है। जो यथार्थ में सुंदर है, वह मनुष्य के हृदय को उन्नत करता, उसे पवित्र करता है। यही कारण है कि दैनिक जीवन में भी कला का व्यवहार होता है। दरिद्र भी अपनी कुटी में सौंदर्य का अनुभव करना चाहता है। पवित्रता में सौंदर्य है, इसी से मनुष्य सदैव पवित्र रहने का प्रयत्न करता है। इसके सिवा वह दैनिक व्यवहार की वस्तुओं को भी सुंदर बनाने की चेष्टा करता है। मनुष्य की इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति से कला की उत्पत्ति होती है। श्रेष्ठ चित्रकारों के चित्र इसी का फल हैं, इसलिये उनमें सत् का ही प्रचार होता है। 'मेरी' और यशोदा की मातृमूर्तियाँ रमणी को

मातृत्व की महत्ता बतलाती है। न्यूयार्क की स्वाधीनता-मूर्ति मनुष्य में स्वाधीनता का भाव जाग्रत् करती है। इस प्रकार कला मनुष्य के स्वभाव को प्रबुद्ध कर उसकी बुद्धि-वृत्ति को चैतन्य कर देती है, और तभी उसमें आत्मत्याग का भाव उत्पन्न होता है। इसी आत्म-त्याग पर समाज का कल्याण निर्भर है। इसी से मानव-चरित्र उन्नत होता है, और इसी से हरएक मनुष्य अन्य सभी मनुष्यों में आत्म-भाव आरोपित कर सकता है। विश्व की सभी वस्तुओं में हम विश्व-कर्मा की सौंदर्य-निपुणता का आभास पाते हैं। जर्मनी के एक कवि ने बिलकुल ठीक कहा है कि हम जितनी ही अधिक वस्तुओं को अपने हाथ में करते हैं, उतनी ही अधिक, हमारे जीवन में, आनंद की वृद्धि होती है। जूता बनाने अथवा महाकाव्य लिखने में, दोनो में मनुष्य की कर्तृत्व-शक्ति है, और दोनो उसी महत्ता को प्रकट करते हैं। उपेक्षणीय कोई भी नहीं। दोनो कलाओं की उन्नति से समाज का कल्याण होता है; क्योंकि उनसे मनुष्य की सौंदर्या-नुभूति का विकास होता है। परंतु दैनिक जीवन के व्यवहार में ही कला की उपयोगिता नहीं। मनुष्य का एक अनंत जीवन भी है। कला उस जीवन को भी पुष्ट करती है। मनुष्य की सभी वासनाएँ इस लोक में परिमित नहीं रहतीं। उसकी कुछ ऐसी भी इच्छाएँ होती हैं, जो उसको इस लोक से हटाकर एक अपार्थिव लोक में ले जाना चाहती हैं। उसी लोक में वह अपने जीवन को पूर्णावस्था देखता है। अतएव जब कला ऐसी इच्छाओं को जगाती है, तब मनुष्य में असंतोष और अतृप्त आकांक्षा का भाव प्रबल हो जाता है। उस समय वह जीवन का रहस्य जानने के लिये व्याकुल हो उठता है।

आधुनिक युग में मनुष्य ने ऐहिक सौंदर्य का उच्चतम आदर्श देख लिया है

असंतोष आधुनिक साहित्य और कला में प्रकट होने लगा है। आधुनिक कवियों और कला-कोविदों का लक्ष्य मनुष्य का अंतर्जगत् हो गया है। आधुनिक मूर्तिकारों में डेविड एड्स्ट्रेम का बड़ा नाम है। उसने अपनी मूर्तियों में मानव-जीवन का समस्त रहस्य—उसका मूल, उसका उद्देश, उसका विकास और उसका परिणाम—बड़े कौशल से व्यक्त किया है। अँगरेज़ी में एक कहावत है कि विचार ही वस्तु है। इस कथन में सत्यता है। एड्स्ट्रेम की कल्पना इसी प्रकार की है। उसमें वैसी ही दृढ़ता है। पत्थरों के ऊपर उसने जो विचार प्रकट किए हैं, वे जीवन-संग्राम में पीड़ित मनुष्यों को शांति प्रदान करेंगे। कला में उसका 'विजयी मानव' महाकाव्य के समान सदैव अमर रहेगा।

प्राचीन ग्रीक-शिल्प-कला में लाओकून (Laocoon)-नामक मूर्ति बहुत प्रसिद्ध है। अदृष्ट शक्ति के हाथ में पड़कर मनुष्य किस प्रकार एक खिलौना बन जाता है, यही उस मूर्ति में प्रकट किया गया है। लाओकून 'ट्राय' में अपॉलो के देव-मंदिर का पुरोहित था। उसके ग्रीक लोगों के विरोधी होने के कारण 'मिनर्वा' उस पर क्रुद्ध हो गई। ग्रीक-पुराणों में मिनर्वा 'शक्ति' की देवी है। क्रोध के आवेश में मिनर्वा ने उसके दो पुत्रों पर अजगर छोड़ दिए। उनको बचाने के लिये लाओकून गया, तो वह स्वयं नाग-पाश में बँध गया। इसी कथा को एक ग्रीक-शिल्पकार ने पत्थर में प्रत्यक्ष कर दिखाया है। इस मूर्ति को देखकर एड्स्ट्रेम ने एक दूसरी मूर्ति गढ़ने का विचार किया। लाओकून मनुष्य के पराजय की प्रतिमूर्ति है; परंतु एड्स्ट्रेम ने मनुष्य-विजय को प्रदर्शित करने का निश्चय किया। 'विजयी मानव' उसी निश्चय का फल है। यहाँ भी साँप और मनुष्य में युद्ध हो रहा है। परंतु मनुष्य पराभूत नहीं हुआ है। जय-श्री उसी ने प्राप्त की है। विजयी मानव के चारो ओर

चार चित्र खोदे गए हैं । प्रथम चित्र में मनुष्य का दैनिक जीवन दिखलाया गया है । द्वितीय चित्र से यह प्रकट होता है कि मनुष्य ने अपनी विचार-शक्ति द्वारा विज्ञान की कितनी उन्नति की है । तृतीय चित्र में मनुष्य के सौंदर्य-ज्ञान का आभास मिलता है । इसमें शिल्पी ने ललित कला द्वारा मनुष्य का विजयोल्लास दिखलाया है । चतुर्थ चित्र का विषय है देशात्मबोध, आत्मत्याग, परोपकार और धर्म-कर्म द्वारा सिद्धि-लाभ । इन चित्रों के साथ स्तंभ-स्थित युवकों की मूर्तियाँ देखने से शिल्पकार का उद्देश स्पष्ट हो जाता है । मनुष्य पाप के विरुद्ध लड़ते-लड़ते उन्नति करता और अपने पुरुषार्थ द्वारा अदृष्ट के निष्ठुर परिहास को व्यर्थ कर देता है । ये तीन मूर्तियाँ शिक्षा, एकाग्रता और दृढ़ प्रतिज्ञा को प्रकट करती हैं । यदि ये तीनो मिलकर चेष्टा करें, तो सभी कार्यों में सिद्धि प्राप्त हो सकती है । 'विजयी मानव' के उक्त विवरण से यह प्रकट हो जाता है कि आधुनिक कला का लक्ष्य क्या है । प्राचीन युग के शिल्पकार पत्थरों में मनुष्य के शारीरिक सौंदर्य को व्यक्त करने की बड़ी चेष्टा करते थे । परंतु आधुनिक शिल्पकार ने अपना आदर्श बदल दिया है । रोदाँ, मेस्त्रोविक आदि शिल्पकारों ने देह को विकृत करके भी आत्मा के रहस्य को पाने की चेष्टा की है । फ्रांस के प्रसिद्ध शिल्पकार वोरडेले का भी यही उद्देश है । उसने शरीर को उतना ही अंकित किया है, जितना भावाभिव्यक्ति के लिये आवश्यक था ।

वोरडेले की कृतियों में सर्वत्र एक ही आदर्श का अनुसरण नहीं किया गया । पहलेपहल उसने जितनी मूर्तियाँ निर्मित कीं, उन पर ग्रीक-आदर्श का प्रभाव स्पष्ट है । उसकी 'मेरी' की मूर्ति फ्रांस की कला का नमूना है, और 'जोन ऑफ़् यार्क' में मध्य-युग का आदर्श विद्यमान है । वोरडेले की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने कला में वीरत्व का निर्माण किया है । कला में लालित्य से

उन्माद आता है, परंतु वीरत्व से उत्साह का संचार होता है। आधुनिक कला में वीरत्व की उपेक्षा-सी हो रही थी। वोरडेले ने कला का यथार्थ पथ निर्दिष्ट कर दिया।

आधुनिक कला की जो स्थिति है, उसका दिग्दर्शन यहाँ कराया जा चुका है। अब विचारणीय यह है कि भविष्य में उसका क्या आदर्श होगा? कुछ समय पहले, वायना के एक पत्र में, एक विद्वान् ने एक लेख प्रकाशित किया था। धर्म किधर जा रहा है, और भविष्य में वह कैसा रूप धारण करेगा, इस विषय का विचार करते हुए उसने अपने लेख में कला को ऊँचा स्थान दिया है। उसके कथन का सारांश यह है—

"भविष्य में वीरात्मक तथा सौंदर्यात्मक धर्म के आचार्यों तथा पैग़ंबरों का पद कला-कोविदों को प्राप्त होगा। सच्ची कला केवल सौंदर्यात्मक ही नहीं होती, वह वीरात्मक भी होती है। इस नए धर्म में ही पहलेपहल कला का उचित स्थान निर्दिष्ट होगा। ईसाई-धर्म ने कला का उपयोग अनावश्यक भूषण के रूप में ही किया है। सभ्यता का नया युग उसका आशय समझने में असमर्थ रहा। परंतु भविष्य-धर्म उसे अपने मंदिर के केंद्र में स्थापित करेगा।"

कला कौन-सा कार्य करती है? वह मनुष्यों को ऐक्य में बाँधती, उन्हें शक्ति-प्रदान करती और विद्रूप तथा साधारण स्थान से निकालकर वीरात्मक सौंदर्य के भविष्य राज्य में ले जाती है। अतएव नए युग में कला का धार्मिक संदेश राजनीतिक तथा शिक्षात्मक ही होगा। वह केवल सर्व-साधारण की मनो-विनोद की सामग्री ही न देगी, किंतु मनुष्य-जाति के आगे एक नया संदेश, नया धर्म भी उपस्थित करेगी।

वह भविष्य-धर्म उत्तरी तथा दक्षिणी योरप के पैगन-धर्म के साथ उस संपूर्ण सौंदर्य को ग्रहण करेगा, जो ईसाई-धर्म ने योरप

को दिया है। यद्यपि ईसाई-धर्म का लोप हो जायगा, तथापि व
अपनी सौंदर्य-संपत्ति अपने आध्यात्मिक उत्तराधिकारियों के लिये
उनको समृद्धिशाली होने को, छोड़ जायगा। सौंदर्य तथा वीरत
के धर्म को वह प्रेम का भाव दे जायगा।

यह सच है कि जगत् और प्रकृति भलाई और बुराई के चे
के बाहर स्थित हैं; पर वे विधान के बाहर नहीं हैं। वे सदाच
नहीं, परंतु सुंदर हैं। उनका विधान ऐक्य है, जो अणु से लेव
ग्रह-मंडल तक सभी वस्तुओं पर शासन कर रहा है। देवत
संबंधी नैतिक विचार में ऐसी अस्थिरता है कि उसके कारण ह
पहले युक्त्याभास की राह में पड़े, और बाद को नास्तिक हो गए
परंतु ईश्वर का सौंदर्यात्मक विचार ही हमें इस खंदक से बा
निकालता और ईश्वर तथा वास्तविक बातें, दोनो को हमारे लि
सुरक्षित रखता है। सदाचार की जड़ मानव-समाज में है, अ
सौंदर्य-विज्ञान की दैवी प्रकृति में।

प्रकृति का एक काम है। वह फूल खिलाती, वृक्ष उगाती, अ
जीव-जंतुओं को उत्पन्न करती है। वह सभी को सुंदर, बलव
और पूर्ण बनाती है। प्रत्येक वस्तु का यह प्रधान कर्तव्य है कि
उसके विशेष सौंदर्य को प्राप्त करे।

उच्च सदाचार मनुष्य को यह आदेश देता है कि जो ल
दायक हो, उसे वह ग्रहण करे। वह आदर्शों की आज्ञा का पा
करने की अनुमति देता है। इस परिस्थिति में, सौंदर्य की र
करने से, वीरात्मक आदर्शों का सौंदर्यात्मक आदर्शों के साथ स
लय हो जाता है। प्रत्येक वीरात्मक कार्य सुंदर हो जाता है,
सौंदर्य के लिये आत्मत्याग का प्रत्येक कार्य वीरात्मक हो जाता

जिस दिन ऐसा होगा, उसी दिन कला की सार्थकता सिद्ध
जायगी।

उपसंहार

किसी विद्वान् ने लिखा था कि साहित्य-शब्द में
का भाव विद्यमान है। इसमें संदेह नहीं कि स
का फल है। मनुष्य पृथ्वी पर जन्म लेता है, कुछ
सुख-दुःख का अनुभव करता है, और अंत में वह
गर्भ में लीन हो जाता है। अधिकांश मनुष्यों
प्रकार व्यतीत होता है। भविष्य-संसार के लिये
नहीं छोड़ जाते। संसार में ऐसे थोड़े ही
जिनकी कृति अक्षय होती है। साहित्य में
स्थान पाती हैं; परंतु साहित्य के
नहीं है। उसमें क्षुद्रों का भी गौरव-पूर्ण
जीवन केवल मृत्यु के लिये है, उन्हीं से
समाज अक्षय है। एक जाता है, तो दूसरा
इस प्रकार मनुष्य-समाज चिरंतन है। समाज
जो स्रोत बह रहा है, उसका न आदि है, न
सर्व-श्रेष्ठ महापुरुष है, वह भी इस समाज की
अनंत काल से ज्ञान की जो निधि संचित
हमें समाज ही की बदौलत प्राप्त होती
भाषा का ज्ञान होता है। भाषा समाज
निर्माण में छोटे-बड़े, सभी संलग्न हैं
साहित्य में संसार से मनुष्य का
तीनों युगों का मिलन होता है।
नहीं, जो इस विराट् सम्मिलन में न

भी ऐसी क्षुद्र कृति नहीं, जिसका इस सम्मिलन में स्थान
ो।

हा जाता है, साहित्य समाज का प्रतिबिंब है। समाज में
र विरोधी भावों का अभाव नहीं। साहित्य में भी विरोध
जाता है। धर्म, दर्शन, विज्ञान, इतिहास और काव्य, सभी
येय एक मात्र सत्य है। परंतु इनमें कभी-कभी बड़ा भारी
व हो जाता है। विचारणीय यह है कि सम्मिलन में यह
ध कैसा है।

छ विद्वानों की राय है कि वर्तमान युग में विज्ञान की आलो-
से धर्म का संहार हो रहा है। जो धर्म भक्ति-प्रधान हैं, उनका
से संपर्क नहीं। इसी से वे ज्ञान के विरोधी कहे जाते हैं।
कितने तत्व विज्ञान के आविष्कृत तत्वों से मेल नहीं खाते।
कभी किसी प्रचलित धर्म अथवा संस्कार के विरुद्ध किसी
की स्थापना की जाती है, तब विश्वास की दुहाई दी जाती
परंतु सत्य अखंड और संपूर्ण है। परिवर्तन के भीतर सत्य
खंड रूप को प्राप्त करना ही यथार्थ विश्वास है। यही विश्वास
को भी स्थिरता देता है। यदि किसी धर्म में सत्य है, तो
त्य भी विशाल और पूर्ण होगा। जब उसकी सीमा संकु-
कर दी जाती है, तभी धर्म में जड़ता आती है। सत्य उसकी
को दूर और धर्म को जीवित करता है।

गत् के समस्त तत्त्वों के मूल में एक सत्य है। वह सत्य यह
एक शक्ति अपने को दो रूपों में प्रकाशित कर रही है।
गत् की शक्ति बाह्य जगत् में अपने को व्यक्त करती आ रही
परंतु इस तत्त्व को स्वीकार कर लेने से ही काम न चलेगा।
ी एक विशेष अवस्था होती है, जिसको प्राप्त कर लेने से
द्धि नहीं रह जाती। जन्म से मृत्यु और मृत्यु से जन्म, वृद्धि

उपसंहार

किसी विद्वान् ने लिखा था कि साहित्य-शब्द में ही सम्मिलन का भाव विद्यमान है। इसमें संदेह नहीं कि साहित्य सम्मिलन ही का फल है। मनुष्य पृथ्वी पर जन्म लेता है, कुछ काल तक यहाँ सुख-दुःख का अनुभव करता है, और अंत में वह अनंत काल के गर्भ में लीन हो जाता है। अधिकांश मनुष्यों का जीवन इसी प्रकार व्यतीत होता है। भविष्य-संसार के लिये वे कोई भी चिह्न नहीं छोड़ जाते। संसार में ऐसे थोड़े ही महापुरुष जन्म लेते हैं, जिनकी कृति अक्षय होती है। साहित्य में महापुरुषों की ही रचनाएँ स्थान पाती हैं; परंतु साहित्य के लिये एक-मात्र वही आवश्यक नहीं है। उसमें क्षुद्रों का भी गौरव-पूर्ण स्थान है। जिन लोगों का जीवन केवल मृत्यु के लिये है, उन्हीं से समाज बनता है। यह समाज अक्षय है। एक जाता है, तो दूसरा उसका स्थान ले लेता है। इस प्रकार मनुष्य-समाज चिरंतन है। समाज में मनुष्य-जीवन का जो स्रोत बह रहा है, उसका न आदि है, न अंत। संसार का जो सर्व-श्रेष्ठ महापुरुष है, वह भी इस समाज की उपेक्षा नहीं करता। अनंत काल से ज्ञान की जो निधि संचित होती आ रही है, वह हमें समाज ही की बदौलत प्राप्त होती है। समाज से ही हमें भाषा का ज्ञान होता है। भाषा समाज की ही सृष्टि है। उसके निर्माण में छोटे बड़े, सभी संलग्न हैं। सच तो यह है कि साहित्य में संसार से मनुष्य का सम्मिलन होता है। इसमें तीनों युगों का मिलन होता है। कोई भी ऐसा क्षुद्र मनुष्य नहीं, जो इस विराट् सम्मिलन में न सम्मिलित होता हो।

कोई भी ऐसी क्षुद्र कृति नहीं, जिसका इस सम्मिलन में स्थान न हो।

कहा जाता है, साहित्य समाज का प्रतिबिंब है। समाज में परस्पर विरोधी भावों का अभाव नहीं। साहित्य में भी विरोध देखा जाता है। धर्म, दर्शन, विज्ञान, इतिहास और काव्य, सभी का ध्येय एक मात्र सत्य है। परंतु इनमें कभी-कभी बड़ा भारी विरोध हो जाता है। विचारणीय यह है कि सम्मिलन में यह विरोध कैसा है।

कुछ विद्वानों की राय है कि वर्तमान युग में विज्ञान की आलोचना से धर्म का संहार हो रहा है। जो धर्म भक्ति-प्रधान हैं, उनका ज्ञान से संपर्क नहीं। इसी से वे ज्ञान के विरोधी कहे जाते हैं। उनके कितने तत्व विज्ञान के आविष्कृत तत्त्वों से मेल नहीं खाते। जब कभी किसी प्रचलित धर्म अथवा संस्कार के विरुद्ध किसी सत्य की स्थापना की जाती है, तब विश्वास की दुहाई दी जाती है। परंतु सत्य अखंड और संपूर्ण है। परिवर्तन के भीतर सत्य के अखंड रूप को प्राप्त करना ही यथार्थ विश्वास है। यही विश्वास धर्म को भी स्थिरता देता है। यदि किसी धर्म में सत्य है, तो वह सत्य भी विशाल और पूर्ण होगा। जब उसकी सीमा संकुचित कर दी जाती है, तभी धर्म में जड़ता आती है। सत्य उसकी जड़ता को दूर और धर्म को जीवित करता है।

जगत् के समस्त तत्त्वों के मूल में एक सत्य है। वह सत्य यह है कि एक शक्ति अपने को दो रूपों में प्रकाशित कर रही है। अंतर्जगत् की शक्ति बाह्य जगत् में अपने को व्यक्त करती आ रही है। परंतु इस तत्त्व को स्वीकार कर लेने से ही काम न चलेगा। मन की एक विशेष अवस्था होती है, जिसको प्राप्त कर लेने से भेद-बुद्धि नहीं रह जाती। जन्म से मृत्यु और मृत्यु से जन्म, वृद्धि

से क्षय और क्षय से वृद्धि, एक ही वस्तु है। समस्त द्वंद्व के मूल में एक ही अखंड शक्ति विद्यमान है। मन की विशेष अवस्था में उसकी उपलब्धि हो सकती है। अणुओं में विश्व ब्रह्मांड का स्पंदन स्पंदित हो रहा है। यह केवल ज्ञान का विषय नहीं, उपलब्धि की सामग्री भी है। क्षुद्र बीज में अनादि और अनंत जीवनी-शक्ति है, जो वृक्ष को संपूर्ण जीवन प्रदान कर स्वयं नष्ट नहीं होती। मस्तिष्क के जीव कोष में सकोचन और प्रसारण हो रहा है। आत्मा के चारो ओर देह की विचित्र शक्ति व्यक्त हो रही है, रक्त दौड़ता रहता है, स्नायु स्पंदित होते रहते है, बाह्य शक्ति भीतर आती और अंतर्गत शक्ति बाहर प्रकट होती है। देह मानो इन दोनो शक्तियों का संबध सूत्र है। जो भीतर और बाहर एक होकर रहता है, वही उपलब्धि का विषय है। उसका कुछ भी नाम रक्खा जाय, उसी से प्राचीन विश्वास और आधुनिक विज्ञान में सामंजस्य स्थापित हो सकता है। अनेक एक के विरुद्ध नहीं है, अनेक में ही एक है। सीमा और असीम में विरोध नहीं है, किंतु सीमा में ही असीम है। स्वार्थपरता और परार्थपरता में विरोध नहीं है, स्वार्थपरता में ही परार्थपरता का आविर्भाव होता है। इस प्रकार सब तत्वों का सामंजस्य करना आधुनिक युग की धर्म-साधना है। तभी विज्ञान और धर्म का विरोध दूर हो सकता है।

साहित्य के काव्य और विज्ञान, ये दो बड़े विभाग किए जा सकते हैं। इनकी एकता के संबंध में वसु महोदय ने यह कहा था कि कवि अपनी अंतर्दृष्टि से विश्व में एक 'अरूप' को देखता, और उसी को वह रूप में प्रकाशित करता है। जहाँ दूसरों की दृष्टि नहीं पहुँचती, वहाँ उसकी दृष्टि अवरुद्ध नहीं होती। कवि की कृति में हमें उसी रूप-रहित देश का आभास मिलता है। वैज्ञानिक का मार्ग इससे भिन्न होता है; परंतु उसकी और कवि की साधना

एक होती है। जहाँ दृष्टि-शक्ति के आलोक का अंत हो जाता है, वहाँ भी वह आलोक का अनुसरण करता है। जहाँ श्रुति की शक्ति स्वर की अंतिम सीमा तक पहुँच जाती है, वहाँ से भी वह कंपमान वाणी को ले आता है। जो प्रकाश के अतीत रहस्य के प्रकाश की आड़ में बैठकर दिन-रात काम करता है, उसी से प्रश्न पूछकर वैज्ञानिक उसका उत्तर लाता और उसको मनुष्यों की भाषा में प्रकट करता है। प्रकृति के इस रहस्य-निकेतन में अनेक महल और अनेक द्वार हैं। प्रकृति-विज्ञानवित्, रासायनिक, प्राणि-शास्त्रविशारद आदि वैज्ञानिक इसके एक-एक द्वार से एक-एक महल में पहुँचते हैं। वहाँ वे यही समझते हैं कि यही महल उनका विशेष स्थान है ; दूसरे महल में उनकी गति नहीं है। इसी से उन्होंने जड़, उद्भिद् और चेतन में अलंघ्य रीति से विभाग कर दिया है। एक-एक कमरे की सुविधा के लिये दीवार भले ही खड़ी कर दी जाय, परंतु समूचे महल का अधिष्ठाता एक ही है। सभी विज्ञान अंत में एक ही सत्य का आविष्कार करेंगे। जहाँ उनके भिन्न-भिन्न पथ जाकर मिलते हैं, वहीं पूर्ण सत्य है। कवि और वैज्ञानिक में भेद यही है कि कवि अपने पथ की चिंता तक नहीं करता, आत्मसंवरण उसके लिये असाध्य है ; परंतु वैज्ञानिक अपने पथ की उपेक्षा नहीं करता, और पर्यवेक्षण तथा परीक्षण से उसको सदा आत्मसंवरण करना पड़ता है।

आधुनिक पाश्चात्य साहित्य में भिन्नता खूब बढ़ गई है। वहाँ ज्ञान की अनंत शाखाएँ हो गई हैं, और वे सभी अपने को स्वतंत्र रखना चाहती हैं। इसका फल यह हुआ है कि 'एक' को जानने की चेष्टा लुप्त हो गई है। ज्ञान-साधना की प्रथमावस्था में इस प्रकार की प्रथा से लाभ ही होता है। इससे उपकरणों का संग्रह और उनको यथाविधि सज्जित करने में सुविधा होती है। परंतु यदि

से चय और चय से वृद्धि, एक ही वस्तु है। समस्त द्वंद्व के मूल में एक ही अखंड शक्ति विद्यमान है। मन की विशेष अवस्था में उसकी उपलब्धि हो सकती है। अणुओं में विश्व-ब्रह्मांड का स्पंदन स्पंदित हो रहा है। यह केवल ज्ञान का विषय नहीं, उपलब्धि की सामग्री भी है। क्षुद्र बीज में अनादि और अनंत जीवनी-शक्ति है, जो वृक्ष को संपूर्ण जीवन प्रदान कर स्वयं नष्ट नहीं होती। मस्तिष्क के जीव-कोष में संकोचन और प्रसारण हो रहा है। आत्मा के चारो ओर देह की विचित्र शक्ति व्यक्त हो रही है; रक्त दौड़ता रहता है, स्नायु स्पंदित होते रहते हैं, बाह्य शक्ति भीतर आती और अंतर्गत शक्ति बाहर प्रकट होती है। देह मानो इन दोनो शक्तियों का संबंध सूत्र है। जो भीतर और बाहर एक होकर रहता है, वही उपलब्धि का विषय है। उसका कुछ भी नाम रक्खा जाय, उसी से प्राचीन विश्वास और आधुनिक विज्ञान में सामंजस्य स्थापित हो सकता है। अनेक एक के विरुद्ध नहीं है, अनेक में ही एक है। सीमा और असीम में विरोध नहीं है, किंतु सीमा में ही असीम है। स्वार्थपरता और परार्थपरता में विरोध नहीं है; स्वार्थपरता में ही परार्थपरता का आविर्भाव होता है। इस प्रकार सब तत्त्वों का सामंजस्य करना आधुनिक युग की धर्म-साधना है। तभी विज्ञान और धर्म का विरोध दूर हो सकता है।

साहित्य के काव्य और विज्ञान, ये दो बड़े विभाग किए जा सकते हैं। इनकी एकता के संबंध में वसु महोदय ने यह कहा था कि कवि अपनी अंतर्दृष्टि से विश्व में एक 'अरूप' को देखता, और उसी को वह रूप में प्रकाशित करता है। जहाँ दूसरों की दृष्टि नहीं पहुँचती, वहाँ उसकी दृष्टि अवरुद्ध नहीं होती। कवि की कृति में हमें उसी रूप-रहित देश का आभास मिलता है। वैज्ञानिक का मार्ग इससे भिन्न होता है; परंतु उसकी और कवि की साधना

एक होती है। जहाँ दृष्टि-शक्ति के आलोक का अंत हो जाता है, वहाँ भी वह आलोक का अनुसरण करता है। जहाँ श्रुति की शक्ति स्वर की अंतिम सीमा तक पहुँच जाती है, वहाँ से भी वह कंपमान वाणी को ले आता है। जो प्रकाश के अतीत रहस्य के प्रकाश की आड़ में बैठकर दिन-रात काम करता है, उसी से प्रश्न पूछकर वैज्ञानिक उसका उत्तर लाता और उसको मनुष्यों की भाषा में प्रकट करता है। प्रकृति के इस रहस्य-निकेतन में अनेक महल और अनेक द्वार हैं। प्रकृति-विज्ञानवित्, रासायनिक, प्राणि-शास्त्रविशारद आदि वैज्ञानिक इसके एक-एक द्वार से एक-एक महल में पहुँचते हैं। वहाँ वे यही समझते हैं कि यही महल उनका विशेष स्थान है; दूसरे महल में उनकी गति नहीं है। इसी से उन्होंने जड़, उद्भिद् और चेतन में अलंघ्य रीति से विभाग कर दिया है। एक-एक कमरे की सुविधा के लिये दीवार भले ही खड़ी कर दी जाय, परंतु समूचे महल का अधिष्ठाता एक ही है। सभी विज्ञान अंत में एक ही सत्य का आविष्कार करेंगे। जहाँ उनके भिन्न-भिन्न पथ जाकर मिलते हैं, वहीं पूर्ण सत्य है। कवि और वैज्ञानिक में भेद यही है कि कवि अपने पथ की चिंता तक नहीं करता, आत्मसंवरण उसके लिये असाध्य है; परंतु वैज्ञानिक अपने पथ की उपेक्षा नहीं करता, और पर्यवेक्षण तथा परीक्षण से उसको सदा आत्मसंवरण करना पड़ता है।

आधुनिक पाश्चात्य साहित्य में भिन्नता खूब बढ़ गई है। वहाँ ज्ञान की अनंत शाखाएँ हो गई हैं, और वे सभी अपने को स्वतंत्र रखना चाहती हैं। इसका फल यह हुआ है कि 'एक' को जानने की चेष्टा लुप्त हो गई है। ज्ञान-साधना की प्रथमावस्था में इस प्रकार की प्रथा से लाभ ही होता है। इससे उपकरणों का संग्रह और उनको यथाविधि सज्जित करने में सुविधा होती है। परंतु यदि

अंत तक इसी प्रथा का अनुसरण किया जाय, तो सत्य के पूर्ण रूप का दर्शन नहीं होता। साधना तो होती रहती है, परंतु सिद्धि अप्राप्य रहती है। इसके विपरीत भारत का सर्वदा यही लक्ष्य रहा है कि 'बहु' में 'एक' का लोप न हो जाय। इसी चिरकाल की साधना का यह फल है कि हम लोगों को एक के देखने में विशेष बाधा नहीं होती। विश्व-साहित्य का उद्देश यही ऐक्य-बोध है। ज्ञान के अन्वेषण में हम सभी एक सर्व-व्यापी एकता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इसीलिये हम लोग एक दूसरे का परिचय पाने के लिये उत्सुक रहते हैं। हम लोग क्या कर रहे हैं, यह सब एक ही स्थान में देखने से हम अपने यथार्थ स्वरूप का पता पा जाते हैं। इसीलिये साहित्य में कवि और गायक, दार्शनिक और वैज्ञानिक, सभी सम्मिलित होते हैं।

आधुनिक युग के नवीन साहित्य का आरंभ-काल निश्चित करना बड़ा कठिन है। महारानी विक्टोरिया के राजत्व काल में जो कवि हुए हैं, वे अब आधुनिक साहित्य के विचार क्षेत्र से दूर हट गए हैं। अँगरेज़ी में टेनीसन अथवा ब्राउनिंग की गणना अतीत काल के कवियों में की जाती है। भारतीय साहित्य का भी यही हाल है। यदि हम वर्तमान हिंदी-साहित्य के विचार-क्षेत्र पर ध्यान दें, तो हमें विदित हो जायगा कि अब भारतेंदु अथवा व्यासजी की रचनाओं में हिंदी-भाषा-भाषी अपने अंतस्तल की छाया नहीं देख सकते। इन कवियों को अब वही स्थान दे दिया गया है, जो पद्माकर अथवा बिहारी को प्राप्त है। सन् १८७० से लेकर आज तक सभी देशों के विचार-क्षेत्र में बड़ा परिवर्तन हो रहा है। मानव स्वभाव की महत्ता पर से लोगों का विश्वास उठ गया है। 'सत्' के विषय में लोग अधिक संशयालु हो गए हैं। यह सच है कि आधुनिक युग में विज्ञान की बड़ी उन्नति हुई है। भिन्न-भिन्न

है, वह सचमुच आश्चर्य-जनक है। प्राचीन काल अथवा मध्य-युग में सदाचार के सबध में लोगों की धारणा निश्चित थी। कौन कृत्य सत् है और कौन असत्, यह प्रश्न निर्विवाद था। परतु अब सत् और असत् का निर्णय करना उतना सरल नहीं है। इब्सन अथवा मेटरलिंक की नायिकाओं के सतीत्व के संबंध में हमारे सामाजिक सस्कार हमें एक ओर खींचेंगे, और सत्य दूसरी ओर। मनुष्यो के जीवन म प्रतिदिन जो घटनाएँ होती रहती हैं, वे सब ऐसी नही होतीं कि धर्म शास्त्र की कसौटी पर कसी जा सकें। समाज के साथ व्यक्ति का इतना पार्थक्य हो गया है कि अपनी व्यक्तिगत हैसियत से लोग जिन कामो के करने में सकोच नहीं करते, वे समाज की दृष्टि में गर्हणीय हैं। जिन भावो के वशीभूत होकर कोई स्त्री दुराचारिणी होती है, उन भावो का यदि विश्लेषण किया जाय, तो पाठको की सहानुभूति एक दुराचारिणी स्त्री के प्रति हो सकती है। हम ईस्टलीन की नायिका से घृणा नहीं कर सकते, और न 'आँख की किरकिरी' में विमला के चरित्र पर आक्षेप ही कर सकते हैं। प्रेमचद की 'सुमन' पर भी कोई पाठक दोषारोपण नहीं करेगा। परतु समाज में क्या ये वही स्थान पा सकती हैं, जो उन्होने उपन्यास में पाया है? यदि नहीं, तो क्या समाज के धार्मिक आदर्शों में परिवर्तन किया जा सकता है?

भिन्न भिन्न राष्ट्रो के धार्मिक तथा सामाजिक आदर्शों में विचित्रता है। आधुनिक साहित्य के द्वारा इन आदर्शों का प्रचार अवश्य हुआ, पर उनम सामजस्य नहीं स्थापित हो सका। योरप के राजनीतिक तथा व्यावसायिक प्रभुत्व के कारण भिन्न भिन्न राष्ट्रो म एक प्रकार की एकता भी स्थापित हो गई है। कुछ विद्वानो को अब यह सतोष भी हो जाता है कि मनुष्यों की व्यक्तिगत क्षमता, उदारता और सहानुभूति पहले से अधिक बढ़

गई है। परंतु आधुनिक साहित्य में इन्हीं विचारों ने जो अशांति पैदा कर दी है, उसे दूर करने का उपाय अभी तक निश्चित नहीं हुआ। आधुनिक कवियों ने जिन आध्यात्मिक भावों के आधार पर विश्वभाव जाग्रत् करने की चेष्टा की है, उन्हें छाया की तरह पकड़ने की जितनी ही चेष्टा की जायगी, उतना ही वे दूर हटते जायँगे। मेटरलिंक अथवा रवींद्रनाथ की आध्यात्मिक भावनाएँ सर्व-साधारण के लिये प्रत्यक्ष नहीं हो सकतीं। बर्नार्ड शा अथवा अन्य कोई नाटककार समाज की समस्या उत्पन्न कर सकता है; परंतु वह समस्या पहेली ही रहेगी। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में जिन भावों का उत्थान-पतन अदृश्य रूप से होता रहता है, जिन प्रवृत्तियों का अलक्षित द्वंद्व-युद्ध चलता रहता है, वे क्या समाज-शास्त्र की कोटि में आ सकती हैं? यदि नहीं, तो उनका जो दुःखमय अंत होता है, उसका प्रतीकार कैसे किया जाय?

कुछ विद्वानों ने विज्ञान के द्वारा समाज-नीति और राजनीति की समस्याएँ हल करने की चेष्टा की है। राजनीति-विशारदों के लिये विज्ञान की पहली शिक्षा है, सुजनन के सिद्धांत की। अपनी संतानों के लिये श्रेष्ठ जनक-जननी उत्पन्न करने की यह व्यवस्था ईश्वर के द्वारा निश्चित हुई है, जिसमें जो संतान पैदा हों, उनमें शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ पूर्णरूप से जाग्रत् हों। मनुष्य की अंतर्निहित शक्ति के विकास को यह शास्त्र बोध-गम्य कराता है, और उससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य के सुख और स्वास्थ्य की वृद्धि राज्य का कर्तव्य होना चाहिए।

साहित्य में वंशानुक्रम का प्रभाव इब्सन और हैप्टमैन नाम के दो लेखकों ने अच्छी तरह दिखलाया है। इन्होंने इसी संबंध में दो नाटक लिखे हैं। उत्तराधिकारी सूत्र से मनुष्य क्या ग्रहण करता है, माता-पिता के पाप और अपराध का कितना भीषण

परिणाम सतान में दृष्टि-गोचर होता है, यह बात इब्सन ने अपने घोस्ट(Ghost) नामक नाटक में प्रदर्शित की है। हैप्टमैन के रिकंसीलिएशन (Reconciliation) में इसी बात की पूर्ण विवेचना की गई है। इब्सन के नाटक में पिता के मानसिक विकार का फल पुत्र में प्रकट हुआ है, और हैप्टमैन के नाटक में माता-पिता की नैतिक अधोगति का परिणाम पुत्र को भोगना पड़ा है। इसी बात का उल्लेख करके लेबीसम-नामक विद्वान् ने लिखा है कि मानव जीवन पर वंश का प्रभाव सदैव लक्षित होता है। विज्ञान और दर्शन के द्वारा इस प्रश्न का समाधान करना होगा। अतएव सुजनन-विद्या ने सभ्यता के उद्देश को ही बदल दिया है। वह एक नवीन धर्म और नवीन समाज नीति का प्रचार करना चाहती है।

विज्ञान की दूसरी शिक्षा है अनुसंधान। सदाचार की रक्षा विज्ञान से संभव है। वह मनुष्य के ज्ञान को विस्तृत करके मनुष्य को, प्रयोग के द्वारा, ईश्वर की विभूति का दर्शन कराता है। जीव तत्व और परमाणुओं में हम ईश्वर की क्रिया शक्ति का अनुभव करते हैं। विज्ञान से मनुष्य यह भी देख लेता है कि प्रकृति के नियमों का उद्घाटन ही प्रकृति से साहचर्य स्थापित करता है। प्रकृति से—ईश्वर की इच्छा शक्ति से—साहचर्य स्थापित करना ही एक-मात्र धर्म है।

तीसरी शिक्षा यह है कि हम विज्ञान को समाज में बाँटें—फैलायें। यदि केवल वैज्ञानिक ही ईश्वर से साहचर्य स्थापित कर ले, तो उससे समाज में सदाचार का प्रचार संभव है। विज्ञान के क्षेत्र में स्वातंत्र्य स्थापित करके यदि कोई उसे संपूर्ण मानव-जाति के लिये सुलभ न करे, तो उस सभ्यता को प्राण हीन समझना चाहिए। जब हम विज्ञान के साधनों को सर्व साधारण के पास

पहुँचा देंगे, तब उनमें एक नवीन शक्ति का संचार करेंगे। विज्ञान को समाज में सुलभ करना भगवत्प्रेम का वितरण करना है।

विज्ञान की चौथी शिक्षा यह है कि मनुष्य को ऐसी शिक्षा दी जाय, जिससे वह अपनी शक्ति का पूर्ण रूप से उपयोग कर सके। अभी तक सभी सभ्यताओं के उद्देश विफल हुए हैं, क्योंकि कोई भी सभ्यता प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास की स्थिति पर नहीं ला सकी। यथार्थ सभ्यता वही है, जो गुण-वैचित्र्य और रूप-वैचित्र्य की रक्षा करके प्रकृति की ही प्रणाली को उन्नत करे। वह मनुष्य को स्थिति के अनुकूल करे, और स्थिति को मनुष्य के अनुकूल। अतएव ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जो प्रत्येक मनुष्य की विशेषता जानकर उसको वर्तमान संसार के उपयुक्त कर दे।

विज्ञान की पाँचवीं शिक्षा यह है कि मनुष्य में अंतरराष्ट्रीयता का भाव प्रचलित किया जाय। यदि कोई सभ्यता राष्ट्रीय हो, तो वह भले ही वैज्ञानिक हो, युद्ध के द्वारा उसका नाश अवश्यंभावी है। वह युद्ध नहीं करेगी, परंतु उसे अपनी रक्षा तो करनी ही चाहिए। अतएव जब तक समस्त मानव-जाति में सभ्यता का प्रसार न होगा, तब तक कोई भी जाति सभ्य नहीं हो सकती। राष्ट्रीयता के कारण मनुष्य में ईर्ष्या, द्वेष और अभिमान के जो क्षुद्र भाव हैं, वे विश्व-भावना में लीन हो जायँगे।

विज्ञान की एक शिक्षा है कला के संबंध में। कला मानवीय उन्नति का चिह्न है। प्राणिशास्त्र ने कला पर एक नया प्रकाश डाला है। उसके प्रभाव से मनुष्य के रूप और आकृति में भी कदाचित् परिवर्तन हुआ है; क्योंकि सौंदर्य से ही आकृष्ट होकर स्त्री और पुरुष परस्पर संबंध जोड़ते हैं। स्त्री-पुरुष के इस पारस्परिक संबंध ही पर किसी जाति की उन्नति तथा अवनति अवलंबित है। कला सौंदर्य का आदर्श निश्चित करती है, और स्त्री-

पुरुषों में सौंदर्य अंतर्निहित भाव का बाह्य रूप है। इस प्रकार सौंदर्य प्रकृति के विकास की सूचना देनेवाली पताका है।

शारीरिक सौंदर्य के वशीभूत हो स्त्री और पुरुष, दोनों सयोग के लिये आकृष्ट होते ह। इस प्रकार बाह्य सौंदर्य की आराधना से मनुष्य की बाह्य आकृति में परिवर्तन हो जाता है। तब क्या यह सभव नहीं कि मानसिक सौंदर्य की आराधना से मनुष्य के मन और आचरण में परिवर्तन हो? सच पूछो, तो कला के द्वारा मनुष्य विकास के पथ पर अग्रसर होता है। अतएव कला को शिक्षा का ध्येय अवश्य ही होना चाहिए, जिससे मनुष्य अधिक बुद्धिमान्, अधिक सुखी और अधिक सौंदर्य युक्त हो।

रवींद्रनाथ ठाकुर ने लिखा है—

जीवन, साहित्य, अथवा ललित कला में जिन्होंने कोई बड़ी सृष्टि की है—चाहे सौंदर्य को आकार प्रदान किया हो, चाहे किसी महत् भाव को प्रकट किया हो—वे किसी देश विशेष के नहीं हैं, उन पर किसी एक देश का अधिकार नहीं है। जो अपने देश के लिये धनोपार्जन करते अथवा अपने देश की प्रताप वृद्धि के लिये समग्र ससार में उसकी जय पताका उड़ाते हैं, वे अपने ही देश के हैं, उन पर अन्य किसी देश का अधिकार नहीं है। किंतु जिसने सत्य सुंदर शिव को देखा है, वह चाहे कहीं का हो, है वह सभी देशों और सभी कालों के लिये। उसका स्वागत करने के लिये सभी देशों को तैयार होना चाहिए। यदि हम उसे स्वीकार न करें, तो मनुष्य समाज में हमारा जो स्थान है, उसे भी अस्वीकार करना पड़ेगा। तब हमें यह कहना होगा कि पृथ्वी पर हमने जन्म ग्रहण नहीं किया, अपने क्षुद्र देश के भीतर ही हमारा जन्म हुआ है। यदि हम इसी मूढ़ता में अपना गौरव समझें कि ससार के किसी भी महापुरुष से हमारा योग

नहीं है, यदि हम अन्य देशों की संपत्ति का गर्व से तिरस्कार करें, तो हमें उसका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। अब वह समय उपस्थित हुआ है कि यदि हम अपने चारो ओर मानसिक चहारदीवारी खींचकर चुपचाप रहना चाहें, तो उससे हमारी आत्मा की ही अवमानना होगी।

शेली के समान कितने ही विश्व-कवियों के विषय में यह देखा गया है कि जिस देश में उन्होंने जन्म लिया, वहाँ उन्हें स्थान नहीं मिला। उन्हें अपने जीवन का अधिकांश काल विदेश में ही निर्वासित होकर व्यतीत करना पड़ा है। परंतु, अपने जीवन-काल में तिरस्कृत होने पर भी, आज सभी देशों में उन्होंने अक्षय स्थान प्राप्त कर लिया है। संसार के कितने ही श्रेष्ठ पुरुषों ने निर्वासन के सिंहद्वार से पृथ्वी पर अधिकार प्राप्त किया है। उनके समकालीन लोगों ने उनकी उपेक्षा की, उन्हें यह बतला दिया कि तुम हमारे नहीं हो। उनके इस कथन का भी एक अर्थ है। जो लोग अपने ही समय के किसी विशेष क्षेत्र में काम करते हैं, उनके लिये समग्र पृथ्वी कभी उपभोग्य नहीं होती। परंतु जो सबसे बड़े होते हैं, उनके विषय में यही देखा गया है कि वे संकीर्ण भाव से किसी भी एक देश और काल के मन को जाग्रत् नहीं कर सके। उनकी वाणी तो देश और काल के अतीत थी। फिर उसे एक ही देश और एक ही काल में कैसे स्थान मिलता ?

ऐसे विश्व-कवियों को जब हम अपना समझ लेंगे, तभी देश और काल के उन व्यवधानों को दूर कर सकेंगे, जो हमारे चारो ओर जमा हो गए हैं। यह क्षुद्र सीमा हमारे लिये कठिन हो गई है। हम यही बात कहने की चेष्टा करते हैं कि इसी क्षुद्र सीमा में हमारी सार्थकता है। प्रायः यही कहा जाता है कि हमारा साहित्य ही एकमात्र हमारा साहित्य है; हमारे उपभोग के लिये अन्य

कोई साहित्य नहीं। हमारा ही तत्त्व-ज्ञान एकमात्र हमारा तत्त्व-ज्ञान है; हमारे लिये दूसरा कोई तत्त्व-ज्ञान ही नहीं है। यही क्यों, जो विज्ञान है, वह भी हमारा नहीं, दूसरे देश का है। इस कथन के भीतर कितना असत्य है, यह हम अपने मिथ्या गर्व के कारण अच्छी तरह समझ नहीं सकते। हममें से प्रत्येक के लिये सभी देशों के तपस्वियों ने तपस्या की है, यह सोचते ही हमारा हृदय कितना विशाल हो जाता है। जब हम मनुष्य को मनुष्य समझते और उसे अपना कहते है, तब यह जान पड़ता है कि उसमें कितनी शक्ति है। हम अपने देश में अपने अधिकारों की संकीर्णता को दोष देते हैं। परंतु राजनीतिक संकीर्णता ही एकमात्र संकीर्णता नहीं है। उसमें भी बड़ी संकीर्णता है मन के अधिकारों की संकीर्णता। हम यदि यह कहें कि हमारा मन तुलसीदासजी के बाहर नहीं जा सकता, हम मतिराम और बिहारी में ही लिप्त रहेंगे, हमारे लिये वैष्णव-काव्यों को छोड़कर दूसरे काव्य ही नहीं हैं, तो हमें विश्व के सर्वश्रेष्ठ दान से हाथ धोना पड़ेगा। यह वह दान है, जिसे उसने हमारे हाथों में देकर कहा था—हम तुम्हारे हैं।

मनुष्य वनस्पति है। अन्य जीव-जंतु घास-पात या छोटे पौदे हो सकते है, पर वनस्पति मनुष्य ही कहा जा सकता है। मानव-चित्त का मूल बहुत दूर तक जाता है। वह बहुशाखा विशिष्ट है। महापुरुष के मानस-क्षेत्र के भीतर वह यदि प्रशस्त रूप से प्रविष्ट नहीं हो सका, समस्त मानव-क्षेत्र से अपने लिये रस नहीं खींच सका, तो यह निश्चित है कि मन अत्यंत क्षीण हो जायगा। उसकी वृद्धि हो नहीं सकती। मनुष्य की धर्म बुद्धि और चरित्र-नीति की भी उन्नति नहीं हो सकती। हम लोगों ने अंधविश्वास से शास्त्र-वचन तथा गुरु-वाक्य को जैसा शिरोधार्य किया है, गता-

जुगतिक होकर आत्मा की जैसी अवमानना की है, उसका एकमात्र कारण यही है कि विश्व के ज्ञान-क्षेत्र में सम्मिलित न होकर हमने अपने को निर्जीव बना डाला है। महापुरुष के मानस-क्षेत्र से अपने लिये पूर्ण खाद्य न लाने के कारण हमारा मन निर्जीव हो गया। इसीलिये हम सभी बातों को निश्चेष्ट हो मानने लगे। राष्ट्रीय शासन, सामाजिक शासन, शास्त्रीय शासन आदि सभी शासनों को नत-मस्तक होकर हमने मान लिया। हम लोगों ने विचार करना ही नहीं चाहा, क्योंकि विचार के लिये मानसिक शक्ति की आवश्यकता है। पराधीनता के कारण हमारी जो दुर्गति हो रही है, उसका कारण मन की निर्जीवता ही है। मन को सजीव और सबल बनाने के लिये उसको उचित आहार देना होगा। किसी बाह्य अनुष्ठान अथवा बाह्य क्रिया से हमारा मन जीवनी-शक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। संसार में जहाँ कहीं ऐसी अमर महत्ता है, उसी को लाने से हमारा मन अमृत-मय आहार पा सकता है। उसी अमृत से उसकी वृद्धि हो सकती है, और किसी से नहीं। मैत्रेयी ने कहा था—"येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्।" यह कथन केवल आध्यात्मिकता के लिये ही उपयुक्त नहीं है, विद्या और विज्ञान के लिये भी सार्थक है। उस विद्या और विज्ञान को लेकर हम क्या करेंगे, जिसमें अमृतत्व नहीं। समस्त पृथ्वी पर एक अमरावती है, जहाँ अमृत की धारा निकलती है। जिन साधकों की साधना तथा तपस्या से उस अमृत की सृष्टि होती है, वे उस अमरावती के निवासी हैं। वह अमरावती सभी देशों में है। यहाँ जैसे कालिदास का स्थान है, वैसे ही शेक्सपियर का भी। हमें इनसे अमृत की प्राप्ति करनी होगी। तभी हमारा मन सजीव हो सकेगा।

विश्व-भाषा

भाषा के संबंध में कितने ही लोगों की यह धारणा है कि वह ईश्वर-प्रदत्त वस्तु है। इसमें संदेह नहीं कि भाषा स्वयं ईश्वर-निर्मित न होने पर भी उसी मानवीय शक्ति का फल है, जो ईश्वर-प्रदत्त है। भाषा भावों की अभिव्यक्ति का साधन मात्र है। यदि मनुष्य पृथ्वी पर अकेला ही जन्म-ग्रहण करे, तो अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिये उसे भाषा की आवश्यकता नहीं। भाषा के लिये यह आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न मनुष्यों का सम्मिलन हो। जिस शक्ति की प्रेरणा से मनुष्य-समाज की सृष्टि होती है, उसी शक्ति की प्रेरणा का फल भाषा है। अतएव मनुष्य-समाज से उसका घनिष्ठ संबंध है। समाज में जैसा परिवर्तन होता है, वैसा ही भाषा में भी। इस परिवर्तन के कुछ कारण प्राकृतिक हैं, और कुछ मानसिक। देश और काल के कारण मनुष्य-समाज का एक स्थिर रूप हो जाता है। उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास एक निर्दिष्ट क्षेत्र में होने लगता है। अतएव भाषा भी देश और राज्य का अनुसरण करती है। कहा जाता है, आर्य-जाति की भिन्न भिन्न शाखाएँ एशिया और योरप में फैली हुई हैं। उनकी भाषाओं में जो भिन्नता है, उसका प्रधान कारण देश और काल है। मानसिक कारणों में मुख्य है धार्मिक भावनाएँ। सामाजिक और जातीय भावनाओं के भी मूल कारण धार्मिक भावनाएँ ही हैं। इन्हीं के कारण समाज में दृढ़ता आती है। हिंदू और मुसलमान में जो भाषा का व्यवधान है, उसका एक प्रबल कारण धर्म भेद है। ज्यों-ज्यों मनुष्यों की विभिन्नता कम

ती जाती है, त्यों-त्यों भाषाओं का सम्मिलन भी होता जाता है। ज मनुष्य प्रांतीयता को छोड़कर राष्ट्रीयता को ग्रहण कर लेता तब उसकी एक राष्ट्रीय भाषा हो जाती है। ब्राइस ने यह विष्य-वाणी की है कि कभी धर्मों की विभिन्नता इतनी कम हो जायगी कि संसार में चार ही पाँच मुख्य-मुख्य धर्म रह जायँगे। उस समय भाषाओं की भी इतनी विभिन्नता न रहेगी।

आधुनिक युग में राष्ट्रीयता का भाव प्रबल है। भारतवर्ष में भाषाओं की भिन्नता दूर करने के लिये राष्ट्रीय भाव काम कर रहे हैं। आजकल एक राष्ट्र-भाषा का प्रचार करने के लिये उद्योग किया जा रहा है। भाषाओं की भिन्नता के कारण राजनीतिक क्षेत्र में भी अशांति हो सकती है। इसका एक उदाहरण योरप है। यदि हम योरप से रूस को अलग कर दें, और भाषाओं के विचार से उसका देश-विभाग करें, तो वह चालीस भागों में बँट जायगा। यदि हम उन भाषाओं के साथ दूसरी मुख्य-मुख्य बोलियाँ भी ले लें, तो हमारे देश-विभागों की संख्या और भी अधिक हो जायगी। मतलब यह कि भाषाओं की दृष्टि से समग्र पश्चिमी योरप चालीस देशों में बँटा हुआ है। मिस्टर ए० एल० ग्यूरार्ड का यह मत है कि किसी देश की भाषात्मक सीमाएँ अत्यंत ख़राब सीमाएँ हैं। झगड़े और ईर्ष्या-द्वेष के लिये वे उपयुक्त साधन हैं।

पश्चिमी योरप की जिन चालीस भाषाओं की ओर ऊपर संकेत किया गया है, वे वहाँ की जीवित भाषाएँ हैं। स्कूलों में उनकी शिक्षा दी जाती है; उन्हीं में पुस्तकों की रचना होती और समाचार-पत्र भी छपते हैं। जहाँ उन्हें सरकार का आश्रय नहीं मिला है, वहाँ उनके कारण भाषा का विकट प्रश्न छिड़ गया है। मिस्टर ग्यूरार्ड का कहना है कि यदि हम किसी

योरप की राजधानी को (रोम को छोड़कर) केंद्र मानकर २०० मील की त्रिज्या का एक वृत्त खींचें, तो हमारे वृत्त की रेखा कम-से-कम चार भिन्न-भाषा-भाषी भू-भागों की सीमा का स्पर्श करेगी। इस प्रकार इस भाषा-भेद से वैज्ञानिकों और व्यापारियों को अपने क्षुद्र भाषा-क्षेत्र में ही परिमित रहकर अपनी उन्नति के लिये असुविधाएँ उठानी पड़ती हैं।

यदि हम उक्त क्षुद्र भाषा-क्षेत्र को जेल कह डालें, तो कुछ अत्युक्ति न होगी; क्योंकि उसकी सीमा में नासमझी, अविश्वास और घृणा का साम्राज्य है। यदि कोई अपने देश की सीमा को पार कर भिन्न-भाषा-भाषी प्रदेश में जा पहुँचे, तो अपनी भाषा भिन्न होने के कारण वह विदेशी या कभी-कभी शत्रु के रूप में ग्रहण किया जायगा।

आजकल योरप में प्रायः सभी जगह टेलीफ़ोन का प्रचार है। परंतु भाषा-विभेद के कारण लोग उससे वैसा लाभ नहीं उठा सकते। बर्लिन और रोम के बीच टेलीफ़ोन लग जाने से क्या लाभ हुआ, जब कि तुम जर्मन या इटालियन भाषा नहीं बोल सकते? विदेशी लोग भी अपने दूषित उच्चारण के कारण उससे विशेष लाभ नहीं उठा सकते। जब उसमें प्रायः अपनी भाषा में ही ठीक संख्या का बोध नहीं होता, तब विदेशी स्वर में तो उसका बोध होना और भी असाध्य है।

पश्चिमी योरप के भिन्न-भाषा-भाषी भिन्न-भिन्न देशों में प्रायः यही बात देखने में आती है कि वहाँ जिस जाति के लोग प्रभावशाली हैं, उनकी भाषा साधारण जन नहीं बोलते। जैसे, पोलैंड में पोल लोगों की जन-संख्या अधिक है, पर वे पराधीन रहे। इसके विपरीत पोलैंड के पूर्वी तथा पूर्व-दक्षिणी भाग में पोलिश-भाषा का ही प्राधान्य रहा है, यद्यपि वहाँ दूसरी जाति के लोगों

की अपेक्षा पोल लोगों की संख्या न्यून रही है। भाषा के संबंध में अशियावालों ने पोलैंड में पोल लोगों पर अत्याचार किया। इधर पोल लोगों ने देश के पूर्वोक्त भागों में वहाँ के लोगों से उसकी कसर निकाली।

ट्रांसिल्वेनियना और टेमेस्वर के 'वनात'-प्रदेश के मामले तो और भी अधिक जटिल हैं, जब तुर्क निकाल बाहर किए गए, और ट्रांसिल्वेनिया हंगरी के हाथ लगा, तब रूमानियन-भाषा बोलनेवाले कृपकों की जनता, असंगठित और निरक्षर होने के कारण, मगयर लोगों के प्रभाव में पड़ गई। इन लोगों के साथ ही वहाँ सैक्सन-जाति के लोगों की भी मज़बूत बस्तियाँ क़ायम थीं। और, 'वनात' में तो रूमानियन, सर्व, जर्मन और मगयर लोगों की खिचड़ी है।

परंतु भाषा के प्रश्न की जैसी जटिलता सालोनीकी-नगर तथा उसके पड़ोस के मैसीडोनिया-प्रदेश में है, वैसी योरप में अन्यत्र नहीं। यहाँ तुर्कों ने सदियों तक राज्य किया है। इस समय इन पर यूनानियों का अधिकार है। परंतु इन दोनो जातियों के शासकों की भाषा अल्प-संख्यक लोग ही बोलते हैं। मैसीडोनिया के कृपक अपनी स्लाव-भाषा ही बोलते हैं। इस नगर के पड़ोस रूमानियन और अल्बेनियन-जातियाँ भी रहती हैं। इधर शहर यहूदियों का ज़ोर है। ये लोग स्पेन से निकाल दिए जाने पर ाँ आकर आबाद हुए थे, और एक ज़माने से यहीं रहते हैं। ये ा स्पेन की ग्राम्य-भाषा बोलते हैं। अपने अधिकांश सह-यों की भाँति ये इङ्गिश-भाषा नहीं बोलते। अतएव सालोनीकी स्तंबोल में, भाषा-भिन्नता के कारण, फ्रेंच-भाषा का ही न्य है। वहाँ के श्रेष्ठ स्कूलों में उसी का प्रचार है। इसके सिवा के प्रसिद्ध पत्र भी उसी विदेशी भाषा में छपते हैं।

योरप की राजधानी को (रोम को छोड़कर) केंद्र मानकर २०० मील की त्रिज्या का एक वृत्त खींचें, तो हमारे वृत्त की रेखा कम-से-कम चार भिन्न भाषा-भाषी भू-भागों की सीमा का स्पर्श करेगी। इस प्रकार इस भाषा भेद से वैज्ञानिकों और व्यापारियों को अपने क्षुद्र भाषा-क्षेत्र में ही परिमित रहकर अपनी उन्नति के लिये असुविधाएँ उठानी पड़ती हैं।

यदि हम उक्त क्षुद्र भाषा-क्षेत्र को जेल कह डालें, तो कुछ अत्युक्ति न होगी; क्योंकि उसकी सीमा में नासमझी, अविश्वास और घृणा का साम्राज्य है। यदि कोई अपने देश की सीमा को पार कर भिन्न-भाषा-भाषी प्रदेश में जा पहुँचे, तो अपनी भाषा भिन्न होने के कारण वह विदेशी या कभी-कभी शत्रु के रूप में ग्रहण किया जायगा।

आजकल योरप में प्राय: सभी जगह टेलीफ़ोन का प्रचार है। परंतु भाषा-विभेद के कारण लोग उससे वैसा लाभ नहीं उठा सकते। बर्लिन और रोम के बीच टेलीफ़ोन लग जाने से क्या लाभ हुआ, जब कि तुम जर्मन या इटालियन भाषा नहीं बोल सकते? विदेशी लोग भी अपने दूषित उच्चारण के कारण उससे विशेष लाभ नहीं उठा सकते। जब उसमें प्रायः अपनी भाषा में ही ठीक सत्या का बोध नहीं होता, तब विदेशी स्वर में तो उसका बोध होना और भी असाध्य है।

पश्चिमी योरप के भिन्न-भाषा-भाषी भिन्न-भिन्न देशों में प्रायः यही बात देखने में आती है कि वहाँ जिस जाति के लोग प्रभावशाली हैं, उनकी भाषा साधारण जन नहीं बोलते। जैसे, पोलैंड में पोल लोगों की जन-संख्या अधिक है, पर वे पराधीन रहे। इसके विपरीत पोलैंड के पूर्वी तथा पूर्व-दक्षिणी भाग में पोलिश-भाषा का ही प्राधान्य रहा है, यद्यपि वहाँ दूसरी जाति के लोगों

की अपेक्षा पोल लोगों की संख्या न्यून रही है। भाषा के संबंध में प्रशियावालों ने पोलैंड में पोल लोगों पर अत्याचार किया। इधर पोल लोगों ने देश के पूर्वोक्त भागों में वहाँ के लोगों से उसकी कसर निकाली।

ट्रांसिल्वेनियना और टेमेस्वर के 'बनात'-प्रदेश के मामले तो और भी अधिक जटिल हैं, जब तुर्क निकाल बाहर किए गए, और ट्रांसिल्वेनिया हंगरी के हाथ लगा, तब रूमानियन-भाषा बोलनेवाले कृषकों की जनता, असंगठित और निरक्षर होने के कारण, मगयर लोगों के प्रभाव में पड़ गई। इन लोगों के साथ ही वहाँ सैक्सन-जाति के लोगों की भी मज़बूत बस्तियाँ क़ायम थीं। और, 'बनात' में तो रूमानियन, सर्व, जर्मन और मगयर लोगों की खिचड़ी है।

परंतु भाषा के प्रश्न की जैसी जटिलता सालोनीकी-नगर तथा उसके पड़ोस के मैसीडोनिया-प्रदेश में है, वैसी योरप में अन्यत्र नहीं। यहाँ तुर्कों ने सदियों तक राज्य किया है। इस समय इन पर यूनानियों का अधिकार है। परंतु इन दोनो जातियों के शासकों की भाषा अल्प-संख्यक लोग ही बोलते हैं। मैसीडोनिया के कृषक अपनी स्लाव-भाषा ही बोलते हैं। इस नगर के पड़ोस में रूमानियन और अल्बेनियन-जातियाँ भी रहती हैं। इधर शहर में यहूदियों का ज़ोर है। ये लोग स्पेन से निकाल दिए जाने पर यहाँ आकर आबाद हुए थे, और एक ज़माने से यहीं रहते हैं। ये लोग स्पेन की ग्राम्य-भाषा बोलते हैं। अपने अधिकांश सह-धर्मियों की भाँति ये इड्डिश-भाषा नहीं बोलते। अतएव सालोनीकी एवं स्तंबोल में, भाषा-भिन्नता के कारण, फ्रेंच-भाषा का ही प्राधान्य है। वहाँ के श्रेष्ठ स्कूलों में उसी का प्रचार है। इसके सिवा वहाँ के प्रसिद्ध पत्र भी उसी विदेशी भाषा में छपते हैं।

पिछले सौ वर्षों में योरप के अनेक राष्ट्रों का पुनरुज्जीवन हुआ और अपनी प्रतिपत्ति के लिये उन्होंने युद्ध भी किए। प्रत्येक राष्ट्र का क्षुद्र समूह ज्ञान-लाभ करते ही अपनी प्रतिपत्ति क़ायम करने लगता है; और उस दशा में वह सहवासिनी जाति से अपना पार्थक्य सूचित करने लगता है। पिछले समय में जो राष्ट्र समुन्नत हुए हैं, उनके ध्येय का नाम 'सीन फ़ीन' ही दिया जा सकता है।

निस्संदेह राष्ट्रीयता का भाव भलाई के लिये एक बड़ी भारी शक्ति रहा है, परंतु उसका मूल्य भी बहुत अधिक देना पड़ा है। बोहेमिया के निवासी ज़ेच-भाषा को अपनी शिक्षा का माध्यम बनाकर अवशिष्ट संसार से बिलग-से हो गए हैं। इसी प्रकार स्पेन का कैटालोनिया-प्रदेश भी उच्चाभिलाषी रहा है। इस प्रदेश की भाषा की परंपरा भी श्रेष्ठ है। परंतु खेद के साथ कहना पड़ता है कि यहाँ के बलिष्ठ और उन्नतिशील निवासी जगत्-प्रसिद्ध अपनी भाषा से संतुष्ट नहीं रह सके।

भाषा के क्षेत्र में राष्ट्र-भेद-प्रदर्शक भाव का अत्यंत विचित्र उदाहरण नार्वे-देश है। यह कितने दुःख की बात है कि जो स्कैंडिनेवियन-भाषा स्वीडन, नार्वे, डेन्मार्क, फ़िनलैंड और आइस-लैंड, इन पाँच देशों में बोली जाती थी, उसके दो पृथक् भेद हो जायँ। क्या ही अच्छा होता, यदि वहाँ भी वैसे ही स्कैंडिनेवियन-भाषा के प्रचार का प्रयत्न किया जाता, जैसे अँगरेज़ी का प्रचार करके ग्रेट ब्रिटेन में प्रांतिक भाषाओं की भिन्नता दूर की जा रही है। परंतु नार्वे ने दूसरा ही मार्ग ग्रहण किया है। अभी तक वहाँ की राजभाषा डेन-भाषा थी। परंतु किसी देश-भक्त को यह सूझ पड़ा कि डेन-भाषा पूर्व-पराधीनता का चिह्न है। अतएव उसके विरुद्ध एक नई राष्ट्रीय भाषा की रचना की गई। वह वहाँ का सार्वजनिक भाषा कहलाने पर भी एक कृत्रिम सम्मि-

भ्रण के सिवा और कुछ नहीं है। कृषकों की प्राचीन बोली के आधार पर उसकी रचना हुई है। परंतु वह बोली भी नहीं कही जाती। इतने पर भी स्कूलों में उसी कृत्रिम भाषा का प्रचार है, और दिन-प्रतिदिन उसकी उन्नति होती जा रही है। किसी दिन वह भाषा सर्व-साधारण के भाव-प्रकाशन का मुख्य माध्यम बन जायगी। इस प्रकार दो पड़ोसी देशों के बीच, जहाँ पहले एक भाषा का प्रचार था, वहाँ पार्थक्य-सूचक एक गढ़ा बन जायगा। चाहे ये दोनो देश एक में मिला दिए जायँ, पर उनके मेल से भी विद्या का क्षेत्र क्षुद्र ही रहेगा।

कहा जाता है, भाषा-संबंधी इस भयंकर प्रश्न का निराकरण कोई सहकारी अंतरराष्ट्रीय भाषा स्वीकार करने से हो सकता है। मिस्टर म्यूरार्ड का मत है कि प्रचलित प्राकृत भाषाओं की, यहाँ तक कि बोलियों की भी रक्षा करना सर्वथा उचित है। कारण, उनसे सामाजिक तथा सौंदर्यात्मक उद्देश की सिद्धि होती है। परंतु पारस्परिक भाव-परिवर्तन के लिये एक अंतरराष्ट्रीय साधन की आवश्यकता अनिवार्य है। भारत के लिये हम भी ऐसी ही एक भाषा चाहते हैं। प्रांतीय भाषाओं की उन्नति अवश्य की जानी चाहिए, परंतु ज्ञान के विनिमय के लिये एक राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता है। इससे राष्ट्रीयता का प्रचार होता है, और सद्भाव की पुष्टि।

किसी जाति का स्वतंत्र अस्तित्व है या नहीं, यह उसकी राष्ट्रीय भाषा और साहित्य से सूचित होता है। जाति में जातीयता की रक्षा इन्हीं दोनो से होती है। परंतु अब भिन्न-भिन्न जातियों का पारस्परिक संबंध बढ़ रहा है। इसका मुख्य कारण है व्यवसाय-सूत्र।

आजकल सभी देश अपने व्यवसाय की उन्नति में सचेष्ट हैं। जो जाति जीवित रहना चाहती है, उसे व्यवसाय के समरांगण में उतरना ही पड़ेगा। यदि वह इस युद्ध में सफलता प्राप्त कर

सकी, तो उसकी उन्नति हो सकती है। परंतु यदि वह व्यवसाय के क्षेत्र में सबसे पीछे पड़ गई, तो फिर उसकी ख़ैर नहीं। दूसरों की भिक्षा से किसी जाति का जीवन कब तक टिकेगा? समता से ही बंधुत्व स्थिर रह सकता है। इसी कारण जो उन्नतिशील देश हैं, वे सदैव यही चेष्टा करते रहते हैं कि हम किसी देश से कम न रहें।

व्यवसाय की वृद्धि से देशों की राजनीतिक सीमा घट-बढ़ गई है। यदि जापान की प्रभुता जापान ही की सीमा में परिमित रहती, तो उसकी गणना संसार की महाशक्तियों में कभी न होती। आज जापान की शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी है। इसका कारण उसकी राजनीतिक शक्ति नहीं, किंतु व्यावसायिक शक्ति है। जो देश व्यवसाय के क्षेत्र में प्रबल है, वही राजनीति के क्षेत्र में अदम्य रहेगा। व्यवसाय-वृद्धि का यह पहला फल है। व्यवसाय की उन्नति का दूसरा फल यह है कि सभी देशों में एक पारस्परिक बंधन स्थापित हो रहा है। कोई भी देश ऐसा नहीं, जो पृथ्वी के अन्य देशों से संबंध तोड़कर सबसे पृथक् रह सके। भिन्न-भिन्न देशों में अब कुछ ऐसा संबंध स्थापित हो गया है कि यदि किसी एक के धक्का लगे, तो दूसरे को भी उसका आघात अवश्य सहना पड़ता है। इसीलिये अब राजनीतिज्ञों की दृष्टि अपने देश में ही सीमा-बद्ध नहीं रहती। वे सदैव दूसरे देशों की अवस्था पर ध्यान देते रहते हैं। यह काम उन्हें परोपकार के लिये नहीं, किंतु अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये करना पड़ता है। व्यावसायिक उन्नति का तीसरा फल है विश्व भाषा का निर्माण। सभी देशों के लोगों का संबंध अब विदेशियों से इतना घनिष्ठ हो गया है कि उन्हें दूसरों की भाषा जानने की ज़रूरत होती ही है। प्रचलित भाषाओं में अँगरेज़ी और फ्रेंच का ख़ूब प्रचार है। परंतु

केवल इन्हीं दो भाषाओं से सबका काम नहीं चल सकता। इसलिये कुछ समय से लोग एक विश्व-भाषा का प्रचार करना चाहते हैं। यहाँ हम उसी के विषय में कुछ बातें कहना चाहते हैं।

आजकल संसार में तीन हज़ार से अधिक भाषाएँ प्रचलित हैं। भाषा की विभिन्नता का सबसे बड़ा कारण देश है। यदि आज तीन हज़ार भाषाएँ प्रचलित हैं, तो हमें समझना चाहिए कि मानव-जाति तीन हज़ार खंडों में विभक्त हो गई है। भाषा की इस विभिन्नता के कारण मनुष्य के विचार संकुचित हो जाते हैं। भारतवर्ष में अभी तक राष्ट्रीयता और एकता का भाव जो प्रबल नहीं हुआ, उसका कारण यही भाषा-भेद है। जो जिस प्रांत की भाषा से अनभिज्ञ होता है, वह वहाँ के निवासियों को अवहेलना की दृष्टि से अवश्य देखता है। यदि हम किसी प्रांत के निवासी से उसी की प्रांतीय भाषा में बातचीत करें, तो उससे शीघ्र ही घनिष्ठता हो जाती है। इसी कारण अब देश के नेताओं को यह फ़िक्र पड़ी है कि भारतवर्ष में एक राष्ट्रीय भाषा का प्रचार हो। अधिकांश नेताओं की सम्मति है कि भारतवर्ष के लिये सबसे उपयुक्त राष्ट्रीय भाषा हिंदी है। यदि लोग अपने हठ और दुराग्रह को छोड़कर हिंदी-भाषा को अपना लें, तो भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का भाव सहज में जग जाय। इसके लिये यह आवश्यकता नहीं कि प्रांतीय भाषाओं की उपेक्षा की जाय। लोग अपनी-अपनी भाषाओं को पढ़ें, और अपने-अपने साहित्य की वृद्धि करें। परंतु यदि वे चाहते हैं कि उनका एक राष्ट्र हो जाय, तो उन्हें एक भाषा का अवलंबन करना ही पड़ेगा। यही बात विश्व-भाषा के लिये भी कही जा सकती है। यह तो हम पहले ही कह आए हैं कि कोई भी देश अब संसार से अपना संबंध नहीं तोड़ सकता। राजनीतिक और व्यावसायिक, दोनो दृष्टियों से यह आवश्यक है कि वह

पृथ्वी के अन्य देशों से अपनी घनिष्ठता रक्खे। इसके लिये उसे अन्य देशों की भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए। संसार की सब भाषाओं का ज्ञान होना असंभव है। इसलिये यदि किसी ऐसी भाषा का प्रचार किया जाय, जिसे सभी देश ग्रहण कर सकें, तो उससे मानव जाति का बड़ा उपकार होगा। आजकल विभिन्न जातियों में जो पारस्परिक संघर्षण चल रहा है, ईर्षा द्वेष के जो भाव प्रबल हो रहे हैं, वे कम हो जायँ। अब विचारणीय यह है कि विश्व के लिये कौन सी भाषा उपयुक्त हो सकती है?

यदि एक ही स्थान में भिन्न भिन्न देशों के ऐसे मनुष्य रहने लगें, जो परस्पर एक दूसरे की भाषा नहीं समझ सकते, तो क्या वे लोग सदा मूक ही बनकर बैठे रहेंगे? कुछ समय तक उनको अड़चन अवश्य होगी, पर धीरे-धीरे वे लोग एक ऐसी भाषा ईजाद कर लेंगे, जिससे सभी अपने मनोगत भावों को प्रकट कर सकें। इसमें संदेह नहीं कि वह भाषा खिचड़ी होगी, उसमें सभी भाषाओं के दो दो, चार चार शब्द रहेंगे, पर प्रधानता उसी भाषा की होगी, जिसके बोलनेवाले सबसे अधिक अथवा सबसे अधिक प्रतापी होंगे। संसार में भिन्न भिन्न जातियों का संघर्षण होता ही रहता है। इसके फल स्वरूप लोग परस्पर एक दूसरे की भाषा से शब्द लेते रहते हैं। आप किसी भी देश की भाषा पर ध्यान दीजिए। उसमें खोज करने से विदेशी शब्दों की भरमार मिलेगी। लोग विदेशी शब्दों को इतनी शीघ्रता से अपना लेते हैं कि किसी का उधर ध्यान ही नहीं जाता। दूसरी बात यह कि मनुष्य आप ही अपनी भाषा को देश और काल के अनुसार कर लेता है। यही भाषा की परिवर्तन शीलता है। यदि साहित्य और व्याकरण का बंधन न रहे, तो शब्दों का रूपांतर इतना शीघ्र होने लगे कि फिर कोई एक भाषा ही न रह जाय। शब्दों के परिवर्तन में उनका उच्चारण ही रूपांतरित होता है। हिंदी

के 'रंगरूट' और 'वलमटेर' इसी के उदाहरण हैं। अँगरेज़ी के समान उन्नत भाषाओं में भी ऐसा परिवर्तन होता रहता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं की इस परिवर्तन-शीलता को देखकर इँगलैंड के एक प्रसिद्ध विद्वान् ने यह अनुमान किया है कि कभी ऐसा भी समय आवेगा, जब संसार में पाँच ही छ मुख्य-मुख्य भाषाएँ रह जायँगी, और अन्य भाषाएँ उन्हीं में विलीन हो जायँगी।

आजकल भाषा-विज्ञान-शास्त्र की ख़ूब उन्नति हो रही है। भिन्न-भिन्न भाषाओं पर तुलनात्मक विचार किया जाता है। जब सर विलियम जोंस के उद्योग से योरप में संस्कृत का प्रचार हुआ, तब इस विज्ञान की सृष्टि हुई। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के जन्मदाता बॉप (Bopp) थे। उनके बाद जेकब ग्रिम साहब ने व्याकरण-शास्त्र पर अपना तुलनात्मक ग्रंथ प्रकाशित किया। तब से इस शास्त्र की बराबर उन्नति हो रही है। भाषा-विज्ञान की उन्नति का एक फल यह हुआ कि कुछ लोगों को एक कृत्रिम विश्व-भाषा बनाने की सूझी। आज तक ऐसी तीन भाषाओं की सृष्टि हो चुकी है। बँगला के प्रवासी-पत्र में इन भाषाओं के विषय में एक लेख भी निकला था।

मानवीय सभ्यता के विस्तार के लिये यह आवश्यक है कि आज तक मनुष्यों ने ज्ञान-राशि की जो संपत्ति अर्जित की है, उसका सर्वत्र प्रचार कर दिया जाय। पर ज्ञान का मुख्य द्वार है भाषा। अतएव एक ही भाषा में यदि विश्व का ज्ञान सुलभ कर दिया जाय, तो उससे मानव-जाति का बड़ा उपकार हो। कई भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना बड़ा कठिन है। इसलिये यदि संसार के सभी विद्वान् एक ही भाषा में अपने मनोगत भाव प्रकट करने लगें, तो सर्वसाधारण के लिये भी ज्ञान का पथ सुगम हो जाय। परंतु जिन तीन भाषाओं का उल्लेख किया गया है, वे

पृथ्वी के अन्य देशों से अपनी घनिष्ठता रक्खे। इसके लिये उसे अन्य देशों की भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए। ससार की सब भाषाओं का ज्ञान होना असंभव है। इसलिये यदि किसी ऐसी भाषा का प्रचार किया जाय, जिसे सभी देश ग्रहण कर सकें, तो उससे मानव जाति का बड़ा उपकार होगा। आजकल विभिन्न जातियो में जो पारस्परिक सघर्षण चल रहा है, ईर्षा द्वेष के जो भाव प्रबल हो रहे हैं, वे कम हो जायँ। अब विचारणीय यह है कि विश्व के लिये कौन सी भाषा उपयुक्त हो सकती है?

यदि एक ही स्थान में भिन्न भिन्न देशों के ऐसे मनुष्य रहने लगें, जो परस्पर एक दूसरे की भाषा नहीं समझ सकते, तो क्या वे लोग सदा मूक ही बनकर बैठे रहेंगे? कुछ समय तक उनको अड़चन अवश्य होगी, पर धीरे-धीरे वे लोग एक ऐसी भाषा ईजाद कर लेंगे, जिससे सभी अपने मनोगत भावों को प्रकट कर सकें। इसमें सदेह नहीं कि वह भाषा खिचड़ी होगी, उसमें सभी भाषाओं के दो-दो, चार चार शब्द रहेंगे, पर प्रधानता उसी भाषा की होगी, जिसके बोलनेवाले सबसे अधिक अथवा सबसे अधिक प्रतापी होंगे। ससार में भिन्न भिन्न जातियों का सघर्षण होता ही रहता है। इसके फल-स्वरूप लोग परस्पर एक दूसरे की भाषा से शब्द लेते रहते हैं। आप किसी भी देश की भाषा पर ध्यान दीजिए। उसमें खोज करने से विदेशी शब्दों की भरमार मिलेगी। लोग विदेशी शब्दों को इतनी शीघ्रता से अपना लेते हैं कि किसी का उधर ध्यान ही नहीं जाता। दूसरी बात यह कि मनुष्य आप ही अपनी भाषा को देश और काल के अनुसार कर लेता है। यही भाषा की परिवर्तन शीलता है। यदि साहित्य और व्याकरण का बधन न रहे, तो शब्दों का रूपांतर इतना शीघ्र होने लगे कि फिर कोई एक भाषा ही न रह जाय। शब्दों के परिवर्तन में उनका उच्चारण ही रूपांतरित होता है। हिंदी

के 'रंगरूट' और 'वलमटेर' इसी के उदाहरण हैं। अँगरेज़ी के समान उन्नत भाषाओं में भी ऐसा परिवर्तन होता रहता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं की इस परिवर्तन-शीलता को देखकर इँगलैंड के एक प्रसिद्ध विद्वान् ने यह अनुमान किया है कि कभी ऐसा भी समय आवेगा, जब संसार में पाँच ही छ मुख्य-मुख्य भाषाएँ रह जायँगी, और अन्य भाषाएँ उन्हीं में विलीन हो जायँगी।

आजकल भाषा-विज्ञान-शास्त्र की ख़ूब उन्नति हो रही है। भिन्न-भिन्न भाषाओं पर तुलनात्मक विचार किया जाता है। जब सर विलियम जोंस के उद्योग से योरप में संस्कृत का प्रचार हुआ, तब इस विज्ञान की सृष्टि हुई। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के जन्मदाता बॉप (Bopp) थे। उनके बाद जेकब ग्रिम साहब ने व्याकरण-शास्त्र पर अपना तुलनात्मक ग्रंथ प्रकाशित किया। तब से इस शास्त्र की बराबर उन्नति हो रही है। भाषा-विज्ञान की उन्नति का एक फल यह हुआ कि कुछ लोगों को एक कृत्रिम विश्व-भाषा बनाने की सूझी। आज तक ऐसी तीन भाषाओं की सृष्टि हो चुकी है। बँगला के प्रवासी-पत्र में इन भाषाओं के विषय में एक लेख भी निकला था।

मानवीय सभ्यता के विस्तार के लिये यह आवश्यक है कि आज तक मनुष्यों ने ज्ञान-राशि की जो संपत्ति अर्जित की है, उसका सर्वत्र प्रचार कर दिया जाय। पर ज्ञान का मुख्य द्वार है भाषा। अतएव एक ही भाषा में यदि विश्व का ज्ञान सुलभ कर दिया जाय, तो उससे मानव-जाति का बड़ा उपकार हो। कई भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना बड़ा कठिन है। इसलिये यदि संसार के सभी विद्वान् एक ही भाषा में अपने मनोगत भाव प्रकट करने लगें, तो सर्वसाधारण के लिये भी ज्ञान का पथ सुगम हो जाय। परंतु जिन तीन भाषाओं का उल्लेख किया गया है, वे

पृथ्वी के अन्य देशों से अपनी घनिष्ठता रक्खे। इसके लिये उसे अन्य देशों की भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए। ससार की सब भाषाओं का ज्ञान होना असभव है। इसलिये यदि किसी ऐसी भाषा का प्रचार किया जाय, जिसे सभी देश ग्रहण कर सकें, तो उससे मानव जाति का बड़ा उपकार होगा। आजकल विभिन्न जातियों में जो पारस्परिक सघर्षण चल रहा है, ईर्षा द्वेष के जो भाव प्रबल हो रहे हैं, वे कम हो जायँ। अब विचारणीय यह है कि विश्व के लिये कौन सी भाषा उपयुक्त हो सकती है?

यदि एक ही स्थान में भिन्न भिन्न देशों के ऐसे मनुष्य रहने लगें, जो परस्पर एक दूसरे की भाषा नहीं समझ सकते, तो क्या वे लोग सदा मूक ही बनकर बैठे रहेंगे? कुछ समय तक उनको अड़चन अवश्य होगी, पर धीरे-धीरे वे लोग एक ऐसी भाषा ईजाद कर लेंगे, जिससे सभी अपने मनोगत भावों को प्रकट कर सकें। इसमें सदेह नहीं कि वह भाषा खिचड़ी होगी, उसमें सभी भाषाओं के दो दो, चार चार शब्द रहेंगे, पर प्रधानता उसी भाषा की होगी, जिसके बोलनेवाले सबसे अधिक अथवा सबसे अधिक प्रतापी होंगे। ससार में भिन्न भिन्न जातियों का सघर्षण होता ही रहता है। इसके फल स्वरूप लोग परस्पर एक दूसरे की भाषा से शब्द लेते रहते हैं। आप किसी भी देश की भाषा पर ध्यान दीजिए। उसमें खोज करने से विदेशी शब्दों की भरमार मिलेगी। लोग विदेशी शब्दों को इतनी शीघ्रता से अपना लेते हैं कि किसी का उधर ध्यान ही नहीं जाता। दूसरी बात यह कि मनुष्य आप ही अपनी भाषा को देश और काल के अनुसार कर लेता है। यही भाषा की परिवर्तन-शीलता है। यदि साहित्य और व्याकरण का बधन न रहे, तो शब्दों का रूपांतर इतना शीघ्र होने लगे कि फिर कोई एक भाषा ही न रह जाय। शब्दों के परिवर्तन में उनका उच्चारण ही रूपांतरित होता है। हिंदी

के 'रंगरूट' और 'वलमटेर' इसी के उदाहरण हैं। अँगरेज़ी के समान उन्नत भाषाओं में भी ऐसा परिवर्तन होता रहता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं की इस परिवर्तन-शीलता को देखकर इँगलैंड के एक प्रसिद्ध विद्वान् ने यह अनुमान किया है कि कभी ऐसा भी समय आवेगा, जब संसार में पाँच ही छ मुख्य-मुख्य भाषाएँ रह जायँगी, और अन्य भाषाएँ उन्हीं में विलीन हो जायँगी।

आजकल भाषा-विज्ञान-शास्त्र की ख़ूब उन्नति हो रही है। भिन्न-भिन्न भाषाओं पर तुलनात्मक विचार किया जाता है। जब सर विलियम जोंस के उद्योग से योरप में संस्कृत का प्रचार हुआ, तब इस विज्ञान की सृष्टि हुई। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के जन्मदाता बॉप (Bopp) थे। उनके बाद जेकब ग्रिम साहब ने व्याकरण-शास्त्र पर अपना तुलनात्मक ग्रंथ प्रकाशित किया। तब से इस शास्त्र की बराबर उन्नति हो रही है। भाषा-विज्ञान की उन्नति का एक फल यह हुआ कि कुछ लोगों को एक कृत्रिम विश्व-भाषा बनाने की सूझी। आज तक ऐसी तीन भाषाओं की सृष्टि हो चुकी है। बँगला के प्रवासी-पत्र में इन भाषाओं के विषय में एक लेख भी निकला था।

मानवीय सभ्यता के विस्तार के लिये यह आवश्यक है कि आज तक मनुष्यों ने ज्ञान-राशि की जो संपत्ति अर्जित की है, उसका सर्वत्र प्रचार कर दिया जाय। पर ज्ञान का मुख्य द्वार है भाषा। अतएव एक ही भाषा में यदि विश्व का ज्ञान सुलभ कर दिया जाय, तो उससे मानव-जाति का बड़ा उपकार हो। कई भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना बड़ा कठिन है। इसलिये यदि संसार के सभी विद्वान् एक ही भाषा में अपने मनोगत भाव प्रकट करने लगें, तो सर्वसाधारण के लिये भी ज्ञान का पथ सुगम हो जाय। परंतु जिन तीन भाषाओं का उल्लेख किया गया है, वे

पृथ्वी के अन्य देशो से अपनी घनिष्ठता रक्खे। इसके लिये उसे अन्य देशों की भाषाश्रो का ज्ञान होना चाहिए। संसार की सब भाषाओं का ज्ञान होना असंभव है। इसलिये यदि किसी ऐसी भाषा का प्रचार किया जाय, जिसे सभी देश ग्रहण कर सकें, तो उससे मानव-जाति का बड़ा उपकार होगा। आजकल विभिन्न जातियो में जो पारस्परिक संघर्पण चल रहा है, ईर्षा द्वेष के जो भाव प्रबल हो रहे हैं, वे कम हो जायँ। अब विचारणीय यह है कि विश्व के लिये कौन सी भाषा उपयुक्त हो सकती है?

यदि एक ही स्थान में भिन्न भिन्न देशो के ऐसे मनुष्य रहने लगें, जो परस्पर एक दूसरे की भाषा नहीं समझ सकते, तो क्या वे लोग सदा मूक ही बनकर बैठे रहेंगे? कुछ समय तक उनको अड़चन अवश्य होगी, पर धीरे-धीरे वे लोग एक ऐसी भाषा ईजाद कर लेंगे, जिससे सभी अपने मनोगत भावों को प्रकट कर सकें। इसमें संदेह नहीं कि वह भाषा खिचड़ी होगी, उसमें सभी भाषाओं के दो-दो, चार-चार शब्द रहेंगे, पर प्रधानता उसी भाषा की होगी, जिसके बोलनेवाले सबसे अधिक अथवा सबसे अधिक प्रतापी होंगे। संसार में भिन्न भिन्न जातियो का संघर्पण होता ही रहता है। इसके फल स्वरूप लोग परस्पर एक दूसरे की भाषा से शब्द लेते रहते हैं। आप किसी भी देश की भाषा पर ध्यान दीजिए। उसमें खोज करने से विदेशी शब्दो की भरमार मिलेगी। लोग विदेशी शब्दों को इतनी शीघ्रता से अपना लेते हैं कि किसी का उधर ध्यान ही नहीं जाता। दूसरी बात यह कि मनुष्य आप ही अपनी भाषा को देश और काल के अनुसार कर लेता है। यही भाषा की परिवर्तन-शीलता है। यदि साहित्य और व्याकरण का बंधन न रहे, तो शब्दों का रूपांतर इतना शीघ्र होने लगे कि फिर कोई एक भाषा ही न रह जाय। शब्दों के परिवर्तन में उनका उच्चारण ही रूपांतरित होता है। हिंदी

के 'रंगरूट' और 'वलमटेर' इसी के उदाहरण हैं। अँगरे
समान उन्नत भाषाओं में भी ऐसा परिवर्तन होता रहता
भिन्न-भिन्न भाषाओं की इस परिवर्तन-शीलता को देखकर इँगले
एक प्रसिद्ध विद्वान् ने यह अनुमान किया है कि कभी ऐसा
समय आवेगा, जब संसार में पाँच ही छ मुख्य-मुख्य भाषा
जायँगी, और अन्य भाषाएँ उन्हीं में विलीन हो जायँगी।

आजकल भाषा-विज्ञान-शास्त्र की खूब उन्नति हो रही है।
भिन्न भाषाओं पर तुलनात्मक विचार किया जाता है। ज
विलियम जोंस के उद्योग से योरप में संस्कृत का प्रचार हुआ
इस विज्ञान की सृष्टि हुई। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के जन्म
बॉप (Bopp) थे। उनके बाद जेकब ग्रिम साहब ने व्या
शास्त्र पर अपना तुलनात्मक ग्रंथ प्रकाशित किया। तब
शास्त्र की बराबर उन्नति हो रही है। भाषा-विज्ञान की
का एक फल यह हुआ कि कुछ लोगों को एक कृत्रिम विश्व
बनाने की सूझी। आज तक ऐसी तीन भाषाओं की सृ
चुकी है। बँगला के प्रवासी-पत्र में इन भाषाओं के विषय
लेख भी निकला था।

मानवीय सभ्यता के विस्तार के लिये यह आवश्यक
आज तक मनुष्यों ने ज्ञान-राशि की जो संपत्ति अर्जित
उसका सर्वत्र प्रचार कर दिया जाय। पर ज्ञान का मुख्य
भाषा। अतएव एक ही भाषा में यदि विश्व का ज्ञान सुल
दिया जाय, तो उससे मानव-जाति का बड़ा उपकार हो
भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना बड़ा कठिन है। इसलि
संसार के सभी विद्वान् एक ही भाषा में अपने मनोग
प्रकट करने लगें, तो सर्वसाधारण के लिये भी ज्ञान का पथ
हो जाय। परंतु जिन तीन भाषाओं का उल्लेख किया गया

पृथ्वी के अन्य देशों से अपनी घनिष्ठता रक्खे। इसके लिये उसे अन्य देशों की भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए। संसार की सब भाषाओं का ज्ञान होना असंभव है। इसलिये यदि किसी ऐसी भाषा का प्रचार किया जाय, जिसे सभी देश ग्रहण कर सकें, तो उससे मानव-जाति का बड़ा उपकार होगा। आजकल विभिन्न जातियों में जो पारस्परिक संघर्षण चल रहा है, ईर्षा द्वेष के जो भाव प्रबल हो रहे हैं, वे कम हो जायँ। अब विचारणीय यह है कि विश्व के लिये कौन सी भाषा उपयुक्त हो सकती है?

यदि एक ही स्थान में भिन्न-भिन्न देशों के ऐसे मनुष्य रहने लगें, जो परस्पर एक दूसरे की भाषा नहीं समझ सकते, तो क्या वे लोग सदा मूक ही बनकर बैठे रहेंगे? कुछ समय तक उनको अड़चन अवश्य होगी, पर धीरे-धीरे वे लोग एक ऐसी भाषा ईजाद कर लेंगे, जिससे सभी अपने मनोगत भावों को प्रकट कर सकें। इसमें संदेह नहीं कि वह भाषा खिचड़ी होगी, उसमें सभी भाषाओं के दो-दो, चार-चार शब्द रहेंगे, पर प्रधानता उसी भाषा की होगी, जिसके बोलनेवाले सबसे अधिक अथवा सबसे अधिक प्रतापी होंगे। संसार में भिन्न भिन्न जातियों का संघर्षण होता ही रहता है। इसके फल-स्वरूप लोग परस्पर एक दूसरे की भाषा से शब्द लेते रहते हैं। आप किसी भी देश की भाषा पर ध्यान दीजिए। उसमें खोज करने से विदेशी शब्दों की भरमार मिलेगी। लोग विदेशी शब्दों को इतनी शीघ्रता से अपना लेते हैं कि किसी का उधर ध्यान ही नहीं जाता। दूसरी बात यह कि मनुष्य आप ही अपनी भाषा को देश और काल के अनुसार कर लेता है। यही भाषा की परिवर्तन-शीलता है। यदि साहित्य और व्याकरण का बंधन न रहे, तो शब्दों का रूपांतर इतना शीघ्र होने लगे कि फिर कोई एक भाषा ही न रह जाय। शब्दों के परिवर्तन में उनका उच्चारण ही रूपांतरित होता है। हिंदी

के 'रंगरूट' और 'वलमटेर' इसी के उदाहरण हैं। अँगरेज़ी
समान उन्नत भाषाओं में भी ऐसा परिवर्तन होता रहता
भिन्न-भिन्न भाषाओं की इस परिवर्तन-शीलता को देखकर इँगलैं
एक प्रसिद्ध विद्वान् ने यह अनुमान किया है कि कभी ऐसा
समय आवेगा, जब संसार में पाँच ही छ मुख्य-मुख्य भाषाएँ
जायँगी, और अन्य भाषाएँ उन्हीं में विलीन हो जायँगी।

आजकल भाषा-विज्ञान-शास्त्र की ख़ूब उन्नति हो रही है।
भिन्न भाषाओं पर तुलनात्मक विचार किया जाता है। जब
विलियम जोंस के उद्योग से योरप में संस्कृत का प्रचार हुआ,
इस विज्ञान की सृष्टि हुई। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के जन्म
बॉप (Bopp) थे। उनके बाद जेकब ग्रिम साहब ने व्या
शास्त्र पर अपना तुलनात्मक ग्रंथ प्रकाशित किया। तब
शास्त्र की बराबर उन्नति हो रही है। भाषा-विज्ञान की
का एक फल यह हुआ कि कुछ लोगों को एक कृत्रिम विश्व
बनाने की सूझी। आज तक ऐसी तीन भाषाओं की सृ
चुकी है। बँगला के प्रवासी-पत्र में इन भाषाओं के विषय
लेख भी निकला था।

मानवीय सभ्यता के विस्तार के लिये यह आवश्यव
आज तक मनुष्यों ने ज्ञान-राशि की जो संपत्ति अर्जित
उसका सर्वत्र प्रचार कर दिया जाय। पर ज्ञान का मुख्य
भाषा। अतएव एक ही भाषा में यदि विश्व का ज्ञान सु
दिया जाय, तो उससे मानव-जाति का बड़ा उपकार
भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना बड़ा कठिन है। इसवि
संसार के सभी विद्वान् एक ही भाषा में अपने मनो
प्रकट करने लगें, तो सर्वसाधारण के लिये भी ज्ञान का

पृथ्वी के अन्य देशों से अपनी घनिष्ठता रक्खे। इसके लिये उसे अन्य देशों की भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए। संसार की सब भाषाओं का ज्ञान होना असंभव है। इसलिये यदि किसी ऐसी भाषा का प्रचार किया जाय, जिसे सभी देश ग्रहण कर सकें, तो उससे मानव-जाति का बड़ा उपकार होगा। आजकल विभिन्न जातियों में जो पारस्परिक संघर्षण चल रहा है, ईर्षा-द्वेष के जो भाव प्रबल हो रहे हैं, वे कम हो जायँ। अब विचारणीय यह है कि विश्व के लिये कौन-सी भाषा उपयुक्त हो सकती है?

यदि एक ही स्थान में भिन्न-भिन्न देशों के ऐसे मनुष्य रहने लगें, जो परस्पर एक दूसरे की भाषा नहीं समझ सकते, तो क्या वे लोग सदा मूक ही बनकर बैठे रहेंगे? कुछ समय तक उनको अड़चन अवश्य होगी, पर धीरे-धीरे वे लोग एक ऐसी भाषा ईजाद कर लेंगे, जिससे सभी अपने मनोगत भावों को प्रकट कर सकें। इसमें संदेह नहीं कि वह भाषा खिचड़ी होगी, उसमें सभी भाषाओं के दो-दो, चार-चार शब्द रहेंगे, पर प्रधानता उसी भाषा की होगी, जिसके बोलनेवाले सबसे अधिक अथवा सबसे अधिक प्रतापी होंगे। संसार में भिन्न भिन्न जातियों का संघर्षण होता ही रहता है। इसके फल-स्वरूप लोग परस्पर एक दूसरे की भाषा से शब्द लेते रहते हैं। आप किसी भी देश की भाषा पर ध्यान दीजिए। उसमें खोज करने से विदेशी शब्दों की भरमार मिलेगी। लोग विदेशी शब्दों को इतनी शीघ्रता से अपना लेते हैं कि किसी का उधर ध्यान ही नहीं जाता। दूसरी बात यह कि मनुष्य आप ही अपनी भाषा को देश और काल के अनुसार कर लेता है। यही भाषा की परिवर्तन-शीलता है। यदि साहित्य और व्याकरण का बंधन न रहे, तो शब्दों का रूपांतर इतना शीघ्र होने लगे कि फिर कोई एक भाषा ही न रह जाय। शब्दों के परिवर्तन में उनका उच्चारण ही रूपांतरित होता है। हिंदी

के 'रंगरूट' और 'वलमटेर' इसी के उदाहरण हैं। अँगरेज़ी के समान उन्नत भाषाओं में भी ऐसा परिवर्तन होता रहता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं की इस परिवर्तन-शीलता को देखकर इँगलैंड के एक प्रसिद्ध विद्वान् ने यह अनुमान किया है कि कभी ऐसा भी समय आवेगा, जब संसार में पाँच ही छ मुख्य-मुख्य भाषाएँ रह जायँगी, और अन्य भाषाएँ उन्हीं में विलीन हो जायँगी।

आजकल भाषा-विज्ञान-शास्त्र की ख़ूब उन्नति हो रही है। भिन्न-भिन्न भाषाओं पर तुलनात्मक विचार किया जाता है। जब सर विलियम जोंस के उद्योग से योरप में संस्कृत का प्रचार हुआ, तब इस विज्ञान की सृष्टि हुई। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के जन्मदाता बॉप (Bopp) थे। उनके बाद जेकब ग्रिम साहब ने व्याकरण-शास्त्र पर अपना तुलनात्मक ग्रंथ प्रकाशित किया। तब से इस शास्त्र की बराबर उन्नति हो रही है। भाषा-विज्ञान की उन्नति का एक फल यह हुआ कि कुछ लोगों को एक कृत्रिम विश्व-भाषा बनाने की सूझी। आज तक ऐसी तीन भाषाओं की सृष्टि हो चुकी है। बँगला के प्रवासी-पत्र में इन भाषाओं के विषय में एक लेख भी निकला था।

मानवीय सभ्यता के विस्तार के लिये यह आवश्यक है कि आज तक मनुष्यों ने ज्ञान-राशि की जो संपत्ति अर्जित की है, उसका सर्वत्र प्रचार कर दिया जाय। पर ज्ञान का मुख्य द्वार है भाषा। अतएव एक ही भाषा में यदि विश्व का ज्ञान सुलभ कर दिया जाय, तो उससे मानव-जाति का बड़ा उपकार हो। कई भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना बड़ा कठिन है। इसलिये यदि संसार के सभी विद्वान् एक ही भाषा में अपने मनोगत भाव प्रकट करने लगें, तो सर्वसाधारण के लिये भी ज्ञान का पथ सुगम हो जाय। परंतु जिन तीन भाषाओं का उल्लेख किया गया है, वे

साहित्यिक दृष्टि से नहीं निर्मित हुई हैं, किंतु व्यावसायिक दृष्टि से बनाई गई है। उनका उद्देश यह नहीं कि उनसे विश्व साहित्य का प्रचार किया जाय। लोगो को विदेशी भाषाओं का ज्ञान न होने से जो अड़चन होती है, उसी को दूर कर देना इन विश्व-भाषाओं का उद्देश है। इनसे ज्ञान का द्वार उन्मुक्त न होगा, किंतु व्यापारियों और यात्रियो को सुविधा होगी। इन भाषाओं से मनुष्य उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं होंगे। इनसे उन्हें आराम ज़रूर मिलेगा। हम चाहते हैं कि एक ऐसी भाषा का प्रचार किया जाय, जिसे संसार के सब विद्वान् अपना लें। यह भाषा इतनी व्यापक हो जाय कि इसमें पूर्व का अध्यात्मवाद और पश्चिम का भौतिकवाद, दोनो व्यक्त किए जा सकें। पाश्चात्य मनोविज्ञान-शास्त्र में आध्यात्मिक शब्दों के अभाव से बड़ा झगड़ा होता है। यहाँ तक कि अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है। विश्व भाषा का ऐसा रूप हो कि मनुष्य की सभी भावनाएँ सुबोध हो जायँ। हम कह नहीं सकते कि कभी ऐसी विश्व भाषा का प्रचार होगा या नहीं। परतु आजकल ससार के नेता लोग विभिन्न जातियों के मनोमालिन्य को दूर करने की चेष्टा कर रहे हैं। अत सभव है, कभी सभी देश एक भाव, एक धर्म और एक भाषा ग्रहण करके एक विशाल राष्ट्र के अतर्गत हो जायँ। अस्तु।

आजकल विश्व भाषा के रूप में जिन तीन भाषाओं का प्रचार करने की चेष्टा की जा रही है, उनमें पहली भाषा का नाम वोलापुक (Volapuk) है। इस भाषा की उद्भावना सन् १८८० में हुई थी। यह भाषा युक्ति शास्त्र पर अवलंबित है। यह तो सभी जानते है कि प्रचलित भाषाओं में शब्दों के अर्थ जानने में युक्ति काम नहीं देती। कुछ शब्दों को छोड़कर बाकी शब्दों में अर्थ और ध्वनि का कोई सबध नहीं। वोलापुक के उद्भावक

थे Johann M. Schleyer। आपने इस भाषा को युक्ति-युक्त और नियमित करना चाहा। इसके लिये आपने यह उपाय सोचा कि कुछ मूल-शब्द निर्द्धारितकर दिए जायँ, और उन्हीं शब्दों से, प्रत्यय और विभक्ति के योग और समास से, नाना प्रकार के शब्द बनाए जायँ। ये शब्द दीर्घ न हों, इसलिये मूल-शब्दों को एकाक्षरिक करना चाहिए। इन्हीं उपायों का अवलंबन कर आपने वोलापुक की रचना की।

वोलापुक के बाद एस्परांटो-नामक भाषा की सृष्टि हुई। इस भाषा के जन्मदाता थे डॉक्टर जामिन हाफ़। सरस्वती में आपका जीवन-चरित प्रकाशित हो चुका है। सन् १९०१ से एस्परांटो का प्रचार खूब बढ़ने लगा। एस्परांटो के व्याकरण-भाग में मौलिकता है। इसमें एक ही नियम की सर्वत्र पाबंदी की जाती है। अपवाद तो एक भी नहीं। एक मूल-शब्द से अनेक शब्द बनाए जा सकते हैं।

विभक्तियों और प्रत्ययों की संख्या भी कम है। इसका शब्द-समूह किसी एक भाषा से नहीं लिया गया है। जामिन हाफ़ साहब ने देखा कि भिन्न-भिन्न भाषाओं के अनेक शब्दों में बड़ी समता है। अतएव ऐसे शब्दों की उत्पत्ति एक ही मूल-शब्द से होनी चाहिए। आपने यथासंभव इन्हीं मूल-शब्दों के आधार पर अपनी भाषा की रचना की है।

एस्परांटो का सबसे बड़ा प्रतिद्वंद्वी है Idion Neutral. पेट्रोग्रेड में Akademi International de Lingu universal-नामक एक समिति है। उसी के द्वारा इस भाषा की सृष्टि हुई है। इस समिति के डाइरेक्टर रोज़नबर्ग साहब इसके सृष्टिकर्ता हैं।

विश्व-भाषा विद्वानों की कोरी कल्पना नहीं। वह मनुष्य-समाज के लिये आवश्यक है, इसी पर उसका भविष्य निर्भर है।

एक प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् ने इसकी जो विवेचना की है, उसे हम नीचे देते हैं—

"मनुष्य-जाति की दो मुख्य स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ है। एक आत्मोन्नति की और दूसरी आत्मरक्षा की। इन्हीं दो प्रवृत्तियों के द्वंद्व-युद्ध से मनुष्य-जाति का इतिहास बना है। जीवन की स्वच्छंद गति के लिये यह आवश्यक है कि ये दोनो साम्यावस्था को प्राप्त हों। मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह ग्रहण करने की इच्छा करता रहता है। ग्रहण करने के बाद वह उसकी रक्षा के लिये चेष्टा करता रहता है। इसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर वह जिसे ग्रहण करता है, उसे दृढ़ता-पूर्वक पकड़ता और आत्म-सात् कर लेता है। वह उसी में आबद्ध हो जाता है। इसी के साथ एक दूसरी प्रवृत्ति है आत्मोन्नति की। यह प्राण का आवेग है, जो सदैव सभी व्यवधानों को दूर करने की चेष्टा करता है। यह प्राण का आह्वान है, जो मनुष्य को सदैव अग्रसर होने के लिये प्रेरित करता है। परंतु मनुष्य की सदैव उन्नति नहीं होती रहती। यदि एक युग में वह आगे बढ़ता है, तो उसके बाद जो युग आता है, उसमें उसे पीछे हटना पड़ता है। परंतु वह रुकता इसीलिये है कि वह पुनः आगे बढ़े।

"आजकल हम ऐसे युग में हैं, जब मानव-जाति काल के प्रत्या-घात से रुककर पुनः अग्रसर होने की चेष्टा कर रही है। इस समय सर्वत्र राष्ट्रीयता की संकुचित दीवारों के बीच पड़कर मनुष्य की गति अवरुद्ध हो रही है। इस संकीर्णता में पड़कर उसका दम घुट रहा है। परंतु अब सभी इन संकीर्ण दीवारों से निकलकर विश्व के विस्तृत क्षेत्र में प्रविष्ट होने के लिये उत्सुक हो रहे हैं।

"जब योरप में महायुद्ध का आरंभ हुआ, तब सभी लोग जातीय विद्वेष और विरोध के कुंड में कूद पड़े। उस समय ऐसे थोड़े ही लोग

दिखाई देते थे, जिन्हें मनुष्य-जाति की एकता पर श्रद्धा थी। जो थे भी, वे देश के शत्रु कहे जाते थे। परंतु ऐसे लोग कम न थे। संसार के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक ऐसे कितने ही लोग थे, जो वसुधा को कुटुंब मानते थे, जिनके लिये मानव-जाति की एकता राष्ट्रीयता से अधिक उच्च थी। यदि विश्व-प्रेम के ये उपासक पृथक्-पृथक् न रहकर एक हो जायँ, तो उनके लिये कोई भी काम असाध्य नहीं। विचारणीय यह है कि इनके सम्मिलन में वाधक कौन है? देश की स्थिति अथवा आचार-व्यवहार की भिन्नता से वाधा नहीं होती। वाधा है भाषा की भिन्नता। प्रत्येक जाति एक ही उद्देश से काम कर रही है। परंतु उसकी कृतियों से संसार की अन्य जातियों को लाभ नहीं होता; क्योंकि बहुधा उनकी कृति को जाननेवालों की संख्या परिमित होती है। ज्ञान का आदान-प्रदान न होने से मनुष्य-शक्ति की बड़ी हानि होती है। एक ही मनुष्य-जाति की संतान होने पर भी जब लोग एक जगह मिलते हैं, तब भाई भाई को नहीं पहचान सकता। जो लोग यह चाहते हैं कि मनुष्यों में पारस्परिक विद्रोह न रहे, उन्हें एक विश्व-भाषा का निर्माण करना पड़ेगा। तभी मनुष्यों में भ्रातृभाव का प्रचार शीघ्रता से होगा।"

साहित्य और धर्म

साहित्य पर धर्म का प्रभाव सदैव विद्यमान रहता है। साहित्य ही क्यों, भाषा भी धर्म के प्रभाव से बच नहीं सकती। साहित्य में जाति के उच्चतम भाव प्रकट होते हैं, और उन भावों की अभिव्यक्ति का साधन भाषा ही है। किसी भी जाति को लीजिए, उसके धार्मिक विश्वासों में ही उसकी श्रेष्ठ भावनाएँ रहती हैं। साहित्य के आदर्श हमारे धार्मिक आदर्श ही होते हैं। विचारणीय यह है कि साहित्य में जो चिरंतन भाव पाया जाता है, उसका उद्गम कहाँ से हुआ? हमारे धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन होते रहते हैं। इसके सिवा भिन्न-भिन्न धर्मों के भिन्न-भिन्न आदर्श होते हैं। परंतु धर्म का वह सनातन रूप कैसा है, जो सभी देशों और सभी युगों में विद्यमान रहता है? मनुष्य-समाज का विकास होता रहता है, और उसके साथ धर्म और साहित्य का भी विकास होता है। इस विकास में धर्म का कौन-सा सनातन भाव सदैव विद्यमान रहता है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हमें पहले यह विचार करना चाहिए कि धर्म का विकास किस प्रकार होता है?

विकास का मूल-सिद्धांत यह है कि बाह्य अवस्था के साथ आभ्यंतरिक अवस्था का सामंजस्य करके प्रकृति का क्रमशः विकास होता है। जितना ही यह सामंजस्य विस्तृत और पूर्ण होगा, उतना ही प्रकृति का विकास होगा। संसार में उन्नति का मूल-मंत्र यही सामंजस्य-विधान की चेष्टा है। अंतर्जगत् और बाह्य जगत्, दोनो का योग ही विश्व-प्रकृति है। उसमें ये दोनो ही सत्य हैं, और दोनो एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं। इन दोनो में जैसा

संबंध स्थापित होता है, उसी से विश्व में विकास और परिवर्तन होते हैं। प्रकृति के सभी कार्यों में सत्य की सत्ता है। विश्व के विकास में भी सत्य है। अभी तक संसार का जैसा विकास होता गया है, वह अमूलक नहीं है। उच्च-नीच का भेद अवश्य है। वाह्य-जगत् और अंतर्जगत् में जो संबंध स्थापित होता है, वह जितना ही पूर्ण होता है, उतना ही उत्कृष्ट उसका विकास भी होता है। प्राणिजगत् में वाह्य अवस्था के लिये निकृष्ट जीवन के शरीर-यंत्र जितने उपयोगी हैं, उससे अधिक उपयोगी उत्कृष्ट जीवन के शरीर-यंत्र हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इस संबंध की पूर्णता के ऊपर ही विकास का उत्कर्ष और अपकर्ष निर्भर है। इसी नियम के अधीन जगत् में भिन्न-भिन्न जीवों की उत्पत्ति, स्थिति और उन्नति होती है। शारीरिक, मानसिक और नैतिक, सभी अवस्थाओं के विकास में यह उपयोगिता न्यूनाधिक भाव से रहती है। वाह्य अवस्था हमारी प्रकृति पर सदैव अपना प्रभाव डालती और उसी के अनुरूप हमें बनाना चाहती है। यह प्रभाव प्रकृति में जैसा प्रतिफलित होता है, वैसा ही उसका विकास होता है। अतएव हमारी प्रकृति के विकास में वाह्य अवस्था प्रवर्तक के रूप में वर्तमान रहती है। इसी से वाह्य अवस्था पर ध्यान रखकर धर्म के भी विकास की व्याख्या करनी होगी। हम लोगों का उन्नत इंद्रिय-समूह, उत्कृष्ट सहज बुद्धि, पवित्र नैतिक बल, ये सब साधारण जीवन-व्यापार के ही परिणाम हैं। यदि हम किसी परिणाम अथवा परिवर्तन को समझना चाहते हैं, तो हमें वाह्य विषय के साथ उसका संबंध देखना होगा। इसी संबंध-सूत्र से विकास के समस्त रहस्य का उद्घाटन हो जाता है। जगत् के सभी परिणामों का मूल अतीत में विद्यमान है। अतीत के संबंध-बंधन से ही जीवन के समस्त व्यापार श्रृंखला-बद्ध हैं। इस प्रकार हम सभी परिणामों

में विकास की अनवच्छिन्न धारा—भूत काल से वर्तमान काल तक—देख सकते हैं। किसी भी परिणाम का यथार्थ रूप देखने के लिये हमें निम्न-लिखित बातों पर ध्यान देना पड़ेगा—(१) उसके मूल का बाह्य विषय, (२) उसके विकास की धारा, (३) उसका वर्तमान रूप । इसी रीति से अनुसंधान करके विद्वानों ने प्राकृतिक विज्ञान की रचना की है। परंतु मनुष्य का जो नैतिक और धार्मिक विकास हुआ है, उसके मूल में बाह्य विषय को उपलब्ध करना सहज नहीं है। इसी से इसके संबंध में कोई भी परिष्कृत सिद्धांत निश्चित नहीं हुआ है। हर्बर्ट स्पेंसर ने यह स्थिर किया है कि पृथ्वी पर ऐसा कोई भी विकास नहीं है, जो बाह्य विषय-मूलक न हो। प्रकृति के किसी भी विभाग में ऐसा कोई भी परिणाम प्रत्यक्ष नहीं है, जिसका अवलंब बाह्य विषय न हो। किंतु नैतिक तथा धार्मिक भाव प्रत्यक्ष नहीं है। इसी कारण बाह्य विषय से उनका संबंध ढूँढ़ना कठिन हो जाता है। परंतु प्रत्यक्ष विषय के दृष्टांत से मूल का अनुसंधान करने पर बाह्य विषय से उनका संबंध लक्षित होने लगता है।

आदि-काल से मनुष्य-समाज में नीति और धर्म-ज्ञान का परिचय पाया जाता है। पृथ्वी पर ऐसी कोई असभ्य जाति नहीं हुई, जिसमें इन दोनो भावों का अंकुर न देखा गया हो। अब विचारणीय यह है कि पहले किस बाह्य विषय के उपलक्ष्य से इन दोनो संस्कारों की उत्पत्ति हुई? नैतिक विकास का कारण है समाज की स्थिति और उन्नति। इन भावों का लोप हो जाने से समाज में उच्छृंखलता फैल जाती है। समाज के कल्याण के लिये मनुष्यों की कुछ मनोवृत्तियाँ अनुकूल हैं, और कुछ प्रतिकूल। अनुकूल मनोवृत्तियों की स्फूर्ति से मनुष्य का नैतिक जीवन संगठित होता है। एक कारण और भी है। वह है अपार्थिव जगत् की

वना । सर्वसाधारण का यह विश्वास चिरंतन है कि मानव-
वन की समाप्ति यहीं नहीं होती । इस लोक के बाद भी कोई
लोक है । परलोक की इस धारणा से नैतिक ज्ञान में एक परि-
ता आ गई है । परलोक का अस्तित्व न मानने से हमारा जीवन
स्य-हीन प्रतीत होने लगता है । उस समय यह जान पड़ता है
वर्तमान ही एक-मात्र जीवन का सार है, और तब जीवन एक
अस्थायी, आकस्मिक पार्थिक व्यापार हो जाता है । परलोक का
स्तित्व मानने से कर्म-फल भी संभव होता है । उसी से मानव-
वन नीति के उच्च शिखर की ओर क्रमशः आकृष्ट होता जाता है ।
नीति-सोपान पर आरोहण कर अंत में ईश्वर के साथ
ग स्थापित करना पड़ता है । सभी नीतियों के ऊपर ईश्वर का
ासन है । नीति ईश्वर-प्रदत्त है । इसी से मनुष्य उसे नत-मस्तक
स्वीकार कर लेता है । मतलब यह कि धर्म-ज्ञान के तीन
पादान हैं—(१) ईश्वर-विश्वास, (२) अदृष्ट लोक पर
श्वास, और (३) पाप-पुण्य की धारणा ।

फ़िस्के-नामक विद्वान् ने धर्म-विज्ञान के विकास का वर्णन इस
कार किया है—पृथ्वी के इतिहास में उस समय एक विशेष
रिवर्तनकाल उपस्थित हुआ । जब मानव-जीवन में प्रेम का आवि-
र्व हुआ, तब मनुष्य की विकासोन्मुख आत्मा में पाप और पुण्य
ी धारणा का उद्गम होने लगा । परिवार का संगठन होने
गा । समाज-बंधन का आरंभ हुआ । निराकार भावों ने साकार
ापा का रूप ग्रहण किया । इसी समय मनुष्य का विकास उच्चतम
वस्था की ओर अग्रसर होने लगा, और शारीरिक विकास के
ाथ सभ्यता का संयोग हुआ । इसी के बाद हम मानवीय आत्मा
ो, संसार के अस्थिर व्यापार छोड़कर, अज्ञात रूप से एक नित्य
ात्ता की ओर प्रयाण करते हुए देखते हैं । अदृष्ट जगत् से एकता

स्थापित करके मनुष्य अपने अंतर्गत भावों को निश्चित करने की चेष्टा करने लगा। इसमें संदेह नहीं कि उसके मानसिक भाव पूर्णावस्था को नहीं पहुँच सके थे। उनकी अभिव्यक्ति में विलक्षणता भी थी। परंतु मुख्य बात यह है कि जीवन के प्रारंभ काल में ही मनुष्य एक अतींद्रिय नैतिक जगत् से अपना संबंध स्थापित करने की चेष्टा करने लगा। यह बात उपेक्षणीय नहीं है; क्योंकि मानव-समाज के विकास में इसी धार्मिक भावना का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। यदि जीवन के आदि-काल में इस धार्मिक भावना का उद्गम न होता, तो मनुष्य-समाज किस दशा को पहुँच जाता, इसका अनुमान तक हम नहीं कर सकते। यह सभी को स्वीकार करना पड़ता है कि मानव-समाज के अस्तित्व का मुख्य कारण धर्म है। तभी तो कहा गया है—"धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।"

मानव-जाति के आदि-काल से ही उसके जीवन में ईश्वर का अस्तित्व, अदृष्ट जगत् की विद्यमानता और पाप-पुण्य की धारणा, ये तीनो भाव काम करने लगे थे। इनसे उसके जीवन का अच्छेद्य संबंध है। सभी धर्मों के इतिहास में यही बात पाई जाती है।

अब विचारणीय यह है कि क्या अदृष्ट जगत् की यह भावना सर्वथा निस्सार है। जब मानव-जीवन के प्रारंभ काल से ही मानवीय आत्मा और अदृश्य जगत् में संबंध हो गया है, तब यह कहना कि इसमें सिर्फ़ ज्ञाता ही सत् है और शेष असत्, हमारी समझ में भ्रम है।

अब प्रश्न यह होता है कि ईश्वर प्रत्यक्ष तो है नहीं, फिर एक अप्रत्यक्ष के लिये मनुष्य साधना में क्यों प्रवृत्त होता है? जो अदृष्ट है, जो अनुभव-गम्य नहीं, उसके लिये वह इतना प्रयास क्यों स्वीकार करता है? अदृष्ट जगत् का अस्तित्व मानकर उसके लिये वह क्यों इतना व्याकुल होता है? विद्वानों का कथन है कि ससीम

मनुष्य ने असीम को पाने के लिये जन्म लिया है। अपूर्ण मनुष्य पूर्ण पुरुष में ही जाकर संपूर्णता प्राप्त करता है। अनंत की आकांक्षा स्वाभाविक है। मानवात्मा की स्वाभाविक गति अनंत की ओर है। अनंत की आकांक्षा से ही मनुष्य में धर्म-भाव की उत्पत्ति होती है। मैक्समूलर ने इसी सिद्धांत की पुष्टि में लिखा है कि सभी धर्मों के मूल में अनंत की धारणा विद्यमान है। जिस प्रकार 'ज्ञान' इंद्रिय-ग्राह्य और सीमा-बद्ध पदार्थ के तत्त्वानुसंधान में व्याप्त है, उसी प्रकार 'विश्वास' असीम के अनुसंधान में व्यस्त है। अस्तु।

अनंत की इच्छा मानव-जीवन में पूर्ण रूप से प्रविष्ट हो गई है। दार्शनिकों का कथन है कि ज्ञान, प्रेम और इच्छा, इन्हीं से मनुष्य-जीवन है। इन तीनो की गति किस ओर है? क्या ज्ञान की कभी तृप्ति होती है? प्रतिदिन नए-नए सत्यों का आविष्कार होता जा रहा है, तो भी विद्वान् लोग सत्य के अनुसंधान में संलग्न हैं। बात यह है कि सत्य का यथार्थ स्वरूप अनंत ईश्वर है। इसी से ज्ञान का अंत नहीं है। यही बात प्रेम और इच्छा के विषय में कही जा सकती है। प्रेम और इच्छा की तृप्ति किसी असीम वस्तु से संभव नहीं। यही कारण है कि मनुष्य अनंत ईश्वर पर विश्वास करता चला आ रहा है।

अनंत काल से मनुष्य उसी अलचित जगत् के रहस्यागार को देखने के लिये व्याकुल हो रहा है। वह जानता है, इह-जगत् ही उसका सर्वस्व नहीं है; यहीं उसकी जीवन-यात्रा की समाप्ति नहीं होती। परंतु, उसका गंतव्य स्थान कहाँ है, यह उसे ज्ञात हो या अज्ञात, वह आगे ही बढ़ता जायगा। उसका सारा प्रयास उसी के लिये है। प्राचीन साहित्य की अलौकिक कल्पना में उसी अनंत का आभास पाया जाता है। मध्य-कालीन साहित्य के भक्ति-

याद में उसी का दिग्दर्शन हुआ है । आधुनिक साहित्य में भ उसी की ओर कवियों की प्रवृत्ति है । यही प्रयास उसके साहि में प्रकट होता है । यही उसकी कला में दर्शित होता है । विज्ञा और दर्शन-शास्त्र में उसी की चिंता रहती है । मैत्रेयी की तर मनुष्य की आत्मा यही कहती है—मैं उसे लेकर क्या करूँ, जिस मैं अमृत नहीं हो सकती ? साहित्य का यही चिरंतन भाव है धर्म का यही सनातन भाव है । यहीं साहित्य और धर्म क सम्मिलन होता है ।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि धर्मों में विभिन्नता भी तो है साहित्य में उस विभिन्नता के कारण एक भाव की पुष्टि कैसे ह सकती है ? इसके लिये हमें धर्म का विश्लेषण करना होगा धर्म है क्या ?

प्रकृति के साथ मनुष्य अपना जैसा संबंध स्थापित करता है वही उसका धर्म हो जाता है । संसार में जितने धर्म प्रचलित हैं उन सबका उद्देश एक ही है । वह है विश्व से मनुष्य का संबंध स्थापित करना । मनुष्य को प्रकृति ने चारो ओर से घेर रक्खा है । वह उसी में आवद्ध है । परंतु किसी अति प्राकृत और अतींद्रिय सत्ता पर मनुष्य का विश्वास चिरंतन है । वह जानता है, प्रकृति से भी परे कोई है । वह क्या है, इसे वह अच्छी तरह भले ही न समझ सके, किंतु उसे यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक वह इस प्राकृतिक माया-पाश को काटकर ऊपर नहीं उठेगा, तब तक वह अपना यथार्थ धर्म नहीं देख सकेगा । प्रकृति ही मनुष्य के हृदय में विस्मय का भाव उत्पन्न करती है । उसी के साथ मनुष्य का पहला संबंध होता है । कभी वह प्रकृति को मायाविनी समझकर उससे अपना संबंध छोड़ देना ही श्रेयस्कर समझता है, और कभी वह उसको शक्ति-रूप में देखकर अपने को उससे योग-युक्त करना

चाहता है। परंतु प्रकृति चाहे शक्ति हो या माया, उसी के भीतर हमारी यात्रा होती है। यदि वह बंधन है, तो भी विना उस बंधन को स्वीकार किए मुक्ति का उपाय नहीं है। प्रकृति से हमारा दृढ़ संबंध है। अब विचारणीय यह है कि संसार के भिन्न-भिन्न धर्मों ने इस संबंध को किस रूप से स्वीकार किया है ?

प्रकृति के साथ हमारा पहला संबंध व्यावहारिक होता है। पृथ्वी पर अवतीर्ण होते ही मनुष्य को प्रकृति से व्यवहार करना पड़ता है। कभी एक ऐसा समय था, जब मनुष्य प्रकृति के ही आश्रित था। परंतु अब सर्वत्र मनुष्य की गति है। प्रकृति से व्यावहारिक संबंध स्थापित करने में मनुष्य ने सबसे पहले यह शिक्षा ग्रहण की कि हमें अपने जीवन की रक्षा के लिये संग्राम करना पड़ेगा। जो संग्रामशील हैं, जिनकी गति अप्रतिहत है, वही प्रकृति से व्यावहारिक संबंध रख सकते हैं। जिसमें यह शक्ति नहीं, उन्हें प्रकृति स्वयं नष्ट कर देती है। इसी संबंध से मनुष्य की कार्य-कारिणी शक्ति उद्बोधित हुई, और इसी से मनुष्य प्रकृति-पूजा की ओर आकृष्ट हुआ। प्रकृति की इंद्र, चंद्र, वायु, वरुण आदि प्रचंड शक्तियों के आगे मनुष्य की शक्ति अत्यंत क्षुद्र प्रतीत होती थी। अतएव उनके प्रति मनुष्य के हृदय में विस्मय और आतंक का होना स्वाभाविक था। इसी से उनको अपने अनुकूल करने के लिये मनुष्य उनकी पूजा करने लगा। जब उसे यह जान पड़ा कि प्रकृति की ये शक्तियाँ उसके अनुकूल हैं, तब उसके हृदय में भक्ति और आनंद का प्रादुर्भाव हुआ। ये ही तीन भाव—विस्मय, भक्ति और आनंद—मनुष्य की समस्त धार्मिक भावनाओं के मूल कारण हैं। इन भावों को मनुष्य ने अपनी सभ्यता के प्रथम स्तर में ही प्राप्त कर लिया।

प्रकृति से व्यावहारिक संबंध स्थापित होते ही पहलेपहल यही

जान पड़ता है कि प्रकृति हमारे विरुद्ध है । प्रकृति में व्यक्तित्व का कोई स्थान नहीं है । उसका जो एक उद्देश है, उसी की पूर्ति के लिये प्रत्येक वस्तु है । वह असंख्य का विनाश कर अपने इस उद्देश को पूर्ण करती है । परंतु जब प्रकृति से अधिक परिचय हो जाता है, जब हम उसका अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, तब हम यह जान जाते हैं कि प्रकृति के इस संग्राम में प्रतियोगिता नहीं, सहयोगिता है । प्रकृति केवल सामंजस्य और समन्वय स्थापित करने में व्यस्त है। व्यक्तित्व की पूर्णता तभी होती है, जब व्यक्तित्व विश्व के मंगल से विलुप्त हो जाता है। प्रवृत्ति के त्याग, इच्छा के विसर्जन और अहंकार के नाश से व्यक्तित्व का लोप होता है । जब हम प्रकृति के इस वृहद् उद्देश से अवगत हो जाते हैं, तब उसे अपनी सहचरी समझने लगते हैं। तब हमसे उसका जो संबंध स्थापित होता है, वह साहचर्य का होता है । इस साहचर्य में मनुष्य केवल आनंद देखता है। अनंत आकाश-मंडल, उत्तुंग पर्वत-राशि, शस्य-श्यामला पृथ्वी और असीम समुद्र को देखकर वह विस्मय से अवश्य अभिभूत होता है। परंतु यह विस्मय ही तो प्रेम है। जितना ही प्रकृति से उसका संबंध घनिष्ठ होता है, उतना ही अधिक उसका विस्मय बढ़ता है। आकाश मंडल के नक्षत्र, लोकों का रहस्य, पृथ्वी का चिरनवीन सौंदर्य, समुद्र का अक्षय भांडार—सभी को वह देखता और उनमें एक ही नियम की विद्यमानता पाता है। जहाँ जीवन है, वहाँ गति है, और वहीं वैचित्र्य की अपरिमित लीला भी। जहाँ मृत्यु है, वहाँ स्थिति है, और वहीं एकता का रहस्यमय दृश्य भी। सब एक दूसरे से आबद्ध हैं । समुद्र से मेघ जल लेता है, और मेघ से पृथ्वी जल पाती है। अनंत आकाश और पृथ्वी, दोनों को एक ही सूत्र में किसी ने बाँध दिया है । मनुष्य अपने को

'मैं' कहता है, और प्रकृति को कहता है कि यह मैं नहीं हूँ। किंतु मनुष्य और प्रकृति, दोनो एक के ही दो भाग हैं।

प्रकृति से तीसरा संबंध जब स्थापित होता है, तब प्रकृति ज्ञेय होती है, और मनुष्य ज्ञाता। व्यवहार से परिचय होता है, और मनुष्य की कर्म-शक्ति विकसित होती है। इसी से नैतिक धर्म का उद्भव होता है। भाव के आनंद में संग्राम की कठिनता दूर होती है, और मनुष्य का भोग पूर्ण होता है। इसी से प्रेममय धर्म की उत्पत्ति होती है। सबके अंत में ज्ञान है। जब तक सत्य का ज्ञान नहीं होता, तब तक नीति और प्रेम में अपूर्णता ही रहती है। यही कारण है कि धर्म में कर्म, भक्ति और ज्ञान, इन तीनो का सम्मिलन होता है।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी देशों में मनुष्यों की धार्मिक भावनाओं के कारण भिन्न-भिन्न नहीं हैं। फिर मनुष्यों की धार्मिक साधनाओं में इतनी भिन्नता क्यों है? संस्कृत के एक कवि ने तो इसका कारण रुचि-वैचित्र्य बतलाया है—"रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम् × × ×" किंतु यदि रुचि-वैचित्र्य ही धर्मों की भिन्नता का कारण मान लिया जाय, तो इसकी भी मीमांसा करनी होगी कि मनुष्य वैचित्र्य की ओर क्यों झुकता है? जिन महात्माओं ने धर्म का प्रचार किया है, उन्होंने सदैव मनुष्य-जाति की एकता पर ज़ोर दिया है। उन्होंने भिन्नता को दूर कर एकता ही स्थापित करने की चेष्टा की है। परंतु उनके प्रयास का परिणाम विपरीत ही हुआ है। बौद्ध-धर्म के अनुयायियों ने बौद्ध-धर्म के कई भेद कर डाले। महात्मा ईसामसीह के धर्म की कितनी ही शाखाएँ हो गई हैं। मुसलमान-धर्म में भी भेद हो गया है। हिंदू-धर्म तो अनेक संप्रदायों में विभक्त हो ही गया है। इसका कारण क्या है? मनुष्य की साधना का लक्ष्य एक होने

पर भी उसके मार्ग भिन्न-भिन्न क्यों है ? यहाँ हम भिन्न-भिन्न विद्वानों के कथनानुसार साधना का रहस्य बतलाने की चेष्टा करेंगे।

संसार में जितने भिन्न-भिन्न धार्मिक संप्रदाय प्रचलित हैं, उनके मूल में ऐसा कोई भी भाव नहीं वर्तमान है, जो मानव-जाति की एकता का बाधक तो है, परंतु जब किसी धार्मिक संप्रदाय में कठोरता आती है, तब वह मनुष्यों को मिला नहीं सकता, किंतु उनको पृथक् कर देता है। इसी कारण जब कोई संप्रदाय कृच्छ्र-साधन को ही अपने धर्म का प्रधान अंग स्वीकार कर लेता या आचार-विचार को ही मुख्य स्थान देता है, तब वह मनुष्यों में भेद कर डालता है। तब संप्रदाय अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये नियम बनाता और उन्हीं नियमों के पालन में सदा सावधान रहता है। उसके अनुयायी सदैव बच-बचकर चलते हैं, जिससे कभी नियम-भंग न हो जाय। नियम-पालन को ही धर्म मानने से कुछ ऐसा संस्कार हो जाता है कि जहाँ वह उन नियमों का अस्तित्व नहीं देखता, वहाँ उसके हृदय में तिरस्कार का भाव अवश्य उत्पन्न हो जाता है। यही कारण है कि यहूदी-जाति अपने धर्म-नियमों के जाल में स्वयं फँस गई। धर्म के क्षेत्र में समस्त मानव-जातियों को एकत्र करना और उनमें मेल रखना उसके लिये असंभव है। वर्तमान हिंदू-समाज ने भी धर्म ही के द्वारा अपने को समस्त मानव-जातियों से पृथक् कर लिया है। जब कभी किसी देश में कोई धार्मिक आंदोलन हुआ है, तब धर्म ने अपनी रस-मूर्ति को ही प्रकट करने की चेष्टा की है। उसने सभी कठोर बंधनों को तोड़कर मनुष्य-जातियों को एक करने का प्रयत्न किया है। भगवान् ईसामसीह ने प्रेम और भक्ति का जो प्रवाह बहा दिया था, वह यहूदी-धर्म के कठिन शास्त्र-बंधन में

अवरुद्ध नहीं हुआ। वह स्रोत अभी तक जातियों की स्वार्थ-शृंखला को तोड़कर मनुष्य को मनुष्य से मिलाने की चेष्टा कर रहा है। भगवान् बुद्ध की विश्व-मैत्री और करुणा ने समस्त एशिया को एक कर दिया था। नानक, कबीर, चैतन्य, इन सभी साधकों ने रस के प्रवाह से मनुष्य के कृत्रिम प्राचीरों को ढककर मनुष्यत्व का एकत्व स्थापित किया था।

धर्म की पर्यालोचना करने से यही विदित होता है कि सभी देशों में धर्म के प्रचारकों ने एक सत्य धर्म का आविष्कार कर उसके प्रचार के लिये आत्मोत्सर्ग किया है। तो भी धर्म में भेद-हीन एकता कभी स्थापित नहीं हुई। सभी धर्मों का संबंध किसी-न-किसी देश और काल से है। देश और काल से पृथक् कर देने पर धर्म निष्प्राण हो जाता है। बात यह है कि धर्म केवल तत्त्वों की समष्टि नहीं है। यदि सत्य का रहस्योद्‌घाटन ही धर्म का एक-मात्र उद्देश होता, तो केवल ज्ञान-चर्चा में ही धर्म का स्वरूप उपलब्ध करना संभव हो जाता। परंतु धर्म की आवश्यकता सत्य की प्रतिष्ठा की अपेक्षा जीवन के संगठन में है। यदि हम धर्म से अनुष्ठान को पृथक् कर दें, तो धर्म में जो कुछ अवशिष्ट रहेगा, वह विज्ञान हो सकता है, दर्शन हो सकता है; पर धर्म नहीं हो सकता। ईश्वरीय ज्ञान देकर ही धर्म निश्चेष्ट नहीं रह सकता। उसका प्रधान कार्य है ईश्वर-प्राप्ति की चेष्टा। इसी उद्देश के साधन के लिये पूजा, उपासना आदि जातीय अनुष्ठानों की सृष्टि होती है। प्रत्येक जाति अपनी-अपनी श्रेष्ठ संपत्ति लेकर ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करना चाहती है। मंदिरों के निर्माण में हिंदू अपनी समस्त शक्ति लगाकर उसी ईश्वर के विशाल ऐश्वर्य को देखना चाहता है, जिसके लिये मुसलमान मसजिदों में और ईसाई गिरजाघरों में प्रवेश करते हैं। इन सभी

का उद्देश एक है। वह है ईश्वर से मानवात्मा का संयोग। किंतु सामाजिक और व्यक्तिगत संस्कारों के कारण एक ही उद्देश की पूर्ति के लिये भिन्न भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न अनुष्ठान स्वीकृत हुए हैं। जो धर्म-तत्त्व अनुष्ठान और समाज से पृथक् है, वह मानव जीवन पर स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकता। हमारी समस्त सत्ता को जाग्रत् करके जो हमारे समस्त जीवन को तृप्त कर सकता है, वही धर्म है। धर्म के तत्त्व-मात्र से हमें तृप्ति नहीं हो सकती। विज्ञान अथवा दर्शन के द्वारा हम ईश्वर अथवा सत्य के स्वरूप को जान सकते हैं, और उससे बुद्धि की तृप्ति हो सकती है; किंतु हमारे जीवन को संतोष नहीं हो सकता। यही कारण है कि सांख्य अथवा वेदांत, दोनो धर्म का स्थान नहीं ले सके। ईश्वर को जानकर उससे संबंध स्थापित करने की इच्छा होना स्वाभाविक है। हम अपने कर्म-जीवन में ईश्वर को प्राप्त करने के लिये उत्सुक रहते हैं। प्रेम, भक्ति या कर्म को छोड़कर और किसी से मनुष्य की तृष्णा नहीं बुझती। धार्मिक मनुष्य की स्वभावतः यह इच्छा होती है कि वह अपने समस्त जीवन में ईश्वर की इच्छा को पूर्ण और समस्त विश्व में उसका राज्य स्थापित करे। वह भगवान् की सेवा के लिये उत्सुक होता है। वह अपने सुख-दुःख को अपने ही भीतर छिपाकर नहीं रखना चाहता। आनंद में वह ईश्वर को अपने उस आनंद का साक्षी बनाना चाहता है। दुःख में वह उसी के पास जाकर अपनी विपत्ति की कथा सुनाना चाहता है। जीवन में वह जो कुछ कर्म करता है, उन सभी में भगवान् का सामीप्य चाहता है। वह भावोन्माद है। ज्ञान से इसका लोप हो सकता है। यह उन्माद मनुष्य को मोहावस्था में डाल देता है। परंतु इस मोहावस्था को वह दृढ़ता से बनाए रखना चाहता है, क्योंकि तभी उसके लिये ईश्वर अगम्य और अतर्क्य

नहीं रहता। वह कभी ईश्वर को स्वामी कहता, कभी पिता मानता और कभी मित्र समझता है । धर्म में यही भाव रहने के कारण सर्वसाधारण उसे उत्कंठा के साथ ग्रहण करते हैं। साहित्य और कला में धर्म का यही भाव व्यक्त किया जाता है ।

मानव-जाति का इतिहास इसका प्रमाण है कि कभी किसी भी जाति ने वस्तु-निरपेक्ष-भाव ग्रहण करने के लिये आग्रह नहीं किया । सत्य कोई वस्तु-निरपेक्ष पदार्थ है, जो देश और काल से अतीत है—इस भाव को किसी ने भी अपने जीवन में स्थान नहीं दिया। सत्य की उपलब्धि उन्होंने अपने जीवन में ही करनी चाही है । इससे सत्य संकीर्ण नहीं होता, बल्कि प्रत्यक्ष हो जाता है । ईश्वर को सगुण बनाकर कोई भी उपासक उसे सीमाबद्ध करना नहीं चाहता; बल्कि उसको अपने लिये प्रत्यक्ष करना चाहता है । यही उसकी साधना है । यही उसकी उपासना है ।

हमारी धर्म-साधना की गति दो ओर है, शक्ति की ओर और रस की ओर । शक्ति की ओर होने से साधना का परिणाम है दृढ़ विश्वास । यह विश्वास ज्ञान की सामग्री नहीं है। ईश्वर के अस्तित्व पर हमारा जो विश्वास है, वह अचल है । जिनका ऐसा अचल विश्वास है, वे किसी भी अवस्था में अपने को निराश्रय अथवा निस्सहाय नहीं समझते । यह विश्वास उनके लिये एक निश्चित आधार है। उसमें एक दृढ़ शक्ति है। जिनमें यह विश्वास का बल नहीं है, उनका कोई अवलंब नहीं है ! जो उनके हाथ आता है, उसी को वे पकड़ने की चेष्टा करते हैं, और जब वह उनके हाथ से निकल जाता है, तब उनको उसके खोजने से भी सांत्वना नहीं मिलती । जिन धर्मों में इस प्रकार का दृ विश्वास है, उनके अनुयायियों में शक्ति रहती है ; किंतु उद्वेग नह

का उद्देश एक है। वह है ईश्वर से मानवात्मा का संयोग। किंतु सामाजिक और व्यक्तिगत संस्कारों के कारण एक ही उद्देश की पूर्ति के लिये भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न अनुष्ठान स्वीकृत हुए हैं। जो धर्म-तत्त्व अनुष्ठान और समाज से पृथक् है, वह मानव-जीवन पर स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकता। हमारी समस्त सत्ता को जाग्रत् करके जो हमारे समस्त जीवन को तृप्त कर सकता है, वही धर्म है। धर्म के तत्त्व-मात्र से हमें तृप्ति नहीं हो सकती। विज्ञान अथवा दर्शन के द्वारा हम ईश्वर अथवा सत्य के स्वरूप को जान सकते हैं, और उससे बुद्धि की तृप्ति हो सकती है; किंतु हमारे जीवन को संतोष नहीं हो सकता। यही कारण है कि सांख्य अथवा वेदांत, दोनो धर्म का स्थान नहीं ले सके। ईश्वर को जानकर उससे संबंध स्थापित करने की इच्छा होना स्वाभाविक है। हम अपने कर्म-जीवन में ईश्वर को प्राप्त करने के लिये उत्सुक रहते हैं। प्रेम, भक्ति या कर्म को छोड़कर और किसी से मनुष्य की तृष्णा नहीं बुझती। धार्मिक मनुष्य की स्वभावतः यह इच्छा होती है कि वह अपने समस्त जीवन में ईश्वर की इच्छा को पूर्ण और समस्त विश्व में उसका राज्य स्थापित करे। वह भगवान् की सेवा के लिये उत्सुक होता है। वह अपने सुख-दुःख को अपने ही भीतर छिपाकर नहीं रखना चाहता। आनंद में वह ईश्वर को अपने उस आनंद का साक्षी बनाना चाहता है। दुःख में वह उसी के पास जाकर अपनी विपत्ति की कथा सुनाना चाहता है। जीवन में वह जो कुछ कर्म करता है, उन सभी में भगवान् का सामीप्य चाहता है। वह भावोन्माद है। ज्ञान से इसका लोप हो सकता है। यह उन्माद मनुष्य को मोहावस्था में डाल देता है। परंतु इस मोहावस्था को वह दृढ़ता से बनाए रखना चाहता है; क्योंकि तभी उसके लिये ईश्वर अगम्य और अतर्क्य

नहीं रहता। वह कभी ईश्वर को स्वामी कहता, कभी पिता मानता और कभी मित्र समझता है। धर्म में यही भाव रहने के कारण सर्वसाधारण उसे उत्कंठा के साथ ग्रहण करते हैं। साहित्य और कला में धर्म का यही भाव व्यक्त किया जाता है।

मानव-जाति का इतिहास इसका प्रमाण है कि कभी किसी भी जाति ने वस्तु-निरपेक्ष-भाव ग्रहण करने के लिये आग्रह नहीं किया। सत्य कोई वस्तु-निरपेक्ष पदार्थ है, जो देश और काल से अतीत है—इस भाव को किसी ने भी अपने जीवन में स्थान नहीं दिया। सत्य की उपलब्धि उन्होंने अपने जीवन में ही करनी चाही है। इससे सत्य संकीर्ण नहीं होता, बल्कि प्रत्यक्ष हो जाता है। ईश्वर को सगुण बनाकर कोई भी उपासक उसे सीमाबद्ध करना नहीं चाहता; बल्कि उसको अपने लिये प्रत्यक्ष करना चाहता है। यही उसकी साधना है। यही उसकी उपासना है।

हमारी धर्म-साधना की गति दो ओर है, शक्ति की ओर और रस की ओर। शक्ति की ओर होने से साधना का परिणाम है दृढ़ विश्वास। यह विश्वास ज्ञान की सामग्री नहीं है। ईश्वर के अस्तित्व पर हमारा जो विश्वास है, वह अचल है। जिनका ऐसा अचल विश्वास है, वे किसी भी अवस्था में अपने को निराश्रय अथवा निस्सहाय नहीं समझते। यह विश्वास उनके लिये एक निश्चित आधार है। उसमें एक दृढ़ शक्ति है। जिनमें यह विश्वास का बल नहीं है, उनका कोई अवलंब नहीं है। जो उनके हाथ आता है, उसी को वे पकड़ने की चेष्टा करते हैं, और जब वह उनके हाथ से निकल जाता है, तब उनको उसके खोजने से सांत्वना नहीं मिलती। जिन धर्मों में इस प्रकार का विश्वास है, उनके अनुयायियों में शक्ति रहती है; किंतु उद्वेग न

का उद्देश एक है। वह है ईश्वर से मानवात्मा का संयोग। किंतु सामाजिक और व्यक्तिगत संस्कारों के कारण एक ही उद्देश की पूर्ति के लिये भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न अनुष्ठान स्वीकृत हुए हैं। जो धर्म-तत्त्व अनुष्ठान और समाज से पृथक् है, वह मानव-जीवन पर स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकता। हमारी समस्त सत्ता को जाग्रत् करके जो हमारे समस्त जीवन को तृप्त कर सकता है, वही धर्म है। धर्म के तत्त्व-मात्र से हमें तृप्ति नहीं हो सकती। विज्ञान अथवा दर्शन के द्वारा हम ईश्वर अथवा सत्य के स्वरूप को जान सकते हैं, और उससे बुद्धि की तृप्ति हो सकती है; किंतु हमारे जीवन को संतोष नहीं हो सकता। यही कारण है कि सांख्य अथवा वेदांत, दोनो धर्म का स्थान नहीं ले सके। ईश्वर को जानकर उससे संबंध स्थापित करने की इच्छा होना स्वाभाविक है। हम अपने कर्म-जीवन में ईश्वर को प्राप्त करने के लिये उत्सुक रहते हैं। प्रेम, भक्ति या कर्म को छोड़कर और किसी से मनुष्य की तृष्णा नहीं बुझती। धार्मिक मनुष्य की स्वभावतः यह इच्छा होती है कि वह अपने समस्त जीवन में ईश्वर की इच्छा को पूर्ण और समस्त विश्व में उसका राज्य स्थापित करे। वह भगवान् की सेवा के लिये उत्सुक होता है। वह अपने सुख-दुःख को अपने ही भीतर छिपाकर नहीं रखना चाहता। आनंद में वह ईश्वर को अपने उस आनंद का साक्षी बनाना चाहता है। दुःख में वह उसी के पास आकर अपनी विपत्ति की कथा सुनाना चाहता है। जीवन में वह जो कुछ कर्म करता है, उन सभी में भगवान् का सामीप्य चाहता है। वह आत्मोन्माद है। ज्ञान से इसका लोप हो सकता है। यह उन्माद मनुष्य को मोहावस्था में डाल देता है। परंतु इस मोहावस्था को वह दृढ़ता से बनाए रखना चाहता है, क्योंकि तभी उसके लिये ईश्वर अगम्य और अतर्क्य

नहीं रहता । वह कभी ईश्वर को स्वामी कहता, कभी पिता मानता और कभी मित्र समझता है । धर्म में यही भाव रहने के कारण सर्वसाधारण उसे उत्कंठा के साथ ग्रहण करते हैं । साहित्य और कला में धर्म का यही भाव व्यक्त किया जाता है ।

मानव-जाति का इतिहास इसका प्रमाण है कि कभी किसी भी जाति ने वस्तु-निरपेक्ष-भाव ग्रहण करने के लिये आग्रह नहीं किया । सत्य कोई वस्तु-निरपेक्ष पदार्थ है, जो देश और काल से अतीत है— इस भाव को किसी ने भी अपने जीवन में स्थान नहीं दिया । सत्य की उपलब्धि उन्होंने अपने जीवन में ही करनी चाही है । इससे सत्य संकीर्ण नहीं होता, बल्कि प्रत्यक्ष हो जाता है । ईश्वर को सगुण बनाकर कोई भी उपासक उसे सीमाबद्ध करना नहीं चाहता; बल्कि उसको अपने लिये प्रत्यक्ष करना चाहता है । यही उसकी साधना है । यही उसकी उपासना है ।

हमारी धर्म-साधना की गति दो ओर है, शक्ति की ओर और रस की ओर । शक्ति की ओर होने से साधना का परिणाम है दृढ़ विश्वास । यह विश्वास ज्ञान की सामग्री नहीं है । ईश्वर के अस्तित्व पर हमारा जो विश्वास है, वह अचल है । जिनका ऐसा अचल विश्वास है, वे किसी भी अवस्था में अपने को निराश्रय अथवा निस्सहाय नहीं समझते । यह विश्वास उनके लिये एक निश्चित आधार है । उसमें एक दृढ़ शक्ति है । जिनमें यह विश्वास का बल नहीं है, उनका कोई अवलंब नहीं है ! जो उनके हाथ आता है, उसी को वे पकड़ने की चेष्टा करते हैं, और जब वह उनके हाथ से निकल जाता है, तब उनको उसके खोजने से भी सांत्वना नहीं मिलती । जिन धर्मों में इस प्रकार का दृढ़ विश्वास है, उनके अनुयायियों में शक्ति रहती है ; किंतु उद्वेग नहीं

रहता। उनको यह दृढ़ निश्चय रहता है कि जीवन यात्रा का एक गतव्य स्थान है, जहाँ उनकी यात्रा की समाप्ति है। यदि उनको अपने कर्मों का प्रत्यक्ष फल नहीं मिलता, तो भी वे जानते हैं कि वे कर्म फल से वचित नहीं होगे। विपरीत फल पाने पर भी वे उसके वैपरीत्य पर ध्यान नहीं देते। वे अपने इस विश्वास पर अटल रहते हैं कि कोई ऐसा भी स्थान है, जहाँ पूर्ण सत्य को उपलब्ध कर लेंगे, जीवन में हेर फेर होता रहे, किंतु इस सत्य से कोई भी हमें वचित नहीं कर सकता। जिसमें यह शक्ति, यह अदम्य विश्वास रहता है, वही दृढ़ विश्वासी है। वह उसी सत्य में विश्राम लेता और उसी सत्य पर निर्भर होकर काम करता है।

यह सच है कि ईश्वर सत्य रूप से सबको धारण करता, सबको आश्रय देता है। परतु सच होने पर भी यही पूर्ण सत्य नहीं है। पृथ्वी ख़ूब दृढ़ है। यदि उसमें यह कठिन दृढ़ता न रहती, तो हम निस्सकोच होकर उसका आश्रय नहीं ले सकते थे। परतु यदि यही कठिनता पृथ्वी का एक मात्र चरम रूप होता, तो वह एक पाषाणमयी भयंकर मरु भूमि हो जाती। इस कठिनता और दृढ़ता के ऊपर रस का विकास होता है। वही उसकी चरम परिणति है। वह कोमल है, सुदर और विचित्र है। यही लीला है, ज्ञान है, चिरनवीनता है। वहीं पृथ्वी का सार्थक रूप प्रकट होता है। मतलब यह कि नित्य स्थिति के ऊपर एक नित्य गति की लीला न रहने से उसकी सपूर्णता नहीं रहती। पृथ्वी की कठोर पाषाणमयी भित्ति के सर्वोच्च स्थान पर उसी गति का प्रवाह है। वह प्राण का प्रवाह है, सौंदर्य का प्रवाह है। उसकी चचलता का अत नहीं है। रस सदैव सफल होता है। इसी से वह वैचित्र्य में हिलोरें लेता है। इसी में वह अपनी अपूर्वता प्रकट करता है,

इसी से उसकी नवीनता का अंत नहीं है। जब धर्म और साधना में यह रस सूख जाता है, तब उसमें फिर एक अटल कठोरता आ जाती है। उसमें प्राण का आवेग और जीवन का सौंदर्य नहीं रह जाता। उसका स्थान जरा और मृत्यु ले लेती है। जहाँ साधना का उत्कर्ष है, वहाँ गति निर्बाध होगी, भाव वैचित्र्य-पूर्ण होगा, और माधुर्य का नित्य विकास होगा।

एक बार किसी ने महात्मा कबीर से प्रश्न किया -- ब्रह्म अरूप है या सरूप, वह एक है या अनेक? कबीर ने उत्तर दिया— उसको केवल अरूप कहना मिथ्या है, और उसको किसी विशेष रूप में समझना भी मिथ्या है। वह सभी रूपों में है। वह है, इसी से तो यह रूप है। यदि वह न रहे, तो परमाणु की भी स्थिति असंभव है। वह सर्वरूप है, अतएव किसी विशेष रूप में आबद्ध नहीं है। वह रूपों की समष्टि भी नहीं है। इस दृष्टि से वह अरूप भी है। इस प्रकार उसको अरूप अथवा सरूप समझना भ्रम है। वह सब बंधनों के अतीत है। फिर रूप या अरूप का बंधन कैसे संभव है? इसी प्रकार संख्या का भी बंधन है। वह न एक है और न अनेक। वह तो संख्या से अतीत है। अतएव एक-एक देश में उसका एक-एक रूप है। नारायण के रूप में वैचित्र्य का अंत नहीं है। भिन्न-भिन्न साधक अपनी भिन्न-भिन्न साधनाओं में नारायण के भिन्न-भिन्न रूप और रस को प्राप्त करते हैं। वैचित्र्य ही प्रत्येक साधक को अमृत का दान करता है। यही बात रैदास ने भी कही है। उनका कथन है कि वैचित्र्य ही साधना का अमृत है। साधक का अमृत भी वैचित्र्य-पूर्ण है। उनके तीर्थों में वैचित्र्य है; क्योंकि जो स्वामी हैं, वे वैचित्र्य के ही अमृत में अवगाहन करते हैं। साहित्य में यह धर्म-वैचित्र्य उसके सार्वभौमिक आदर्श का बाधक नहीं है। इससे उसकी पुष्टि ही होती है। जो लोग इसी वैचित्र्य

को विरोध समझकर पारस्परिक विद्वेष में पड़े रहते हैं, वे धर्म के पथ से बहुत दूर हैं। साहित्य में विरोध के लिये स्थान नहीं है—सर्वत्र सम्मिलन का ही भाव विद्यमान है। हमारा विश्वास है कि यदि कभी संसार में वसुधैव कुटुम्बकम् के मूल मंत्र का प्रचार होगा, तो साहित्य के ही द्वारा होगा। एवमस्तु।